नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि

भाग

3

आगम - ४०

"आवश्यक" निर्युक्तिः एवं वृत्तिः [१]

मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर सूरीश्वरजी महाराज साहेब

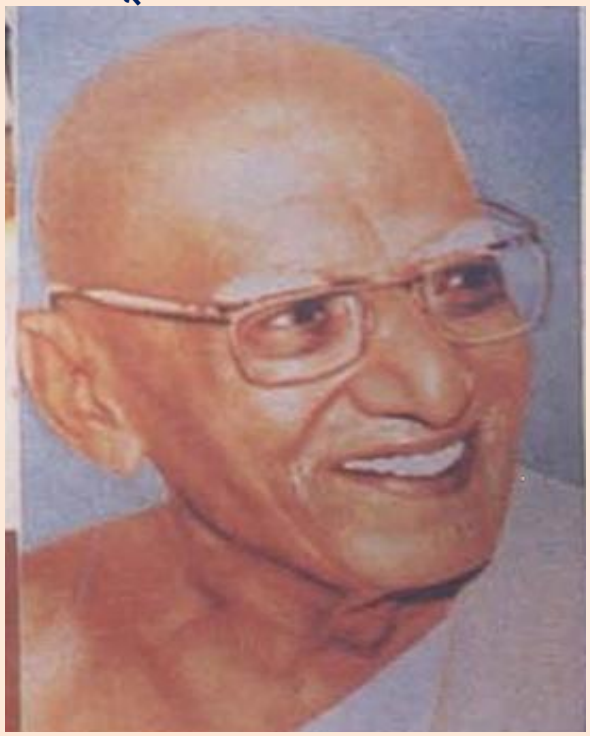

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब पचास साल पहेले <u>परम पूज्य स्वर्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब</u> द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू-भगवंत एवं साध्वी-महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि

मूल संशोधक

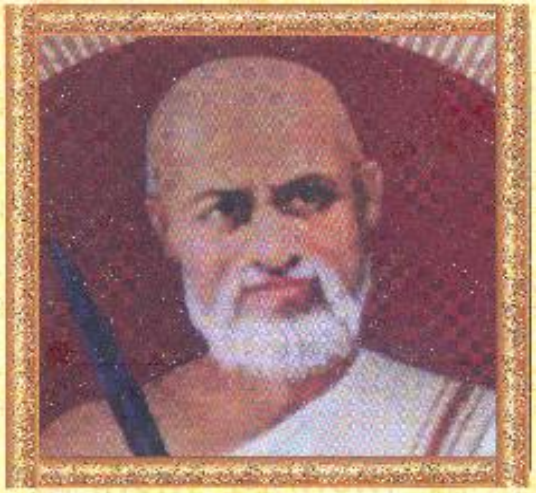

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

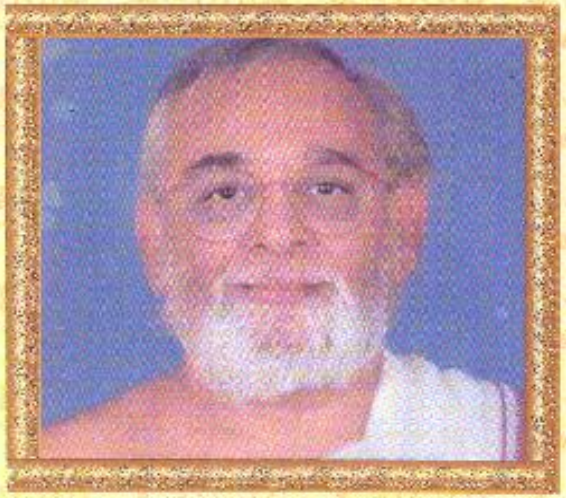

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

सवृत्तिक
भाग-3

[४०/१] श्री आवश्यक [मूल]सूत्रम्

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरुभ्यो नमः

"आवश्यक" निर्युक्तिः एवं वृत्तिः

निर्युक्तिः १ से १३४

[भद्रबाहुसूरि सूत्रिता निर्युक्तिः एवं मलयगिरिसूरि रचिता वृत्तिः]

[आद्य संपादकः - पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰]

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुनः संकलनकर्ता→ **मुनि दीपरत्नसागर** (M.Com., M.Ed., Ph.D.)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि-२-श्रेणी भाग-3

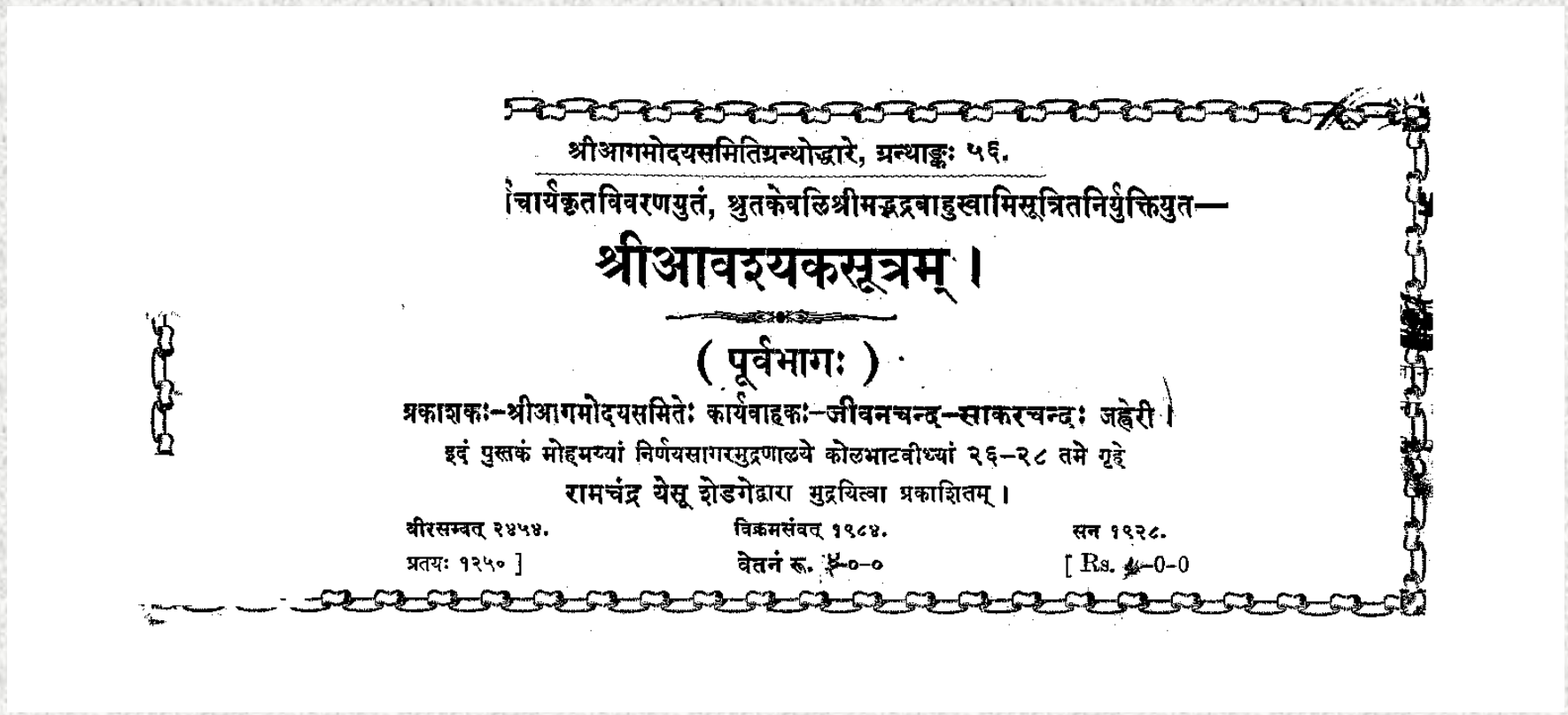

श्रीआगमोदयसमितिग्रन्थोद्धारे, ग्रन्थाङ्कः ५६.

चार्यकृतविवरणयुतं, श्रुतकेवलिश्रीमद्भद्रबाहुस्वामिसूत्रितनिर्युक्तियुत—

श्रीआवश्यकसूत्रम् ।

(पूर्वभागः)

प्रकाशकः–श्रीआगमोदयसमितेः कार्यवाहकः–जीवनचन्द्र–साकरचन्द्रः जव्हेरी ।

इदं पुस्तकं मोहमय्यां निर्णयसागरमुद्रणालये कोलभाटवीथ्यां २६–२८ तमे गृहे

रामचंद्र येसू शेडगेद्वारा मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

वीरसम्वत् २४५४.	विक्रमसंवत् १९८४.	सन १९२८.
प्रतयः १२५०]	वेतनं रू. ४–०–०	[Rs. 4–0–0

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अव चूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ७०० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... ***.....मुनि दीपरत्नसागर...***

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण* " इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |

*** मुनि दीपरत्नसागर...

अनुदान दाता संस्था:- "श्री परम-आनंद श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ"

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठककर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब ५० साल पहेले <u>परम पूज्य स्व. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब</u> द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेंद्रसागरसूरीजी म०सा० ही है | इस संघमें पूज्य साधू भगवंत एवं साध्वीजीओ का उपाश्रय भी है जहा हर-साल चातुर्मास करवाके श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

**** मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" श्रेणि भाग १ से ८ के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये " सवृत्तिक-आगम-सुत्राणि-2" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई , उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे | समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रेज]पूना, शंखेश्वर, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

[आवश्यक- निर्युक्ति: एवं वृत्ति:] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

श्री भद्रभाहुस्वामिजी की निर्युक्ति पर मलयगिरिसूरिजी रचिता वृत्ति की प्रत सबसे पहले "श्री आवश्यकसूत्र" के नामसे सन १९२८ (विक्रम संवत १९८४) में आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित हुई , इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब | पूज्यपाद श्री हरिभद्रसूरिजीने भी आवश्यक-सूत्र पर एक विशाल वृत्ति की रचना कि है , जो हमारी "आगम सुत्ताणि सटीकं" एवं "सवृत्तिक आगम सूत्राणि" मे मुद्रित हुइ है |

✣ हमारा ये प्रयास क्यों? ✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई , उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया , जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी , ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम , फिर अध्ययन-निर्युक्ति-भाष्य-मूलसूत्र- आदि के नंबर लिख दिए , ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, निर्युक्ति, भाष्य, सूत्र-आदि चल रहे है उसका सरलता से ज्ञान हो शके, बायीं तरफ आगम का क्रम दिया है, उसके साथ इसी प्रत का सूत्रक्रम और 'दीप अनुक्रम' देने की हमारी पद्धत्ति है मगर यहां तो मुख्य-तौर पे निर्युक्ति और भाष्य पर हि मलयगिरिजी रचिता वृत्ति है क्यों की ये वृत्ति सिर्फ़ १- अध्ययन तक ही प्राप्त हो रही है इसिलिए बायी तरफ़ सूत्रांक और दीप-अनुक्रमवाले विभाग कि कोइ उपयोगिता नहि रही|

यहां मूल संपादक कि बनायी हुइ एक अनुक्रमणिका भी पायी गई है , जो की तिनो [चारो] विभागो की एक साथ हि है , जिसमे निर्युक्ति, भाष्य आदि के क्रम , (प्रत के) पृष्ठांक सहित लिख दिये है , जिससे अभ्यासक व्यक्ति अपने चहिते निर्युक्ति एवं भाष्य तक आसानी से पहुँच शकता है | अनेक पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट भी लिखी है , जिसमे उस पृष्ठ पर चल रहे ख़ास विषयवस्तु की , मूल प्रतमें रही हुई कोई-कोई मुद्रण-भूल की या क्रमांकन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है |

✣ शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणासे और श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि_2" भाग-३ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.... मुनि दीपरत्नसागर.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आवश्यकस्य मलयगिरीयाया वृत्तेर्भागत्रयस्य विषयानुक्रमः ।

विषयः	पत्राङ्कः
प्रयोजनाद्युपन्याससाफल्यम्–(वचनप्रामाण्यम्) ...	१
मङ्गलचर्चा, नामादिलक्षणानि, द्रव्यमङ्गले नयचर्चा, मङ्गलोपयोगे मङ्गलता, नामादीनां भिन्नता, नामाद्येकान्तनिरासः ।	२
द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकविचारः । (मल्लवादिसिद्धसेनमते) ।	१२
नन्दिनिक्षेपाः ।	१२
ज्ञानपञ्चकस्वरूपं (गा. १) प्रत्यक्षपरोक्षविभागः, आत्मनो ज्ञातृत्वं, इन्द्रियाणां करणत्वेऽपि व्यवधायकता, केवले शेषज्ञानाभावसिद्धिः ।	१३
ज्ञानपञ्चकपार्थक्यसिद्धिः ।	१७
ज्ञानपञ्चककक्रमसिद्धिः, एकेन्द्रिये श्रुतसिद्धिः, लक्षणादिभेदैर्मतिश्रुतयोर्भेदः ।	२०
अवग्रहादयो मतिभेदाः (गा. २) । (संशयादीहाया भेदः)	२२
अवग्रहादीनां स्वरूपम् । (गा. ३) व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानं, चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारिता ।	२३
अवग्रहादीनां कालमानम् । (गा. ४) ।	२४
शब्दादीनां प्राप्ताप्राप्तबद्धस्पृष्टत्वादि (गा. ५) । (शब्दस्याप्राप्यकारितानिरासः)	२७
शब्दस्याकाशगुणत्वमपास्तम् ।	२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

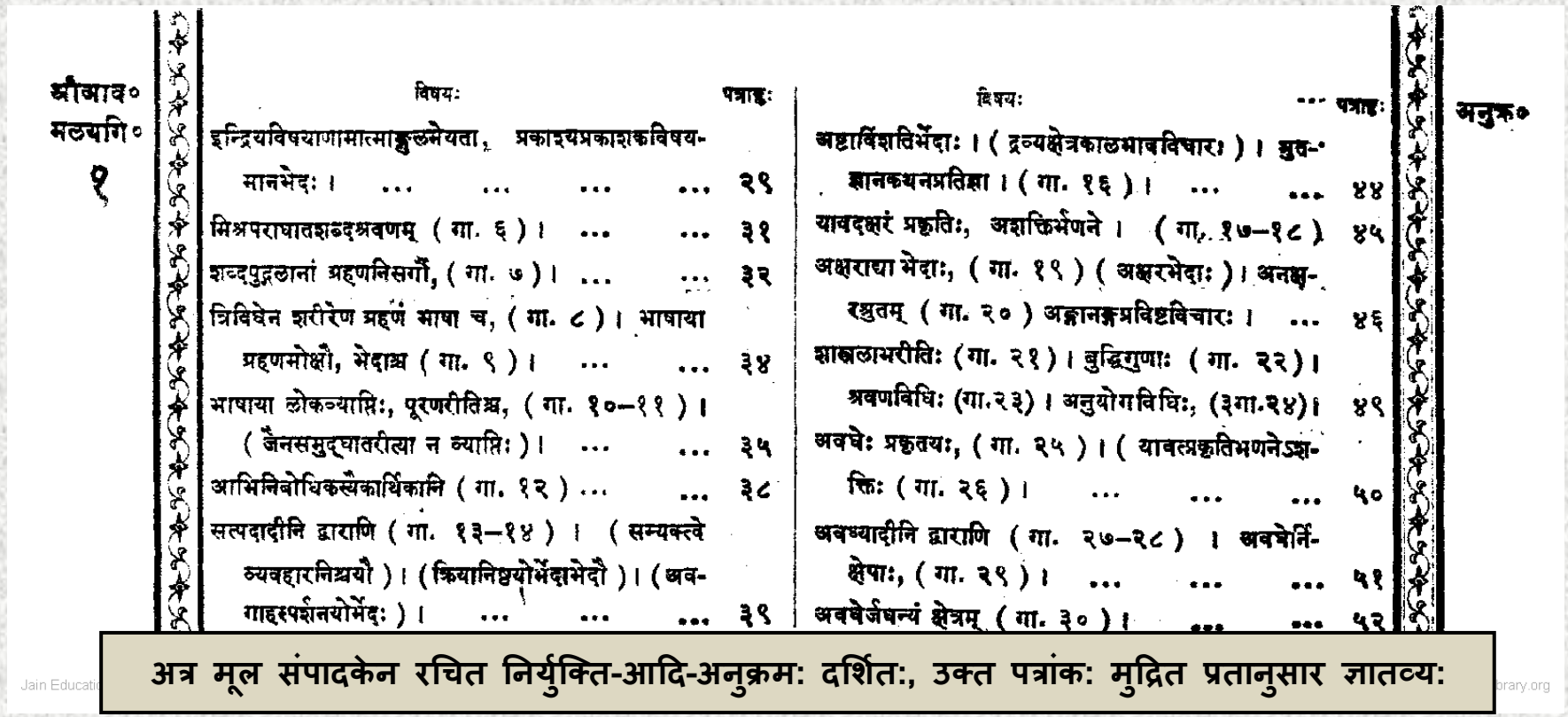

औआव० मलयगि० १

विषयः	पत्राङ्कः
इन्द्रियविषयाणामात्माङ्गुलमेयता, प्रकाश्यप्रकाशकविषयमानभेदः ।	२९
मिश्रपराघातशब्दश्रवणम् (गा. ६) ।	३१
शब्दपुद्गलानां ग्रहणनिसर्गौ, (गा. ७) ।	३२
त्रिविधेन शरीरेण ग्रहणं भाषा च, (गा. ८) । भाषाया ग्रहणमोक्षौ, भेदाश्च (गा. ९) ।	३४
भाषाया लोकव्याप्तिः, पूरणरीतिश्च, (गा. १०–११) । (जैनसमुद्घातरीत्या न व्याप्तिः) ।	३५
आभिनिबोधिकस्यैकार्थिकानि (गा. १२)	३८
सत्पदादीनि द्वाराणि (गा. १३–१४) । (सम्यक्त्वे व्यवहारनिश्चयौ) । (क्रियानिष्ठयोर्भेदाभेदौ) । (अवगाहस्पर्शनयोर्भेदः) ।	३९

विषयः	पत्राङ्कः
अष्टाविंशतिर्भेदाः । (द्रव्यक्षेत्रकालभावविचारः) । श्रुतज्ञानकथनप्रतिज्ञा । (गा. १६) ।	४४
यावदक्षरं प्रकृतिः, अशक्तिर्भणने । (गा. १७–१८)	४५
अक्षराद्या भेदाः, (गा. १९) (अक्षरभेदाः) । अनक्षरश्रुतम् (गा. २०) अङ्गानङ्गप्रविष्टविचारः । ...	४६
शास्त्रलाभरीतिः (गा. २१) । बुद्धिगुणाः (गा. २२) । श्रवणविधिः (गा.२३) । अनुयोगविधिः, (३गा.२४) ।	४९
अवधेः प्रकृतयः, (गा. २५) । (यावत्प्रकृतिभणनेऽशक्तिः (गा. २६) ।	५०
अवध्यादीनि द्वाराणि (गा. २७–२८) । अवधेर्निक्षेपाः, (गा. २९) ।	५१
अवधेर्जघन्यं क्षेत्रम् (गा. ३०) ।	५२

अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

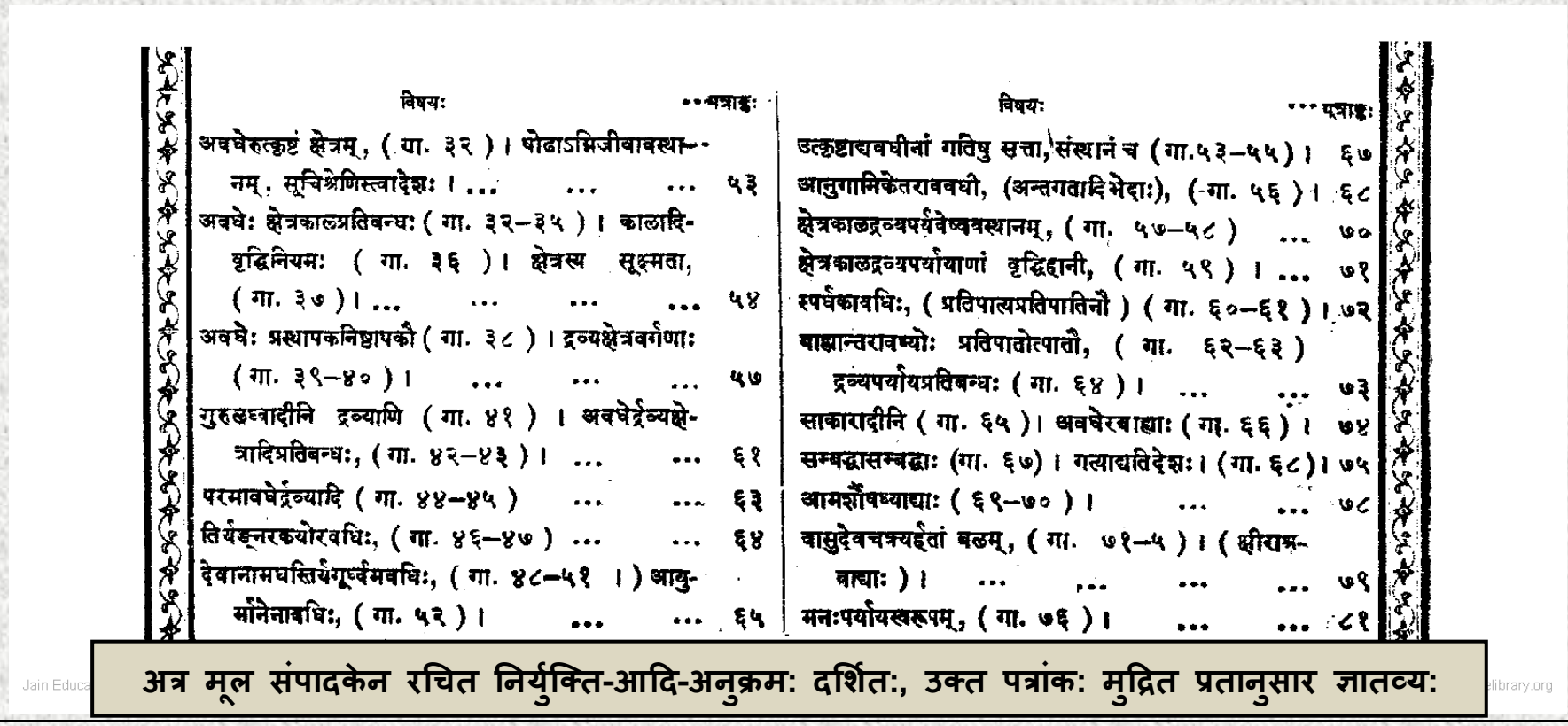

विषयः ... पत्राङ्कः

अवधेरुत्कृष्टं क्षेत्रम्, (गा. ३२) । षोढाऽग्निजीवावस्था-नम्, सूचिश्रेणिस्त्वादेशः । ५३
अवधेः क्षेत्रकालप्रतिबन्धः (गा. ३२–३५) । कालादि-वृद्धिनियमः (गा. ३६) । क्षेत्रस्य सूक्ष्मता, (गा. ३७) । ५४
अवधेः प्रस्थापकनिष्ठापकौ (गा. ३८) । द्रव्यक्षेत्रवर्गणाः (गा. ३९–४०) । ५७
गुरुलघ्वादीनि द्रव्याणि (गा. ४१) । अवधेर्द्रव्यक्षेत्रादिप्रतिबन्धः, (गा. ४२–४३) । ६१
परमावधेर्द्रव्यादि (गा. ४४–४५) ६३
तिर्यङ्नरकयोरवधिः, (गा. ४६–४७) ६४
देवानामधस्तिर्यगूर्ध्वमवधिः, (गा. ४८–५१ ।) आयुर्मानेनावधिः, (गा. ५२) । ६५

विषयः ... पत्राङ्कः

उत्कृष्टाद्यवधीनां गतिषु सत्ता, संस्थानं च (गा.५३–५५) । ६७
आनुगामिकेतरावधी, (अन्तगतादिभेदाः), (गा. ५६) । ६८
क्षेत्रकालद्रव्यपर्यवेष्ववस्थानम्, (गा. ५७–५८) ... ७०
क्षेत्रकालद्रव्यपर्यायाणां वृद्धिहानी, (गा. ५९) । ... ७१
स्पर्धकावधिः, (प्रतिपात्यप्रतिपातिनौ) (गा. ६०–६१) । ७२
बाह्यान्तरावधयोः प्रतिपातोत्पातौ, (गा. ६२–६३) द्रव्यपर्यायप्रतिबन्धः (गा. ६४) । ७३
साकारादीनि (गा. ६५) । अवधेरबाह्याः (गा. ६६) । ७४
सम्बद्धासम्बद्धाः (गा. ६७) । गत्याद्यतिदेशः । (गा. ६८) । ७५
आमर्शौषध्याद्याः (६९–७०) । ७८
वासुदेवचक्रयर्हतां बलम्, (गा. ७१–५) । (क्षीराश्रवाद्याः) । ७९
मनःपर्यायस्वरूपम्, (गा. ७६) । ८१

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

Jain Educa ... library.org

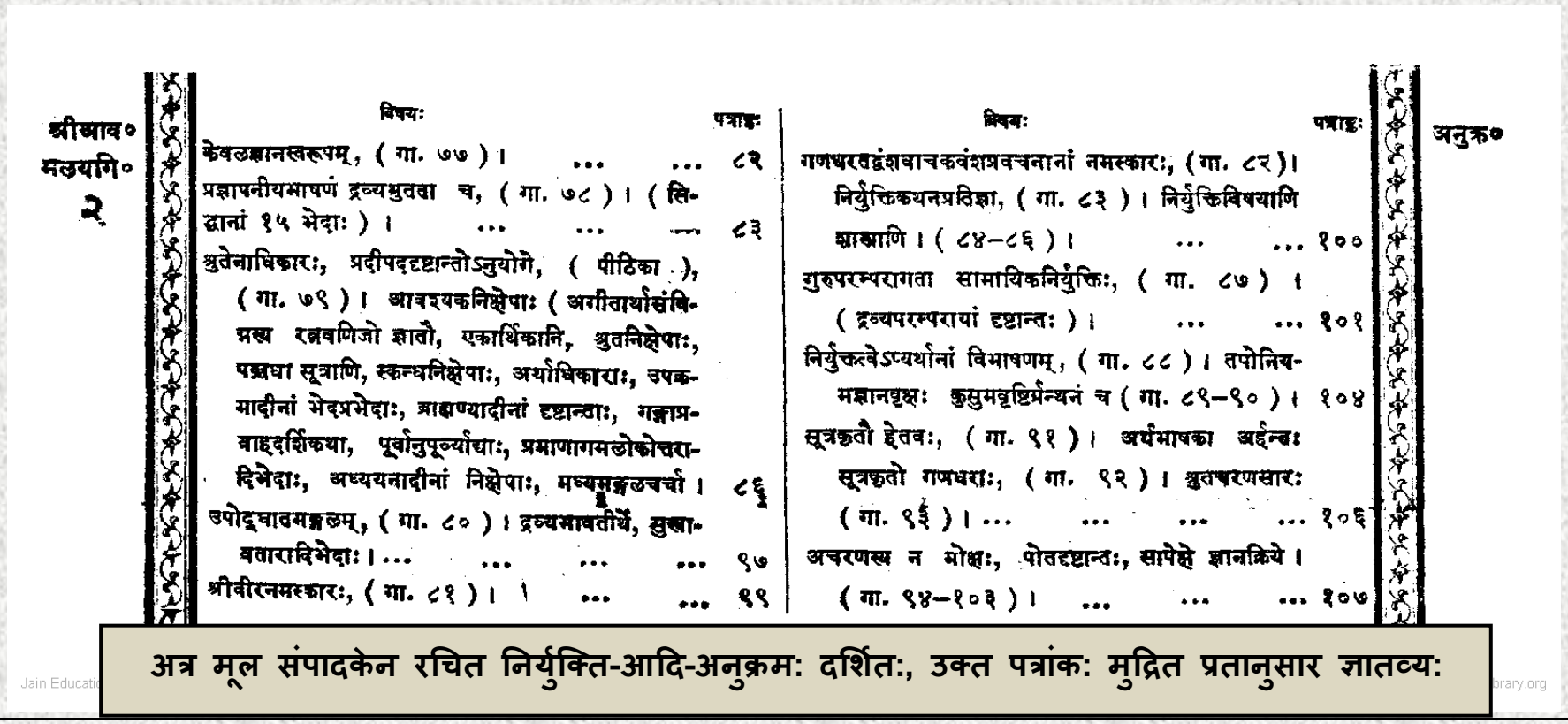

श्रीआव० मलयगि० २

विषयः	पत्राङ्कः
केवलज्ञानस्वरूपम्, (गा. ७७) ।	८२
प्रज्ञापनीयभाषणं द्रव्यश्रुतवा च, (गा. ७८) । (सिद्धानां १५ भेदाः) ।	८३
श्रुतेनाधिकारः, प्रदीपदृष्टान्तोऽनुयोगे, (पीठिका), (गा. ७९) । आवश्यकनिक्षेपाः (अगीतार्थसंविग्नस्य रत्नवणिजो ज्ञातौ, एकार्थिकानि, श्रुतनिक्षेपाः, पञ्चधा सूत्राणि, स्कन्धनिक्षेपाः, अर्थाधिकाराः, उपक्रमादीनां भेदप्रभेदाः, ब्राह्मण्यादीनां दृष्टान्ताः, गङ्गाप्रवाहदर्शिकथा, पूर्वानुपूर्व्यादयः, प्रमाणागमलोकोत्तरादिभेदाः, अध्ययनादीनां निक्षेपाः, मध्यमङ्गलचर्चा ।	८६
उपोद्घातमङ्गलम्, (गा. ८०) । द्रव्यभावतीर्थे, सुखावतारादिभेदाः ।	९७
श्रीवीरनमस्कारः, (गा. ८१) ।	९९
गणधरवंशवाचकवंशप्रवचनानां नमस्कारः, (गा. ८२) । निर्युक्तिकथनप्रतिज्ञा, (गा. ८३) । निर्युक्तिविषयाणि द्वाराणि । (८४–८६) ।	१००
गुरुपरम्परागता सामायिकनिर्युक्तिः, (गा. ८७) । (द्रव्यपरम्परायां दृष्टान्तः) ।	१०१
निर्युक्तावेऽप्यर्थानां विभाषणम्, (गा. ८८) । तपोनियमज्ञानवृक्षः कुसुमवृष्टिर्मन्थनं च (गा. ८९–९०) ।	१०४
सूत्रकृतौ हेतवः, (गा. ९१) । अर्थभाषका अर्हन्तः सूत्रकृतो गणधराः, (गा. ९२) । श्रुतचरणसारः (गा. ९३) ।	१०६
अचरणस्य न मोक्षः, पोतदृष्टान्तः, सापेक्षे ज्ञानक्रिये । (गा. ९४–१०३) ।	१०७

अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

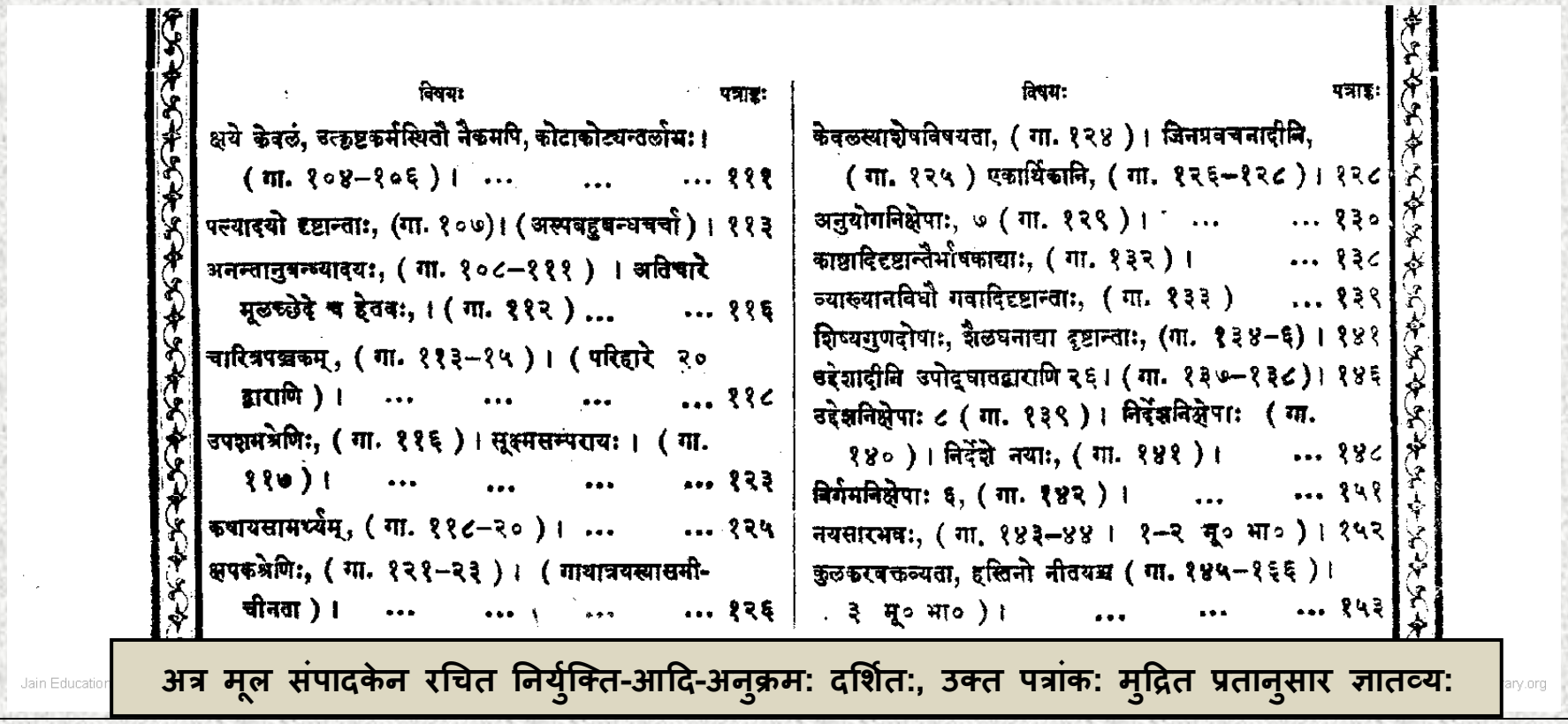

विषयः	पत्राङ्कः
क्षये केवलं, उत्कृष्टकर्मस्थितौ नैकमपि, कोटाकोट्यन्तर्लाभः। (गा. १०४–१०६)।	१११
पल्यादयो दृष्टान्ताः, (गा. १०७)। (अल्पबहुबन्धचर्चा)।	११३
अनन्तानुबन्ध्यादयः, (गा. १०८–१११)। अतिचारे मूलच्छेदे च हेतवः, । (गा. ११२)	११६
चारित्रपञ्चकम्, (गा. ११३–१५)। (परिहारे २० द्वाराणि)।	११८
उपशमश्रेणिः, (गा. ११६)। सूक्ष्मसम्परायः। (गा. ११७)।	१२३
कषायसामर्थ्यम्, (गा. ११८–२०)।	१२५
क्षपकश्रेणिः, (गा. १२१–२३)। (गाथात्रयस्यासमीचीनता)।	१२६

विषयः	पत्राङ्कः
केवलस्याशेषविषयता, (गा. १२४)। जिनप्रवचनादीनि, (गा. १२५) एकार्थिकानि, (गा. १२६–१२८)।	१२८
अनुयोगनिक्षेपाः, ७ (गा. १२९)।	१३०
काष्ठादिदृष्टान्तैर्भाषकाद्याः, (गा. १३२)। ...	१३८
व्याख्यानविधौ गवादिदृष्टान्ताः, (गा. १३३) ...	१३९
शिष्यगुणदोषाः, शैलघनाद्या दृष्टान्ताः, (गा. १३४–६)।	१४१
उद्देशादीनि उपोद्घातद्वाराणि २६। (गा. १३७–१३८)।	१४६
उद्देशनिक्षेपाः ८ (गा. १३९)। निर्देशनिक्षेपाः (गा. १४०)। निर्देशे नयाः, (गा. १४१)। ...	१४८
निर्गमनिक्षेपाः ६, (गा. १४२)।	१५१
नयसारभवः, (गा. १४३–४४। १–२ मू० भा०)।	१५२
कुलकरवक्तव्यता, हस्तिनो नीतयश्च (गा. १४५–१६६)। ३ मू० भा०)।	१५३

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

Jain Education ... ary.org

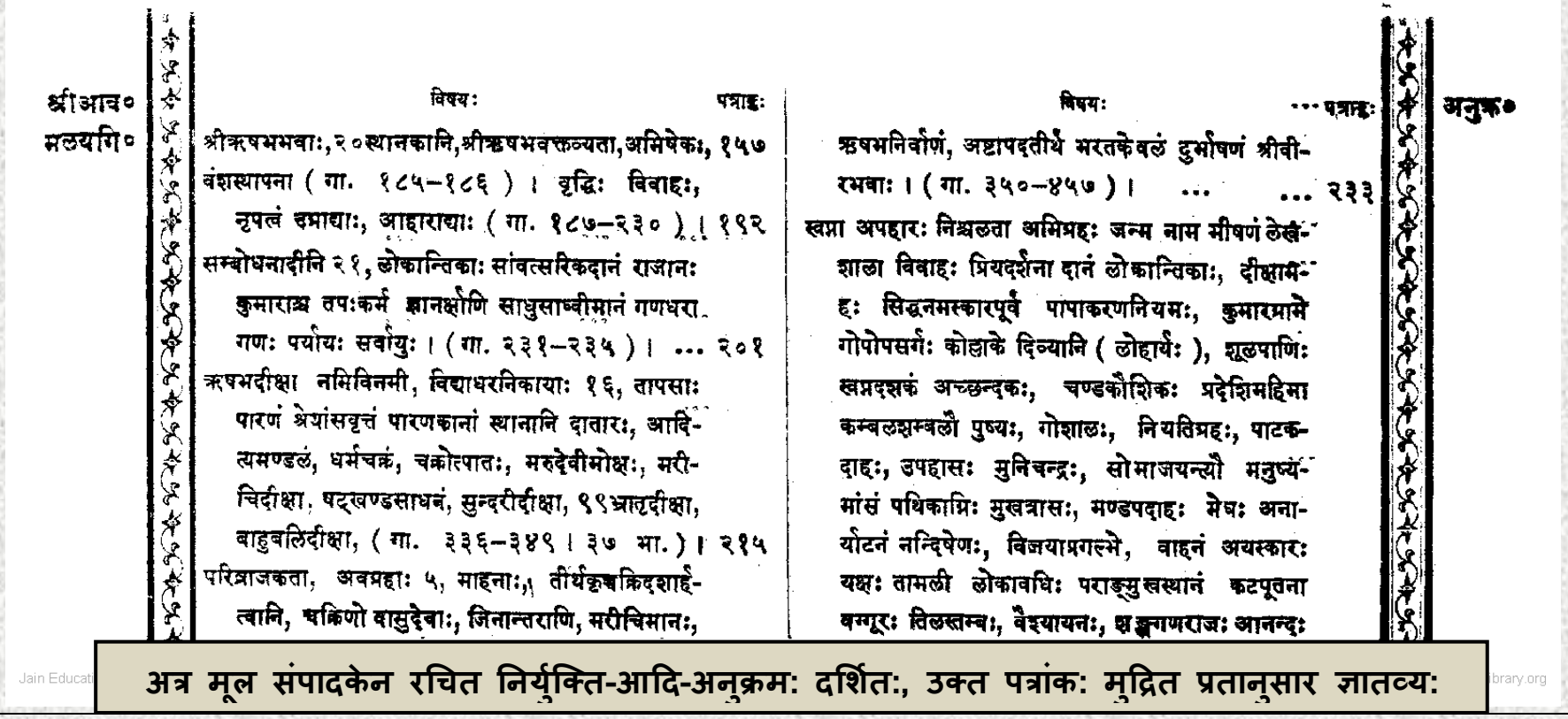

श्रीआव० मलयगि०

विषय: पत्राङ्क:

श्रीऋषभभवाः, २० स्थानकानि, श्रीऋषभवक्तव्यता, अभिषेकः, १५७
वंशस्थापना (गा. १८५–१८६) । वृद्धिः विवाहः,
नृपत्वं दमाद्याः, आहाराद्याः (गा. १८७–२३०) । १९२
सम्बोधनादीनि २१, लोकान्तिकाः सांवत्सरिकदानं राजानः
कुमाराश्च तपःकर्म ज्ञानर्क्षाणि साधुसाध्वीमानं गणधरा
गणः पर्यायः सर्वायुः । (गा. २३१–२३५) । ... २०१
ऋषभदीक्षा नमिविनमी, विद्याधरनिकायाः १६, तापसाः
पारणं श्रेयांसवृत्तं पारणकानां स्थानानि दातारः, आदि-
त्यमण्डलं, धर्मचक्रं, चक्रोत्पातः, मरुदेवीमोक्षः, मरी-
चिदीक्षा, षट्खण्डसाधनं, सुन्दरीदीक्षा, ९९भ्रातृदीक्षा,
बाहुबलिदीक्षा, (गा. ३३६–३४९ । ३७ भा.) । २१५
परिव्राजकता, अवग्रहाः ५, माहनाः, तीर्थकृच्चक्रिदशार्ह-
त्वानि, चक्रिणो वासुदेवाः, जिनान्तराणि, मरीचिभानः,

विषय: ... पत्राङ्क:

ऋषभनिर्वाणं, अष्टापदतीर्थं भरतकेवलं दुर्भाषणं श्रीवी-
रभवाः । (गा. ३५०–४५७) । २३३
स्वप्ना अपहारः निश्चलता अभिग्रहः जन्म नाम मीषणं लेख-
शाला विवाहः प्रियदर्शना दानं लोकान्तिकाः, दीक्षाम-
हः सिद्धनमस्कारपूर्वं पापाकरणनियमः, कुमारग्रामे
गोपोपसर्गः कोल्लाके दिव्यानि (लोहार्यः), शूलपाणिः
स्वप्नदशकं अच्छन्दकः, चण्डकौशिकः प्रदेशिमहिमा
कम्बलशम्बलौ पुण्यः, गोशालः, नियतिग्रहः, पाटक-
दाहः, उपहासः मुनिचन्द्रः, सोमाजयन्त्यौ मनुष्य-
मांसं पथिकाग्निः मुखत्रासः, मण्डपदाहः मेघः अना-
र्योटनं नन्दिषेणः, विजयाप्रगल्भे, वाहनं अयस्कारः
यक्षः तामली लोकावधिः पराङ्मुखस्थानं कटपूतना
वग्गूरः तिलस्तम्बः, वैश्यायनः, शक्रागमराजः आनन्दः

अनुक्र०

Jain Educati ... brary.org

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

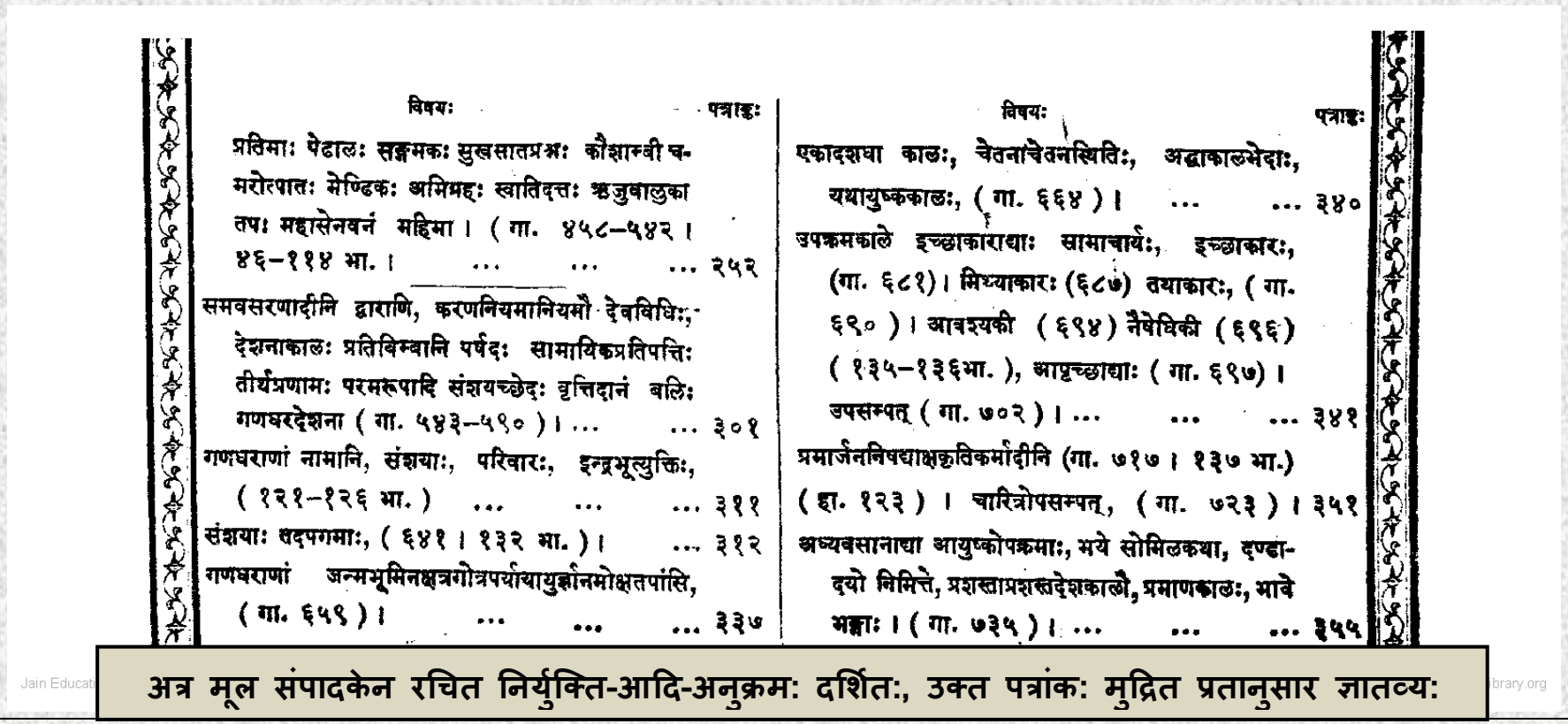

विषयः पत्राङ्कः

प्रतिमाः पेढालः सङ्गमकः सुखसातप्रश्नः कौशाम्बी च-मरोत्पातः मेण्ढिकः अभिग्रहः स्वातिदत्तः ऋजुवालुका तपः महासेनवनं महिमा । (गा. ४५८–५४२ । ४६–११४ भा. । २५२

समवसरणादीनि द्वाराणि, करणनियमानियमौ देवविधिः, देशनाकालः प्रतिबिम्बानि पर्षदः सामायिकप्रतिपत्तिः तीर्थप्रणामः परमरूपादि संशयच्छेदः वृत्तिदानं बलिः गणधरदेशना (गा. ५४३–५९०) । ३०१

गणधराणां नामानि, संशयाः, परिवारः, इन्द्रभूत्युक्तिः, (१२१–१२६ भा.) ३११

संशयाः तदपगमाः, (६४१ । १३२ भा.) । ... ३१२

गणधराणां जन्मभूमिनक्षत्रगोत्रपर्यायायुर्ज्ञानमोक्षतपांसि, (गा. ६५९) । ३३७

विषयः पत्राङ्कः

एकादशधा कालः, चेतनाचेतनस्थितिः, अद्धाकालभेदाः, यथायुष्ककालः, (गा. ६६४) । ३४०

उपक्रमकाले इच्छाकाराद्याः सामाचार्यः, इच्छाकारः, (गा. ६८१) । मिथ्याकारः (६८७) तथाकारः, (गा. ६९०) । आवश्यकी (६९४) नैषेधिकी (६९६) (१३५–१३६भा.), आपृच्छाद्याः (गा. ६९७) । उपसम्पत् (गा. ७०२) । ३४१

प्रमार्जननिषद्याक्षकृतिकर्मादीनि (गा. ७१७ । १३७ भा.) (हा. १२३) । चारित्रोपसम्पत्, (गा. ७२३) । ३५१

अध्यवसानाद्या आयुष्कोपक्रमाः, भये सोमिलकथा, दण्डादयो निमित्ते, प्रशस्ताप्रशस्तदेशकालौ, प्रमाणकालः, भावे भङ्गाः । (गा. ७३५) । ३५५

Jain Educat ... brary.org

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

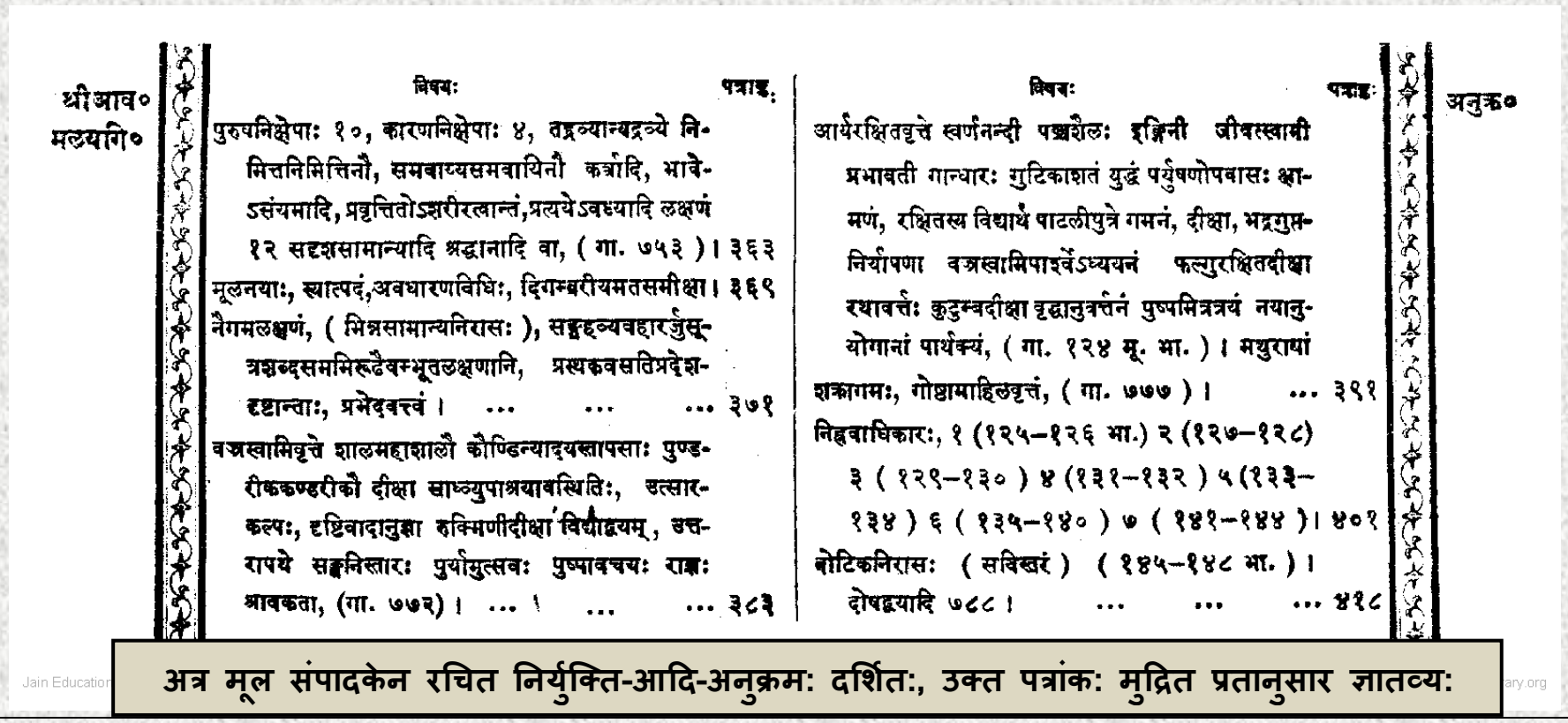

श्रीआव० मलयगि०

विषयः पत्राङ्कः

पुरुषनिक्षेपाः १०, कारणनिक्षेपाः ४, तद्द्रव्यान्यद्रव्ये निमित्तनिमित्तिनौ, समवाय्यसमवायिनौ कर्त्रादि, भावेऽसंयमादि, प्रवृत्तितोऽशरीरत्वान्तं,प्रत्ययेऽवध्यादि लक्षणं १२ सदृशसामान्यादि श्रद्धानादि वा, (गा. ७५३)। ३६३

मूलनयाः, स्यात्पदं,अवधारणविधिः, दिगम्बरीयमतसमीक्षा। ३६९

नैगमलक्षणं, (भिन्नसामान्यनिरासः), सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसममिरूढैवम्भूतलक्षणानि, प्रस्थकवसतिप्रदेशदृष्टान्ताः, प्रभेदवक्तव्यं। ३७१

वज्रस्वामिवृत्ते शालमहाशालौ कौण्डिन्यादयस्तापसाः पुण्डरीककण्हरीकौ दीक्षा साध्व्युपाश्रयावस्थितिः, उत्सारकल्पः, दृष्टिवादानुज्ञा रुक्मिणीदीक्षा विद्याद्वयम्, उत्तरापथे सङ्घनिस्तारः पुर्यामुत्सवः पुष्पावचयः राज्ञः श्रावकता, (गा. ७७२)। ३८३

विषयः पत्राङ्कः

आर्यरक्षितवृत्ते स्वर्णनन्दी पञ्चशैलः इङ्गिनी जीवस्वामी प्रभावती गान्धारः गुटिकाशतं युद्धं पर्युषणोपवासः श्रामणं, रक्षितस्य विद्यार्थं पाटलीपुत्रे गमनं, दीक्षा, भद्रगुप्तनिर्यापणा वज्रस्वामिपार्श्वेऽध्ययनं फल्गुरक्षितदीक्षा रथावर्त्तः कुटुम्बदीक्षा वृद्धानुवर्त्तनं पुष्पमित्रत्रयं नयानुयोगानां पार्थक्यं, (गा. १२४ मू. भा.)। मथुरायां शक्रागमः, गोष्ठामाहिलवृत्तं, (गा. ७७७)। ... ३९१

निह्नवाधिकारः, १ (१२५–१२६ भा.) २ (१२७–१२८) ३ (१२९–१३०) ४ (१३१–१३२) ५ (१३३–१३४) ६ (१३५–१४०) ७ (१४१–१४४)। ४०१

बोटिकनिरासः (सविस्तरं) (१४५–१४८ भा.)। दोषद्वयादि ७८८। ४१८

अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

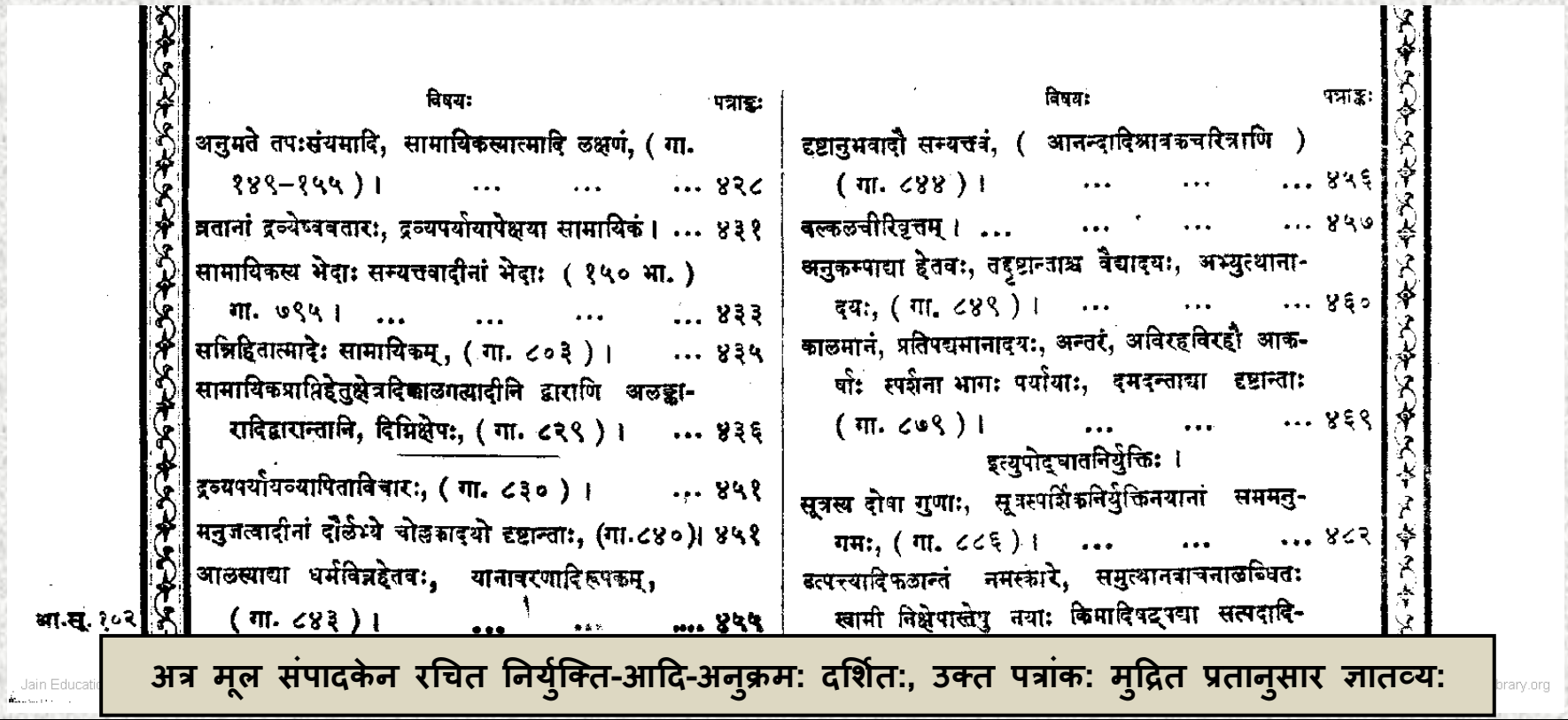

विषयः पत्राङ्कः

अनुमते तपःसंयमादि, सामायिकस्यात्मादि लक्षणं, (गा. १४९–१५५)। ४२८
व्रतानां द्रव्येष्ववतारः, द्रव्यपर्यायापेक्षया सामायिकं। ... ४३१
सामायिकस्य भेदाः सम्यक्त्ववादीनां भेदाः (१५० भा.) गा. ७९५। ४३३
सन्निहितात्मादेः सामायिकम्, (गा. ८०३)। ... ४३५
सामायिकप्राप्तिहेतुक्षेत्रदिक्कालगत्यादीनि द्वाराणि अलङ्कारादिद्वारान्तानि, दिग्निक्षेपः, (गा. ८२९)। ... ४३६
द्रव्यपर्यायव्यापितावि चारः, (गा. ८३०)। ... ४५१
मनुजत्वादीनां दौर्लभ्ये चोल्लकादयो दृष्टान्ताः, (गा.८४०)। ४५१
आलस्याद्या धर्मविघ्नहेतवः, यानावरणादिरूपकम्, (गा. ८४३)। ४५५
दृष्टानुभवादौ सम्यक्त्वं, (आनन्दादिश्रावकचरित्राणि) (गा. ८४४)। ४५६
वल्कलचीरिवृत्तम्। ४५७
अनुकम्पाद्या हेतवः, तद्दृष्टान्ताश्च वैद्यादयः, अभ्युत्थानादयः, (गा. ८४९)। ४६०
कालमानं, प्रतिपद्यमानादयः, अन्तरं, अविरहविरहौ आकर्षाः स्पर्शना भागः पर्यायाः, दमदन्ताद्या दृष्टान्ताः (गा. ८७९)। ४६९
इत्युपोद्घातनिर्युक्तिः।
सूत्रस्य दोषा गुणाः, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिनयानां सममनुगमः, (गा. ८८६)। ४८२
इत्यरित्यादिफलान्तं नमस्कारे, समुत्थानवाचनालङ्घितः स्वामी निक्षेपास्तेषु नयाः किमादिषट्द्वया सत्पदादि-

आ.सू. १०२

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

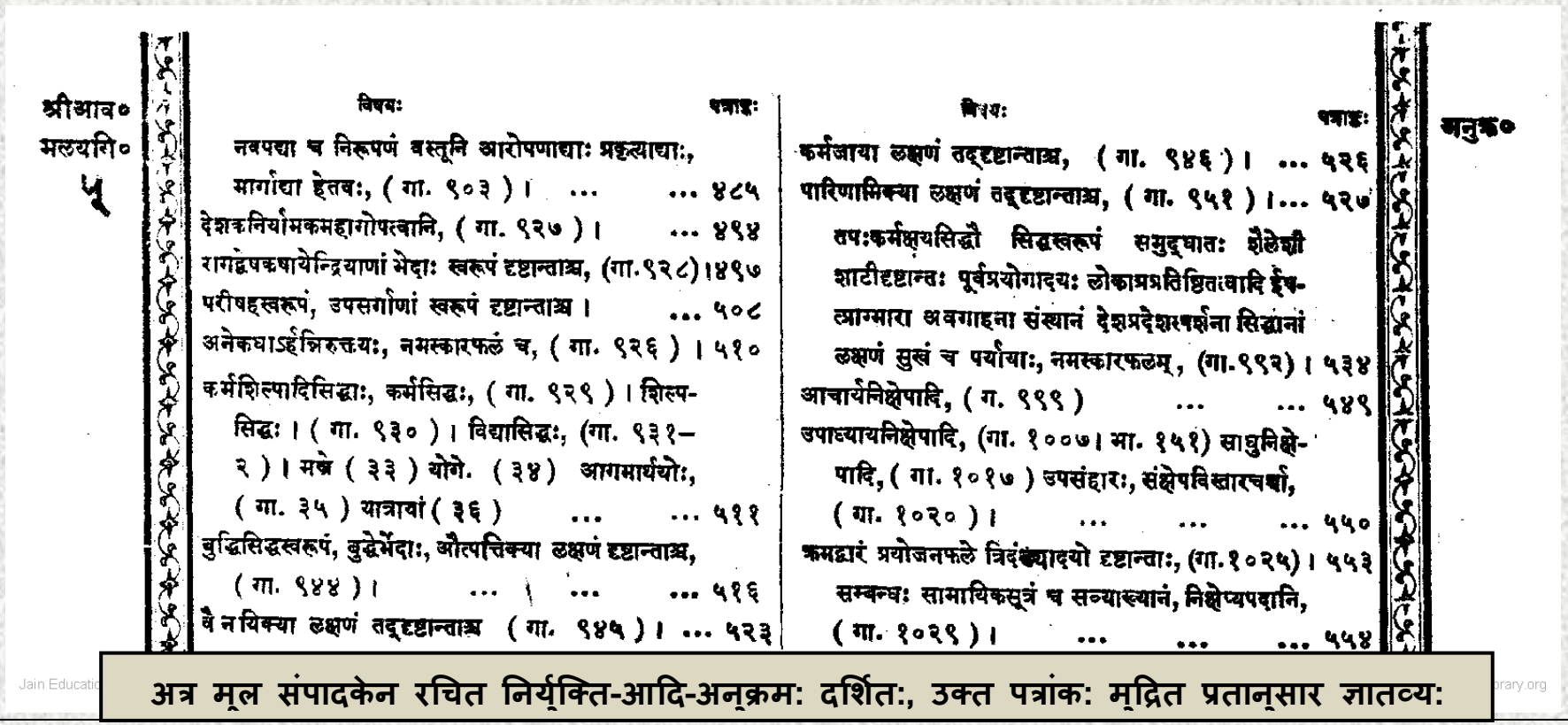

श्रीआव० मलयगि० ५

विषयः	पत्राङ्कः
नवपद्या च निरूपणं वस्तूनि आरोपणाद्याः प्रकृत्याद्याः, मार्गाद्या हेतवः, (गा. ९०३) ।	४८५
देशकनिर्यामकमहागोपत्वानि, (गा. ९२७) । ...	४९४
रागद्वेषकषायेन्द्रियाणां भेदाः स्वरूपं दृष्टान्ताश्च, (गा.९२८)।	४९७
परीषहस्वरूपं, उपसर्गाणां स्वरूपं दृष्टान्ताश्च । ...	५०८
अनेकधाऽर्हन्निरुक्तयः, नमस्कारफलं च, (गा. ९२६) ।	५१०
कर्मशिल्पादिसिद्धाः, कर्मसिद्धः, (गा. ९२९) । शिल्पसिद्धः । (गा. ९३०) । विद्यासिद्धः, (गा. ९३१–२) । मन्त्रे (३३) योगे. (३४) आगमार्थयोः, (गा. ३५) यात्रायां (३६)	५११
बुद्धिसिद्धस्वरूपं, बुद्धेर्भेदाः, औत्पत्तिक्या लक्षणं दृष्टान्ताश्च, (गा. ९४४) ।	५१६
वैनयिक्या लक्षणं तद्दृष्टान्ताश्च (गा. ९४५) । ...	५२३
कर्मजाया लक्षणं तद्दृष्टान्ताश्च, (गा. ९४६) । ...	५२६
पारिणामिक्या लक्षणं तद्दृष्टान्ताश्च, (गा. ९५१) । ...	५२७
तपःकर्मक्षयसिद्धौ सिद्धस्वरूपं समुद्घातः शैलेशी शाटीदृष्टान्तः पूर्वप्रयोगादयः लोकाग्रप्रतिष्ठितत्वादि ईषत्प्राग्भारा अवगाहना संस्थानं देशप्रदेशस्पर्शना सिद्धानां लक्षणं सुखं च पर्यायाः, नमस्कारफलम्, (गा.९९२) ।	५३४
आचार्यनिक्षेपादि, (ग. ९९९)	५४९
उपाध्यायनिक्षेपादि, (गा. १००७। भा. १५१) साधुनिक्षेपादि, (गा. १०१७) उपसंहारः, संक्षेपविस्तारचर्चा, (गा. १०२०) ।	५५०
क्रमद्वारं प्रयोजनफले त्रिदंडयादयो दृष्टान्ताः, (गा.१०२५) ।	५५३
सम्बन्धः सामायिकसूत्रं च सव्याख्यानं, निक्षेप्यपदानि, (गा. १०२९) ।	५५४

अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

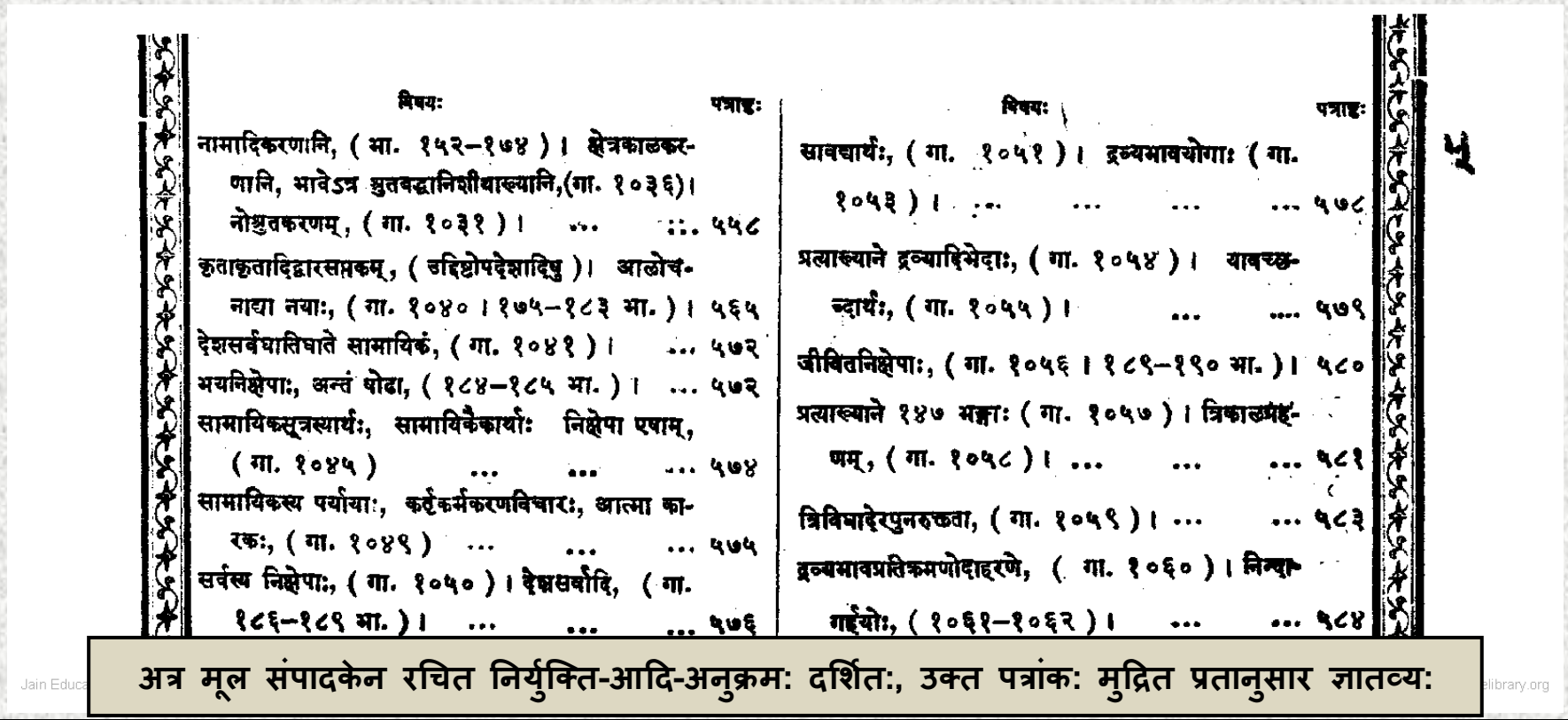

विषयः पत्राङ्कः

नामादिकरणानि, (भा. १५२–१७४)। क्षेत्रकालकरणानि, भावेऽत्र श्रुतवद्वानिशीथाख्यानि,(गा. १०३६)। नोश्रुतकरणम्, (गा. १०३१)। ५५८

कृताकृतादिद्वारसप्तकम्, (उद्दिष्टोपदेशादिषु)। आलोचनाद्या नयाः, (गा. १०४० । १७५–१८३ भा.)। ५६५

देशसर्वघातिघाते सामायिकं, (गा. १०४१)। ... ५७२

भयनिक्षेपाः, अन्तं षोढा, (१८४–१८५ भा.)। ... ५७२

सामायिकसूत्रस्यार्थः, सामायिकैकार्थाः निक्षेपा एषाम्, (गा. १०४५) ५७४

सामायिकस्य पर्यायाः, कर्तृकर्मकरणविचारः, आत्मा कारकः, (गा. १०४९) ५७५

सर्वस्य निक्षेपाः, (गा. १०५०)। देशसर्वादि, (गा. १८६–१८९ भा.)। ५७६

विषयः पत्राङ्कः

सावद्यार्थः, (गा. १०५१)। द्रव्यभावयोगाः (गा. १०५३)। ५७८

प्रत्याख्याने द्रव्यादिभेदाः, (गा. १०५४)। यावच्छब्दार्थः, (गा. १०५५)। ५७९

जीवितनिक्षेपाः, (गा. १०५६ । १८९–१९० भा.)। ५८०

प्रत्याख्याने १४७ भङ्गाः (गा. १०५७)। त्रिकालग्रहणम्, (गा. १०५८)। ५८१

त्रिविधादेरपुनरुक्तता, (गा. १०५९)। ५८३

द्रव्यभावप्रतिक्रमणोदाहरणे, (गा. १०६०)। निन्दागर्हयोः, (१०६१–१०६२)। ५८४

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

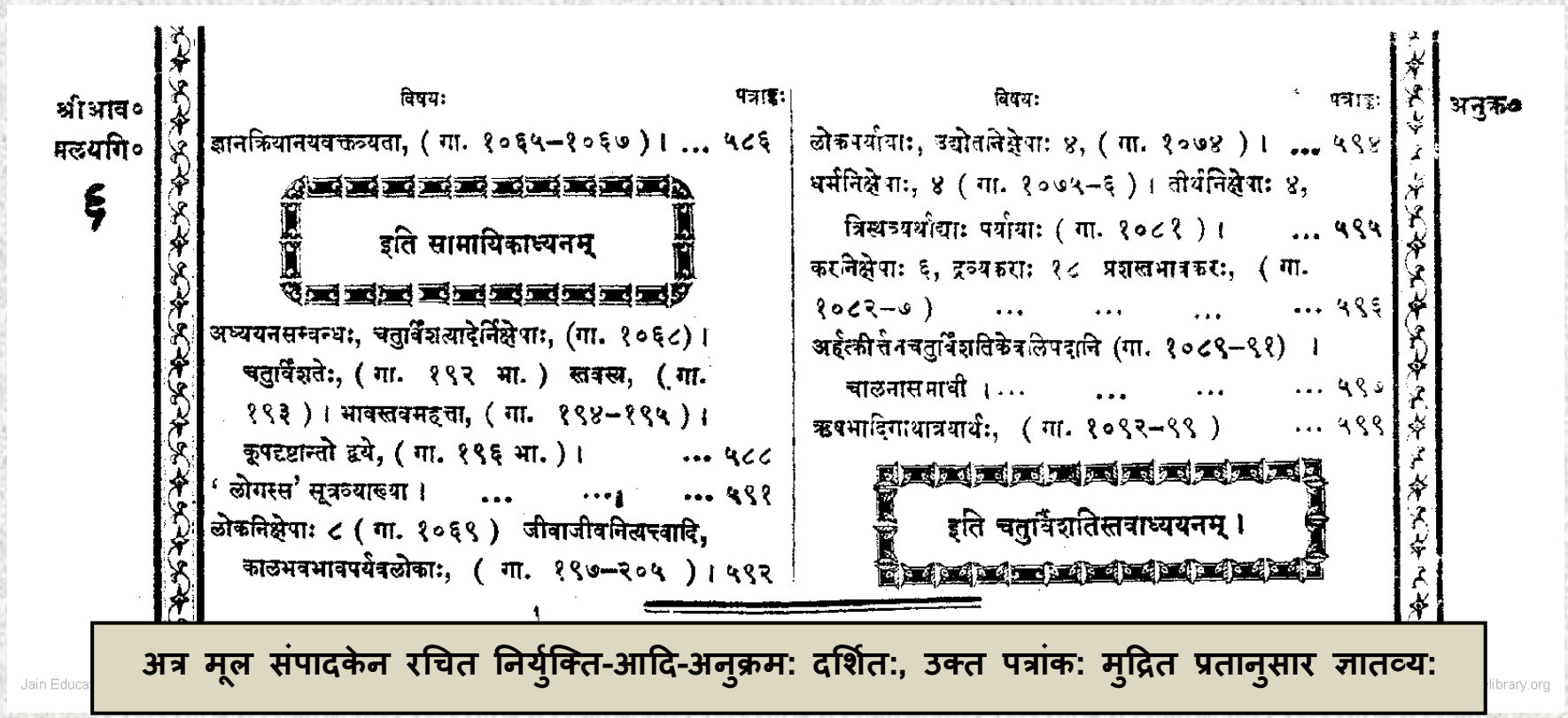

श्रीआव० मलयगि० ६

विषयः पत्राङ्कः

ज्ञानक्रियानयवक्तव्यता, (गा. १०६५–१०६७) । ... ५८६

इति सामायिकाध्ययनम्

अध्ययनसम्बन्धः, चतुर्विंशत्यादेर्निक्षेपाः, (गा. १०६८) ।
चतुर्विंशतेः, (गा. १९२ भा.) स्तवस्य, (गा. १९३) । भावस्तवमहत्ता, (गा. १९४–१९५) ।
कूपदृष्टान्तो द्वये, (गा. १९६ भा.) । ... ५८८
'लोगस्स' सूत्रव्याख्या । ५९१
लोकनिक्षेपाः ८ (गा. १०६९) जीवाजीवनित्यत्वादि,
कालभवभावपर्यवलोकाः, (गा. १९७–२०५) । ५९२

विषयः पत्राङ्कः

लोकपर्यायाः, उद्योतनिक्षेपाः ४, (गा. १०७४) । ... ५९४
धर्मनिक्षेपाः, ४ (गा. १०७५–६) । तीर्थनिक्षेपाः ४,
त्रिस्थत्र्यर्थाद्याः पर्यायाः (गा. १०८१) । ... ५९५
करनिक्षेपाः ६, द्रव्यकराः १८ प्रशस्तभावकरः, (गा. १०८२–७) ५९६
अर्हत्कीर्त्तनचतुर्विंशतिकेवलिपदानि (गा. १०८९–९१) ।
चालनासमाधी । ५९७
ऋषभादिगाथात्रयार्थः, (गा. १०९२–९९) ... ५९९

इति चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनम् ।

अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

Jain Educa ... library.org

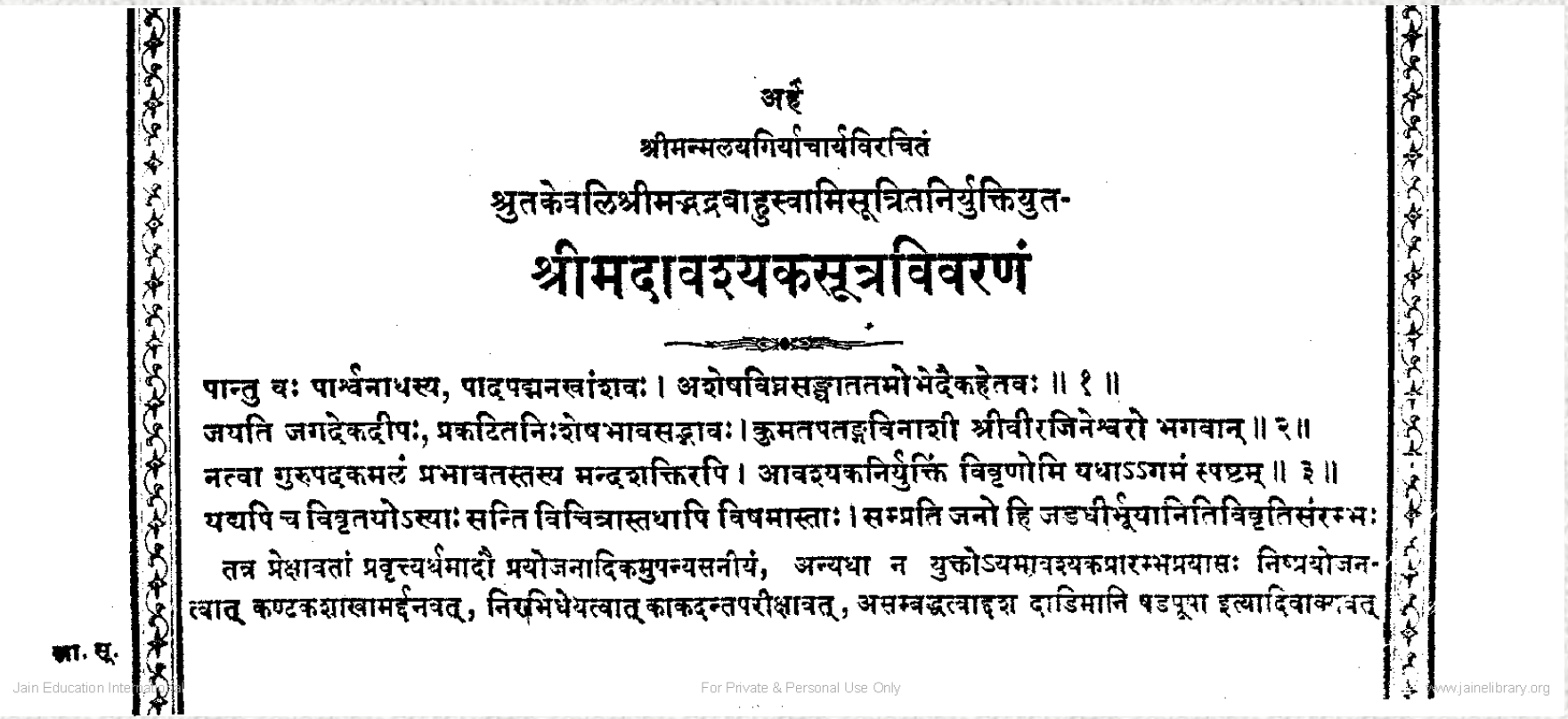

अर्हं

श्रीमन्मलयगिर्याचार्यविरचितं

श्रुतकेवलिश्रीमद्भद्रबाहुस्वामिसूत्रितनिर्युक्तियुत-

श्रीमदावश्यकसूत्रविवरणं

पान्तु वः पार्श्वनाथस्य, पादपद्मनखांशवः । अशेषविघ्नसङ्घाततमोभेदैकहेतवः ॥ १ ॥
जयति जगदेकदीपः, प्रकटितनिःशेषभावसद्भावः । कुमतपतङ्गविनाशी श्रीवीरजिनेश्वरो भगवान् ॥ २ ॥
नत्वा गुरुपदकमलं प्रभावतस्तस्य मन्दशक्तिरपि । आवश्यकनिर्युक्तिं विवृणोमि यथाऽऽगमं स्पष्टम् ॥ ३ ॥
यद्यपि च विवृतयोऽस्याः सन्ति विचित्रास्तथापि विषमास्ताः । सम्प्रति जनो हि जडधीर्भूयानितिविवृतिसंरम्भः
तत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमादौ प्रयोजनादिकमुपन्यसनीयं, अन्यथा न युक्तोऽयमावश्यकप्रारम्भप्रयासः निष्प्रयोजन-
त्वात् कण्टकशाखामर्दनवत्, निरभिधेयत्वात् काकदन्तपरीक्षावत्, असम्बद्धत्वादृश दाडिमानि षडपूपा इत्यादिवाक्यवत्

आ. सू.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** टीकाकारेण कृत आदि मङ्गलं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

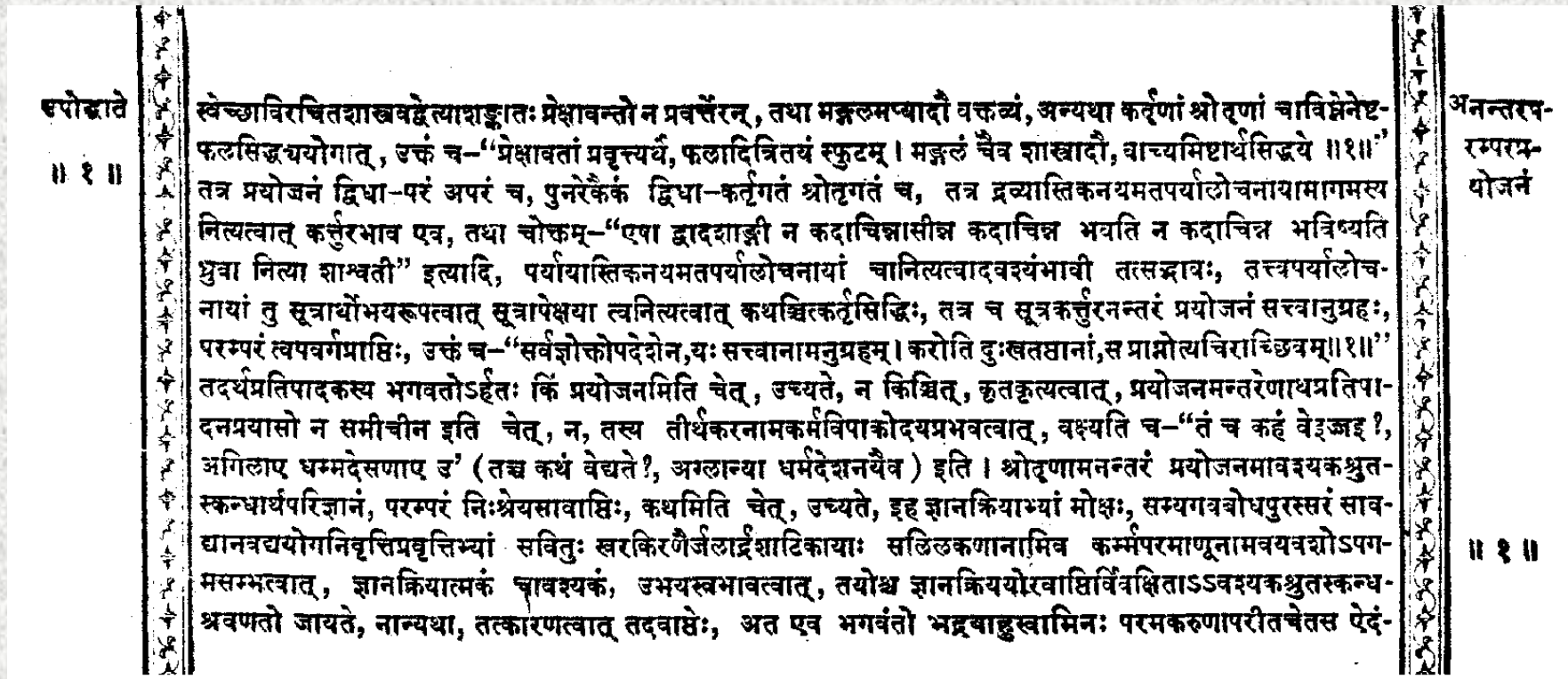

ष्पोद्घाते ॥ १ ॥

स्वेच्छाविरचितशास्त्रवद्वेत्याशङ्कातः प्रेक्षावन्तो न प्रवर्त्तेरन्, तथा मङ्गलमप्यादौ वक्तव्यं, अन्यथा कर्तृणां श्रोतृणां चाविघ्नेनेष्ट-फलसिद्धययोगात्, उक्तं च–"प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं, फलादित्रितयं स्फुटम्। मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥१॥" तत्र प्रयोजनं द्विधा–परं अपरं च, पुनरेकैकं द्विधा–कर्तृगतं श्रोतृगतं च, तत्र द्रव्यास्तिकनयमतपर्यालोचनायामागमस्य नित्यत्वात् कर्त्तुरभाव एव, तथा चोक्तम्–"एषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीन्न कदाचिन्न भवति न कदाचिन्न भविष्यति ध्रुवा नित्या शाश्वती" इत्यादि, पर्यायास्तिकनयमतपर्यालोचनायां चानित्यत्वादवश्यंभावी तत्सद्भावः, तत्त्वपर्यालोच-नायां तु सूत्रार्थोभयरूपत्वात् सूत्रापेक्षया त्वनित्यत्वात् कथञ्चित्कर्तृसिद्धिः, तत्र च सूत्रकर्त्तुरनन्तरं प्रयोजनं सत्त्वानुग्रहः, परम्परं त्वपवर्गप्राप्तिः, उक्तं च–"सर्वज्ञोक्तोपदेशेन,यः सत्त्वानामनुग्रहम्। करोति दुःखतप्तानां,स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम्॥१॥" तदर्थप्रतिपादकस्य भगवतोऽर्हतः किं प्रयोजनमिति चेत्, उच्यते, न किञ्चित्, कृतकृत्यत्वात्, प्रयोजनमन्तरेणाथप्रतिपा-दनप्रयासो न समीचीन इति चेत्, न, तस्य तीर्थकरनामकर्मविपाकोदयप्रभवत्वात्, वक्ष्यति च–"तं च कहं वेइज्जइ?, अगिलाए धम्मदेसणाए उ' (तच्च कथं वेद्यते?, अग्लान्या धर्मदेशनयैव) इति। श्रोतृणामनन्तरं प्रयोजनमावश्यकश्रुत-स्कन्धार्थपरिज्ञानं, परम्परं निःश्रेयसावाप्तिः, कथमिति चेत्, उच्यते, इह ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः, सम्यगवबोधपुरस्सरं साव-द्यानवद्ययोगनिवृत्तिप्रवृत्तिभ्यां सवितुः स्वरकिरणैर्जलार्द्रशाटिकायाः सलिलकणानामिव कर्म्मपरमाणूनामवयवशोऽपग-मसम्भवात्, ज्ञानक्रियात्मकं चावश्यकं, उभयस्वभावत्वात्, तयोश्च ज्ञानक्रिययोरवाप्तिर्विवक्षिताऽऽवश्यकश्रुतस्कन्ध-श्रवणतो जायते, नान्यथा, तत्कारणत्वात् तदवाप्तेः, अत एव भगवंतो भद्रबाहुस्वामिनः परमकरुणापरीतचेतस ऐदं-

अनन्तरप-रम्परम्-योजनं

॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** टीका-रचनाया: प्रयोजनं

युगीनसाधूनामुपकाराय आवश्यकस्य व्याख्यानरूपामिमां निर्युक्तिं कृतवन्तः, अन्यथा सम्यक्परिज्ञानाभावतः शिष्याणां मोक्षपथप्रवृत्युच्छेदप्रसक्तेः, कारणादेव कार्यसिद्धिभावात्, आह च भाष्यकृत्–"नाणकिरियाहि मोक्खो तम्मयमावस्सयं जओ तेणं। तक्खाणारंभो कारणओ कज्जसिद्धित्ति ॥१॥" [ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षो यतस्तन्मयमावश्यकं। ततः तद्व्याख्यारम्भः, कारणतः कार्यसिद्धिरिति ॥१॥] (भा.) ततः श्रोतृणामपि परम्परया मुक्तिभावाद् भवति तेषां परं प्रयोजनं निःश्रेयसावाप्तिरिति प्रयोजनवान् आवश्यकप्रारम्भप्रयासः, अभिधेयं सामायिकादि, तेषामेवास्मिन् ग्रन्थे सविस्तरमभिधास्यमानत्वात्, सम्बन्धस्तु द्विधा–उपायोपेयभावलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणश्च, तत्राद्यः तर्कानुसारिणः प्रति, तद्यथा–वचनरूपापन्नमावश्यकमुपायः उपेयं सामायिकादिपरिज्ञानं, मुक्तिपदं वा,तस्याप्यतः पारम्पर्येण भावात्, तथाहि–अस्मात् सम्यक्सामायिकाद्यर्थपरिज्ञानं भवति, सति च तस्मिन् सम्यग्दर्शनादिवैमल्यं क्रियाप्रयत्नश्च, ताभ्यां प्रकर्षप्राप्ताभ्यां मुक्तिपदप्राप्तिरिति, गुरुपर्वक्रमलक्षणस्तु सम्बन्धः उपोद्घातनिर्युक्तौ 'उद्देसे निद्देसे य निग्गमे' इत्यादिना ग्रन्थेन स्वयमेव निर्युक्तिकृता ग्रन्थेन वक्ष्यते। अत्र कश्चिदाह-ननु अधिगतशास्त्रार्थानां स्वयमेव प्रयोजनादिपरिज्ञानं भविष्यतीति निरर्थक एष शास्त्रादौ प्रयोजनाद्युपन्यास इति, न, अनधिगतशास्त्रार्थानां प्रवृत्तिहेतुतया सफलत्वात्, अथ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निश्चयपूर्विका भवति, न च प्रयोजनादावुक्तेऽपि अनधिगतशास्त्रार्थानां तन्निश्चयोपपत्तिः, वचनस्य वाह्यार्थे प्रति प्रामाण्याभावात्, न च संशयतः प्रवृत्तिरुपपन्ना, प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात्, ततः कथं सार्थकता अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य ?, तदेतदपरिभावितभाषितं, वचनस्य वाह्यार्थं प्रति प्रामाण्यभावात्, अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः, विजृम्भितं चात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घाते ॥ २ ॥

प्रपञ्चतो धर्म्मसङ्ग्रहणिटीकादाविति ततः परिभावनीयं, अथ यदि वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्यं तर्हि अत एव सम्यगभिधेयादिपरिज्ञानभावान्निरर्थिका शास्त्रे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः, फलाभावात्, प्रवृत्तौ हि फलमभिधेयादिपरिज्ञानं, तच्चाधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासत एव सिद्धमिति, तदेतद्बालिशविजृम्भितं, अधिकृतेन हि प्रयोजनाद्युपन्यासेन प्रयोजनादीनामधिगतिर्भवति सामान्येन, नाशेषविशेषपरिज्ञानपुरस्सरा, अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य सामान्येन प्रवृत्तत्वात्, 'सामान्यनिष्ठं हि वचः सामान्यं प्रतिपादयति, विशेषनिष्ठं विशेषम्'अतो वचनप्रामाण्याद्धिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासवाक्यतः सामान्येन प्रयोजनादिकेऽधिगते कथं नु नाम अस्माकं सविशेषं सामायिकादिपरिज्ञानं स्यादिति विशेषपरिज्ञानाय भवति प्रेक्षावतां शास्त्रे प्रवृत्तिः, अन्यच्च–यदि वचनस्याप्रामाण्यमभ्युपगम्यते तथापि न काचिद्विवक्षितार्थक्षतिः, संशयतोऽपि प्रवृत्तिभावात्, तथाहि–अनेनाधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासेन तद्विषयसंशय उपजन्यते, संशयश्च द्विधा–अर्थसंशयोऽनर्थसंशयश्च, तत्रार्थसंशयो यथा–यदि वृष्ट्यादिसामग्री ततः सम्भवति शस्यनिष्पत्तिः, अनर्थसंशयो यथा–(यदि) विषमिदं यो भक्षयति स म्रियते, तत्रानर्थसंशयात् न कस्यचित्सचेतसः प्रवृत्तिः, अनर्थतः संशयस्यापि बिभ्यत्त्वात्, अर्थसंशयस्तु प्रेक्षावतोऽपि प्रवृत्त्यङ्गं, अनर्थकशङ्काया अभावात् फलस्य च केषाञ्चिद्दर्शनात्, न चायमधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासजनितः संशयोऽनर्थसंशय इति भवति प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरिति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ सम्प्रति मङ्गलमुच्यते, यतः–श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति, उक्तं च–"श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि। अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वापि यान्ति विनायकाः॥१॥" अयमपि च आवश्यकानुयोगो निर्युक्तिरूपः परमपदप्राप्तिबीजभूतत्वात् श्रेयोभूतः ततो मा भूत्तत्र विघ्न इति तदारम्भे विघ्न-

प्रयोजन-वाक्यस्य सफलता ॥ २ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-] दीप अनुक्रम [-]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

विनायकोपशान्तये मङ्गलमुपन्यस्यते, तच्च शास्त्रस्यादौ मध्येऽवसाने च भवति, न युक्तो मङ्गलत्रयोपन्यासः, आदिमङ्गलेनैवाभीष्टार्थस्य सिद्धत्वादिति चेत्, तदसम्यक्, आदिमङ्गलमात्रादभीष्टार्थसिद्ध्ययोगात्, तथाहि–आदिमङ्गलं विवक्षितशास्त्रस्याविघ्नेन पारं गच्छेयुरित्येवमर्थं, मध्यमङ्गलमवगृहीतशास्त्रार्थस्थिरीकरणार्थं, अन्तमङ्गलं शिष्यप्रशिष्यपरम्परया शास्त्रस्याव्यवच्छेदार्थम्, उक्तं च–"तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स। पढमं सत्थत्थाऽविग्घपारगमणाय निद्दिट्ठं ॥ १ ॥ (भा. १३) तस्सेव य थेज्जत्थं मज्झिमयं अंतिमंपि तस्सेव। अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स ॥ २ ॥ (भा. १४) अत्र 'सिस्सपसिस्साइवंसस्से'ति प्राकृतत्वात्तृतीयार्थे षष्ठी, ततोऽयमर्थः–तस्यैव शास्त्रार्थस्य शिष्यप्रशिष्यादिवंशेनाव्यवच्छित्तिर्भूयादित्येवमर्थमन्तमङ्गलमिति, तत्रादिमंगलम् 'आभिणिबोहियनाणं सुयनाणं चेवे'त्यादि, ज्ञानपञ्चकस्य परमङ्गलत्वात्, मध्यमङ्गलं 'वंदण चिइ किइकम्म'मित्यादि, वन्दनस्य विनयरूपत्वात्तस्य चाभ्यन्तरतपोभेदत्वात् तपोभेदस्य च मङ्गलत्वात्, पर्यन्तमङ्गलं 'पच्चक्खाण'मित्यादि, प्रत्याख्यानस्याद्यतपोभेदत्वेन मङ्गलत्वात्। स्यादेतद्–इदं मङ्गलत्रयं शास्त्राद्भिन्नमभिन्नं वा?, किञ्चातः?, उभयथाऽपि दोषः, तथाहि–यदि भिन्नं ततः शास्त्रस्यामङ्गलत्वप्रसङ्गो, मङ्गलाद्भिन्नत्वात्, तदन्यवस्त्वन्तरवत्, यच्च स्वरूपेणामङ्गलं तदन्यमङ्गलोपन्यासेनापि मङ्गलीकर्त्तुमशक्यं, स्वभावस्य च्यावयितुमशक्यत्वात्, न खलु काचः स्वरूपेणावैडूर्यमणिः सन् केनापि वैडूर्यमणीक्रियते, ततो निरर्थको मङ्गलोपन्यासो, मङ्गलत्वकार्याकरणात्, अथ मङ्गलीकर्त्तुमशक्यस्यापि मङ्गलमुपादीयते तथा लोकप्रवृत्तेः तर्ह्यनवस्थाप्रसङ्गः, तथाहि–यथा प्रागमङ्गलस्य सतः शास्त्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** मङ्गलत्रयस्य आवश्यकता वर्णयते

वि०भा० = विशेषावश्यक भाष्य, (वि०भा० में सर्वत्र विशेषावश्यक भाष्य की गाथा के संदर्भ दिये है)

उपोद्घाते ॥ ३ ॥

स्य मङ्गलमुच्यते एवं मङ्गलान्तरमपि वक्तव्यम्, आद्यमङ्गलाभिधानेऽपि तस्य तथैवामङ्गलत्वात्, एवं मङ्गलान्तराभिधानेऽप्यन्यन्मङ्गलान्तरमभिधातव्यं, न्यायस्य समानत्वात्, तत्राप्यन्यदित्यनवस्था, अथाभिन्नमिति पक्षः तर्हि शास्त्रमेव मङ्गलमित्यन्यमङ्गलोपादानमनर्थकं, अमङ्गले हि मङ्गलमुपादीयते, यस्तु स्वत एव मङ्गलं तत्र किं मङ्गलविधानेन ?, नहि शुक्लं शुक्लीक्रियते, नापि स्निग्धं स्नेह्यते, अथ मङ्गलभूतस्याप्यन्यन्मङ्गलमुपादीयते तर्हि तेनापि मङ्गलीभूतस्यान्यन्मङ्गलमुपादातव्यं, मङ्गलरूपत्वाविशेषात्, तत्राप्यन्यदित्यनवस्था, अथ मा भूत् प्रस्तुतार्थक्षितिरित्यनवस्था नेष्यते तर्हि शास्त्रस्यामङ्गलत्वप्रसङ्गः, कथमिति चेत्, उच्यते, इह यथा शास्त्रं स्वतो मङ्गलमपि अन्यमङ्गलनिरपेक्षममङ्गलं, अन्यथा अन्यमङ्गलोपादाननैरर्थक्यप्रसक्तेः, यदि हि अन्यमङ्गलनिरपेक्षमपि तन्मङ्गलं भवेत् तर्हि नान्यमङ्गलमपेक्षेत, स्वतः समर्थस्यान्यव्यपेक्षाया अयोगात्, अन्यमङ्गलव्यपेक्षा चेत् नूनममङ्गलता, तस्य स्वरूपत एव मङ्गलस्याप्यन्यमङ्गलशून्यस्यामङ्गलतेति, अनवस्थाऽनिष्टौ मङ्गलममङ्गलं, तद्योगाच्छास्त्रमप्यमङ्गलमित्यमङ्गलता शास्त्रस्येति, अत्रोच्यते, इहाद्यः पक्षस्तावन्नाभ्युपगम्यते, ततोऽनभ्युपगमतिरस्कृतत्वादेव न नः क्षितिमावहति, यदिवा सोऽप्यभ्युपगम्यते, न च प्रागुक्तदोषावकाशः, यतो द्विविधानि जगति वस्तूनि–भाव्यानि अभाव्यानि च, तत्र काचादीन्यभाव्यानीति न तानि वैडूर्यरूपतया कर्तुं शक्यन्ते, शास्त्राणि तु भाव्यानि, ततः स्वरूपेणामङ्गलान्यपि तानि मङ्गलरूपतया परिणम्यन्ते, मङ्गलस्य स्वपरतद्रूपताऽऽपादने समर्थत्वात्, लवणप्रदीपादिवत्, यथा हि प्रदीपः स्वपरप्रकाशनसमर्थत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति, यथा वा लवणं स्वपरलवणिमस्वभावापादने समर्थतया स्वं परं च लवणयति, एवं मङ्गलमपि स्वपर-

मंगलत्रय-स्यावश्य-कता

॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मङ्गलकरणसमर्थत्वात् स्वं परं च मङ्गलयतीति न कश्चिद्दोषः, द्वितीयपक्षेऽपि न मङ्गलोपादाननैरर्थक्यं, शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहाय शास्त्रस्यैव मङ्गलत्वानुवादात्, तथाहि–कथं नु नाम विनेयो मङ्गलमिदं शास्त्रमित्येवं गृह्णीयादिति मङ्गलोपन्यासेन मङ्गलमिदं शास्त्रमिति प्रबोध्यते, न चैवमनवस्था, प्रथममङ्गलोपन्यासे च शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहस्य कृतत्वात् अन्यमङ्गलाकाङ्क्षाया निवृत्तेः, न च शास्त्रस्यामङ्गलत्वप्रसक्तिः, अन्यमङ्गलनिरपेक्षस्य तस्य स्वतो मङ्गलत्वात्, मङ्गलं ह्यन्यदुपादीयते न शास्त्रस्य मङ्गलत्वकरणाय, तस्य स्वत एव मङ्गलत्वात्, किन्तु ?, शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहाय, ततः कथमन्यमङ्गलोपादानेऽनवस्थानिष्टौ शास्त्रस्यामङ्गलत्वमिति, ननु यदि शास्त्रं स्वतो मङ्गलं तर्हि यद्यपि मङ्गलमिदं शास्त्रमित्येवं न गृह्णाति विनेयस्तथापि तत्स्वकार्यप्रसाधनसमर्थमेव, तस्य तथारूपभावत्वादिति कथमन्यमङ्गलोपादानं न निरर्थकमिति?, तदेतदसम्यक्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, इह विचित्रा भावानां शक्तयः, किञ्चित्तथास्वरूपेण गृह्यमाणं स्वकार्यप्रसाधनसमर्थं यथा सुवर्णं, सुवर्णं हि सुवर्णरूपतया परिगृह्यमाणं स्वफलप्रदानसमर्थं न लोष्टादिरूपतयेति, किञ्चित्तथास्वरूपेणागृह्यमाणमपि यथा किञ्चिदनिष्टमन्तःसमुत्थव्याध्यादिकं, तद्धि तथास्वरूपेणाविदितमपि स्वफलं दुःखमुत्पादयति, मङ्गलमपि मङ्गलबुद्ध्या परिगृह्यमाणं मङ्गलफलसाधनायालं नान्यथा साधुवत्, तथाहि–साधुः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामपरिणतो भावितात्मा क्षान्तिनिधानं 'समणं संजयं दंत' मिति वचनात् मङ्गलभूतोऽपि मङ्गलबुद्ध्यैव परिगृह्यमाणः सन् प्रशस्तचेतोवृत्तेर्भव्यस्य मङ्गलकार्यप्रसाधको भवति, यदि तु तथा न गृह्यते तर्हि तस्य कालुष्योपहतचेतसः सत्त्वस्य न भवतीति, एवं शास्त्रमपि स्वतो मङ्गलमपि सत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

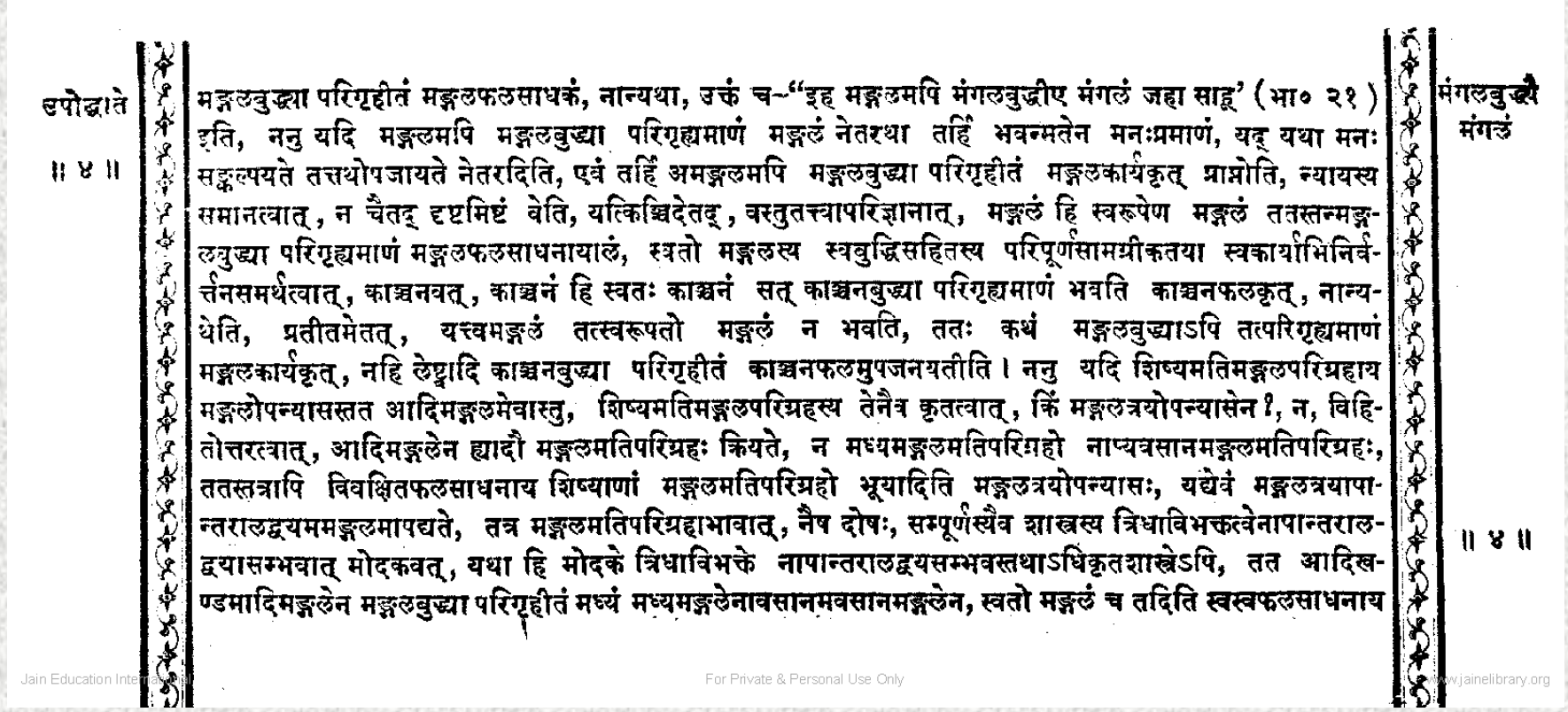

उपोद्घाते ॥ ४ ॥

मङ्गलबुद्ध्या परिगृहीतं मङ्गलफलसाधकं, नान्यथा, उक्तं च–"इह मङ्गलमपि मंगलबुद्धीए मंगलं जहा साहू' (भा० २१) इति, ननु यदि मङ्गलमपि मङ्गलबुद्ध्या परिगृह्यमाणं मङ्गलं नेतरथा तर्हि भवन्मतेन मनःप्रमाणं, यद् यथा मनः सङ्कल्पयते तत्तथोपजायते नेतरदिति, एवं तर्हि अमङ्गलमपि मङ्गलबुद्ध्या परिगृहीतं मङ्गलकार्यकृत् प्राप्नोति, न्यायस्य समानत्वात्, न चैतद् दृष्टमिष्टं वेति, यत्किञ्चिदेतद्, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, मङ्गलं हि स्वरूपेण मङ्गलं ततस्तन्मङ्गलबुद्ध्या परिगृह्यमाणं मङ्गलफलसाधनायालं, स्वतो मङ्गलस्य स्वबुद्धिसहितस्य परिपूर्णसामग्रीकतया स्वकार्याभिनिर्वर्त्तनसमर्थत्वात्, काञ्चनवत्, काञ्चनं हि स्वतः काञ्चनं सत् काञ्चनबुद्ध्या परिगृह्यमाणं भवति काञ्चनफलकृत्, नान्यथेति, प्रतीतमेतत्, यत्त्वमङ्गलं तत्स्वरूपतो मङ्गलं न भवति, ततः कथं मङ्गलबुद्ध्याऽपि तत्परिगृह्यमाणं मङ्गलकार्यकृत्, नहि लेष्ट्वादि काञ्चनबुद्ध्या परिगृहीतं काञ्चनफलमुपजनयतीति। ननु यदि शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहाय मङ्गलोपन्यासस्तत आदिमङ्गलमेवास्तु, शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहस्य तेनैव कृतत्वात्, किं मङ्गलत्रयोपन्यासेन?, न, विहितोत्तरत्वात्, आदिमङ्गलेन ह्यादौ मङ्गलमतिपरिग्रहः क्रियते, न मध्यमङ्गलमतिपरिग्रहो नाप्यवसानमङ्गलमतिपरिग्रहः, ततस्तत्रापि विवक्षितफलसाधनाय शिष्याणां मङ्गलमतिपरिग्रहो भूयादिति मङ्गलत्रयोपन्यासः, यद्येवं मङ्गलत्रयापान्तरालद्वयममङ्गलमापद्यते, तत्र मङ्गलमतिपरिग्रहाभावात्, नैष दोषः, सम्पूर्णस्यैव शास्त्रस्य त्रिधाविभक्तत्वेनापान्तरालद्वयासम्भवात् मोदकवत्, यथा हि मोदके त्रिधाविभक्ते नापान्तरालद्वयसम्भवस्तथाऽधिकृतशास्त्रेऽपि, तत आदिखण्डमादिमङ्गलेन मङ्गलबुद्ध्या परिगृहीतं मध्यं मध्यमङ्गलेनावसानमवसानमङ्गलेन, स्वतो मङ्गलं च तदिति स्वस्वफलसाधनाय

मंगलबुद्ध्या मंगलं

॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभवति, अथ शास्त्रस्य कथं स्वतो मङ्गलता ?, उच्यते, निर्जरार्थत्वात्, तथा चात्र प्रयोगः–अधिकृतं शास्त्रं सकलमपि मङ्गलं निर्जरार्थत्वात् तपोवत्, अथ कथमस्य निर्जरार्थतेति चेत्, उच्यते, ज्ञानरूपत्वात्, ज्ञानस्य च कर्म्मनिर्जरण-हेतुत्वात्, उक्तं च–"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं । तन्नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेणं ॥ १ ॥" [यदज्ञानी कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः । तत् ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १ ॥] तस्मात् स्थितमे-तत्–शास्त्रस्यादौ मध्येऽवसाने च मङ्गलमुपादेयमिति ।

अथ मङ्गलमिति कः शब्दार्थः?, उच्यते, 'अगु वगु मगु' इत्यादि दण्डकधातुः, 'उदितः' इति नम्, मङ्क्षयते अधि-गम्यते प्राप्यते इतियावत् हितमनेनेति मङ्गलं "मृदिकन्दिकुण्डिपटिपाटिमङ्गिशकिमंडिकेवृयमिचञ्चिदेवृशलिकलिकमपलि-गुध्वञ्चिचपिवहिदिहिकुहितृसृपिशितुसिकुस्यनिद्रमेरल" इत्यलप्रत्ययः, अथवा मङ्क्षयते–प्राप्यते स्वर्गोऽपवर्गो वाऽनेनेति मङ्गः-'पुन्नाम्नी'ति करणे घप्रत्ययः, मङ्गो नाम धर्म्मः, तथाऽत्र पूर्ववैयाकरणप्रसिद्धेः, तं लाति–आदत्ते इति मङ्गलं, 'आतोऽनुपसर्गा, दह्वावामः' इति डप्रत्ययः, मङ्गो नाम धर्मः धर्म्मोपादानहेतुरिति भावः, उक्तं च–'मंगिज्जएऽधिगम्मइ जेण हियं तेण मंगलं होइ । अहवा मंगो धम्मो तं लाइ तयं समादत्ते ॥१॥" (भा०) अपरे पुनरेवं व्युत्पत्तिमाचक्षते–मडु भूषायां, मण्ड्यते–शास्त्र-मलङ्क्रियतेऽनेनेति मङ्गलं पूर्ववदलप्रत्ययः, अथवा 'मन् ज्ञाने' मन्यते–ज्ञायते निश्चीयते विघ्नाभावोऽनेनेति मङ्गलं, यदिवा 'मदै हर्षे' माद्यन्ति–विघ्नाभावेन हृष्यन्ति शिष्या अनेन 'मह पूजायां' वा मह्यते–पूज्यते शास्त्रमनेनेति मङ्गलं, सर्वत्र "विरलोरलक-पिंजलयुगलभगलकुन्तलोत्पलकोमलपिङ्गलकाहलादय" इत्यलप्रत्ययो निपातनाच्च विवक्षितरूपनिष्पत्तिः, नैरुक्ताः पुनरेवं–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र 'मङ्गल' शब्दस्य अर्थ दर्शयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [–]

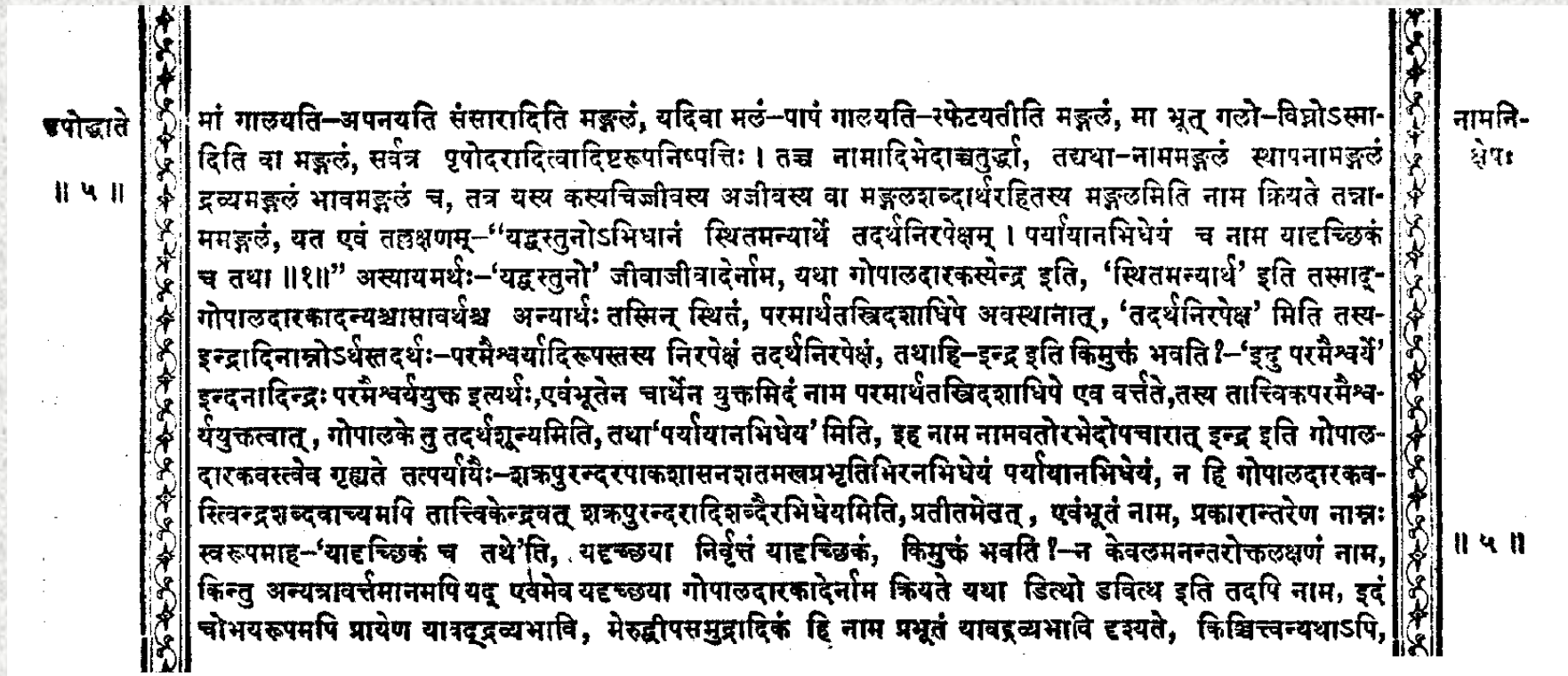

पोद्घाते

॥ ५ ॥

मां गालयति–अपनयति संसारादिति मङ्गलं, यदिवा मलं–पापं गालयति–स्फेटयतीति मङ्गलं, मा भूत् गलो–विघ्नोऽस्मादिति वा मङ्गलं, सर्वत्र पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः। तच्च नामादिभेदाच्चतुर्धा, तद्यथा–नाममङ्गलं स्थापनामङ्गलं द्रव्यमङ्गलं भावमङ्गलं च, तत्र यस्य कस्यचिज्जीवस्य अजीवस्य वा मङ्गलशब्दार्थरहितस्य मङ्गलमिति नाम क्रियते तन्नाममङ्गलं, यत एवं तल्लक्षणम्–"यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम्। पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥१॥" अस्यायमर्थः–'यद्वस्तुनो' जीवाजीवादेर्नाम, यथा गोपालदारकस्येन्द्र इति, 'स्थितमन्यार्थ' इति तस्माद्गोपालदारकादन्यश्चासावर्थश्च अन्यार्थः तस्मिन् स्थितं, परमार्थतस्त्रिदशाधिपे अवस्थानात्, 'तदर्थनिरपेक्ष' मिति तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थस्तदर्थः–परमैश्वर्यादिरूपस्तस्य निरपेक्षं तदर्थनिरपेक्षं, तथाहि–इन्द्र इति किमुक्तं भवति?–'इदु परमैश्वर्ये' इन्दनादिन्द्रः परमैश्वर्ययुक्त इत्यर्थः,एवंभूतेन चार्थेन युक्तमिदं नाम परमार्थतस्त्रिदशाधिपे एव वर्त्तते,तस्य तात्त्विकपरमैश्वर्ययुक्तत्वात्, गोपालके तु तदर्थशून्यमिति, तथा'पर्यायानभिधेय' मिति, इह नाम नामवतोरभेदोपचारात् इन्द्र इति गोपालदारकवस्त्वेव गृह्यते तत्पर्यायैः–शक्रपुरन्दरपाकशासनशतमखप्रभृतिभिरनभिधेयं पर्यायानभिधेयं, न हि गोपालदारकवस्त्विन्द्रशब्दवाच्यमपि तात्त्विकेन्द्रवत् शक्रपुरन्दरादिशब्दैरभिधेयमिति,प्रतीतमेतत्, एवंभूतं नाम, प्रकारान्तरेण नाम्नः स्वरूपमाह–'यादृच्छिकं च तथे'ति, यदृच्छया निर्वृत्तं यादृच्छिकं, किमुक्तं भवति?–न केवलमनन्तरोक्तलक्षणं नाम, किन्तु अन्यत्रावर्त्तमानमपि यद् एवमेव यदृच्छया गोपालदारकादेर्नाम क्रियते यथा डित्थो डवित्थ इति तदपि नाम, इदं चोभयरूपमपि प्रायेण यावद्द्रव्यभावि, मेरुद्वीपसमुद्रादिकं हि नाम प्रभूतं यावद्द्रव्यभावि दृश्यते, किञ्चित्त्वन्यथाऽपि,

नामनिक्षेपः

॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** मङ्गल शब्दस्य नाम-आदि निक्षेपा: दर्शयन्ते

देवदत्तादिनामवाच्यानां विद्यमानानामपि अपरापरनामपरावर्त्तस्य लोके दर्शनात्, यदपि च सिद्धान्तेऽभिहितं 'नाम आवकहियं'ति तत् प्रतिनियतां जनपदादिसंज्ञामधिकृत्य, यथोत्तराः कुरव इत्यादि, नाम च तन्मङ्गलं च नाममङ्गलं, यदा तु वस्तु वाच्यं विवक्ष्यते तदैवं व्युत्पत्तिः–नाम्ना मङ्गलं नाममङ्गलं, यद्वा नामनामवतोरभेदोपचारात् नाम च तत् मङ्गलं च नाममङ्गलं, तच्च नामरूपं मङ्गलं त्रिधा, तद्यथा–जीवविषयमजीवविषयमुभयविषयं च, तत्र जीवविषयं यथा सिन्धुविषये अग्नेर्मङ्गलमिति नाम, अजीवविषयं यथा लाटदेशे दवरकवलनकस्य मङ्गलमिति नाम, उभयविषयं यथा वंदनमालाया मङ्गलमिति नाम, अत्र हि दवरकादीन्यचेतनानि पत्रादीनि तु सचेतनानीति जीवाजीवरूपता वन्दनमालायाः। तथा सद्भावमाश्रित्य लेप्यकर्मादिष्वसद्भावं चाश्रित्याक्षवराटादिषु या स्वस्तिकादीनां स्थापना सा स्थापनामङ्गलं, स्थापना चासौ मङ्गलं च तत् स्थापनामङ्गलमिति व्युत्पत्तेः, स्थापनालक्षणं चेदं–'यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि। लेप्यादि कर्म्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालं च ॥ १ ॥" अस्यायमर्थः–तत्स्थापनेत्यभिधीयते, यत्किमित्याह– 'यत्तु' यत्पुनः, तुशब्दो नामलक्षणात् स्थापनालक्षणस्य भेदमाह, 'तुः स्याद्धेदेऽवधारणे' इति वचनात्, 'तदर्थवियुक्त'मिति स चासावर्थश्च तदर्थः–सद्भूतेन्द्रलक्षणः तेन वियुक्तं–शून्यं तदर्थवियुक्तं, अथ च 'तदभिप्रायेणे'ति तस्य–सद्भूतेन्द्रस्याभिप्रायो–बुद्धिरध्यवसायस्तदभिप्रायस्तेन तद्बुद्ध्येत्यर्थः, कृतमित्यादि गम्यते, कथंभूतमित्याह–यच्च 'तत्करणि' तस्यैव–सद्भूतेन्द्रस्यैव करणिः–आकृतिराकारो यस्य तत् तत्करणि–सद्भूतेन्द्रसमानाकारं लेप्यादिकर्मेति भावार्थः, चशब्दात्तदाकृतिशून्यं चाऽक्षनिक्षेपादि तत्स्थापना, तच्चाल्पकालं–इत्वरं, चशब्दाद्यावद्द्रव्यभावि च, उक्तं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

चानुयोगद्वारे–"नाम आवकहियं ठवणा इत्तरिया वा होज्जा आवकहिआ वा" भाष्यकारोऽप्याह–"जं पुण तयत्थसुन्नं तयभिप्पाएण तारिसागारं। कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥१॥" (भा. २५)। सम्प्रति द्रव्यमङ्गलमभिधातव्यं, तत्र द्रव्यमिति–द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं, 'कृद्बहुल'मिति वचनात् कर्त्तरि यः, द्रव्यं च तन्मङ्गलं च द्रव्यमङ्गलं, तल्लक्षणमिदम्–"भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके। तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥१॥" अस्यायमर्थः–भूतस्य–अतीतस्य भाविनो वा–एष्यतः भावस्य–पर्यायस्य कारणं–निमित्तं यदस्मिन् लोके तत् तत्त्वज्ञैः–सर्वज्ञैः तीर्थकृद्भिरितियावत् द्रव्यं कथितं, द्रवति–गच्छति तांस्तान् पर्यायान् अग्रेतनान् प्राचीनांश्च मुञ्चतीति द्रव्यमिति व्युत्पत्त्यर्थानुगमात्, तच्च द्विधा–सचेतनमचेतनं च, तत्र सचेतनं अनुपयुक्तपुरुषाख्यं, अचेतनं ज्ञशरीरादीति, उक्तं द्रव्यलक्षणम्, अधुना प्रकृतमुपयुज्यते, द्रव्यमङ्गलं द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आ–समन्तात् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागमः–श्रुतज्ञानं आगममधिकृत्यागमतः, 'स्थानियपः कर्माधारे' इति कर्मणि पञ्चमी, यथा प्रासादमारुह्य प्रेक्षते इत्यर्थे प्रासादात् प्रेक्षते इत्यत्र, आगमापेक्षयेति भावार्थः, आगमस्याभावः आगमस्य एकदेशो वा आगमेन सह मिश्रणं वा नोआगमः, नोशब्दस्य त्रिष्वप्यर्थेषु वर्त्तमानत्वात्, नोआगममधिकृत्य नोआगमतः, तत्र आगमतो मङ्गलशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, स हि मङ्गलशब्दार्थवासितान्तःकरणतया तज्ज्ञानलब्धिसहितो नोपयुक्त इति 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात् द्रव्यम्, आह च भाष्यकृत्–"आगमओऽणुवउत्तो मंगलसद्दाणुवासिओ वत्ता। तन्नाणलद्धिसहिओऽवि नोवउत्तोत्ति तो दव्वं ॥ १ ॥" (भा. २९) नन्वागमो मङ्गलशब्दार्थपरिज्ञानमागमः श्रुतज्ञानमिति पूर्वमभि-

Jain Education Inter For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

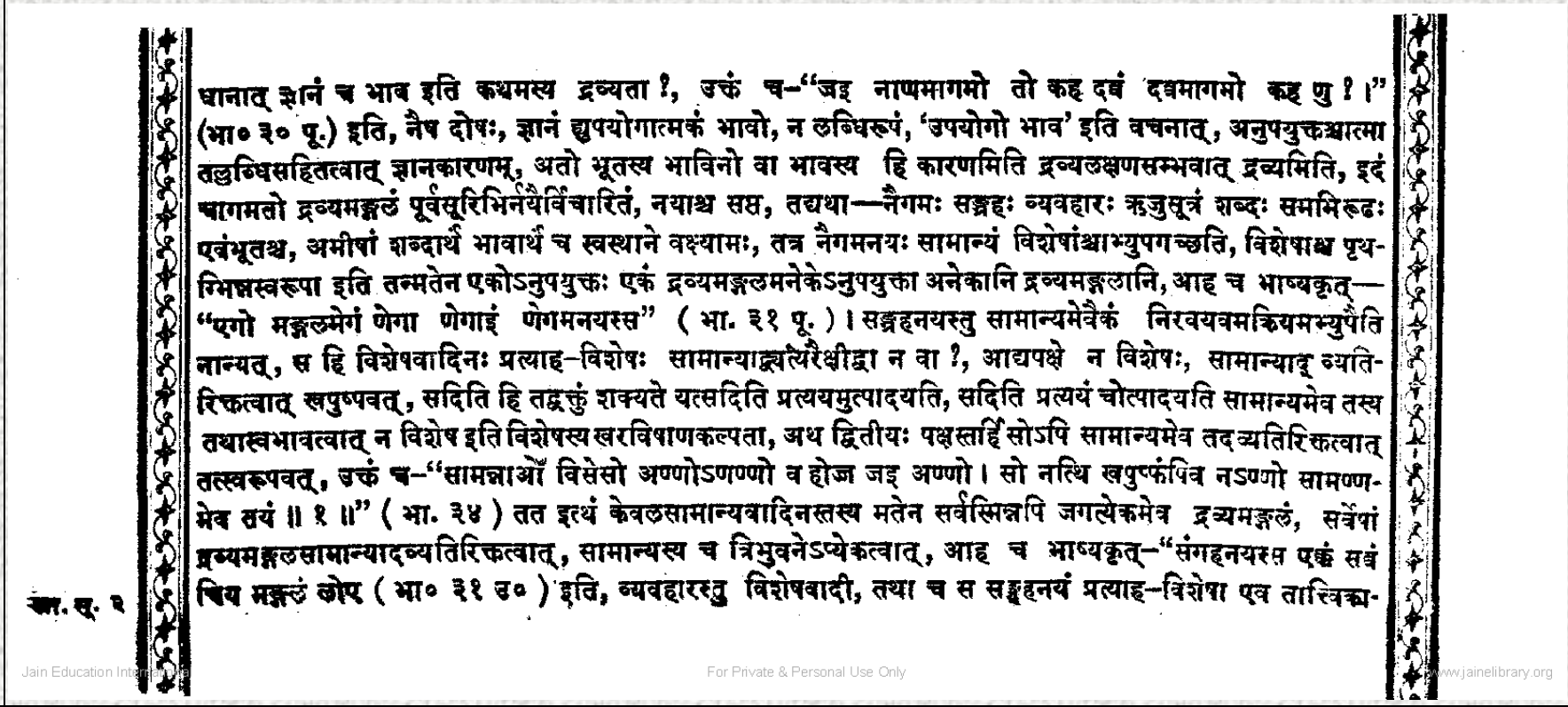

धानात् ज्ञानं च भाव इति कथमस्य द्रव्यता ?, उक्तं च–"जइ नाणमागमो तो कह दवं दवमागमो कह णु ? ।" (भा० ३० पू.) इति, नैष दोषः, ज्ञानं ह्युपयोगात्मकं भावो, न लब्धिरूपं, 'उपयोगो भाव' इति वचनात्, अनुपयुक्तश्चात्मा तल्लब्धिसहितत्वात् ज्ञानकारणम्, अतो भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणमिति द्रव्यलक्षणसम्भवात् द्रव्यमिति, इदं चागमतो द्रव्यमङ्गलं पूर्वसूरिभिर्नयैर्विचारितं, नयाश्च सप्त, तद्यथा—नैगमः सङ्ग्रहः व्यवहारः ऋजुसूत्रं शब्दः समभिरूढः एवंभूतश्च, अमीषां शब्दार्थं भावार्थं च स्वस्थाने वक्ष्यामः, तत्र नैगमनयः सामान्यं विशेषांश्चाभ्युपगच्छति, विशेषाश्च पृथग्भिन्नस्वरूपा इति तन्मतेन एकोऽनुपयुक्तः एकं द्रव्यमङ्गलमनेकेऽनुपयुक्ता अनेकानि द्रव्यमङ्गलानि, आह च भाष्यकृत्—"एगो मङ्गलमेगं णेगा णेगाइं णेगमनयस्स" (भा. ३१ पू.) । सङ्ग्रहनयस्तु सामान्यमेवैकं निरवयवमक्रियमभ्युपैति नान्यत्, स हि विशेषवादिनः प्रत्याह–विशेषः सामान्याद्व्यतिरेक्षीद्वा न वा ?, आद्यपक्षे न विशेषः, सामान्याद् व्यतिरिक्तत्वात् खपुष्पवत्, सदिति हि तद्वक्तुं शक्यते यत्सदिति प्रत्ययमुत्पादयति, सदिति प्रत्ययं चोत्पादयति सामान्यमेव तस्य तथास्वभावत्वात् न विशेष इति विशेषस्य खरविषाणकल्पता, अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि सोऽपि सामान्यमेव तदव्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवत्, उक्तं च–"सामन्नाओ विसेसो अण्णोऽणण्णो व होज्ज जइ अण्णो । सो नत्थि खपुप्फंपिव नऽण्णो सामण्णमेव तयं ॥ १ ॥" (भा. ३४) तत इत्थं केवलसामान्यवादिनस्तस्य मतेन सर्वस्मिन्नपि जगत्येकमेव द्रव्यमङ्गलं, सर्वेषां द्रव्यमङ्गलसामान्याद्व्यतिरिक्तत्वात्, सामान्यस्य च त्रिभुवनेऽप्येकत्वात्, आह च भाष्यकृत्–"संगहनयस्स एक्कं सव्वं चिय मङ्गलं लोए (भा० ३१ उ०) इति, व्यवहारस्तु विशेषवादी, तथा च स सङ्ग्रहनयं प्रत्याह–विशेषा एव तात्त्विक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तेषामेव दोहवाहादिक्रियासूपयुज्यमानत्वात्, न सामान्यं तद्विपर्ययात्, न च तत् सदिति प्रत्येतुं शक्नुमः अनुपलम्भात्, नहि गवादीनिव विशेषान् शृङ्गग्राहिकया तेभ्यो व्यतिरिक्तं गोत्वादिसामान्यं पश्यामो, न चापश्यन्त आत्मानं विप्रलभेमहि, ततः कथं तदभ्युपगच्छामः ?, उपलंभव्यवहाराभावात्, उक्तं च–'न विसेसत्थंतरभूयं अत्थि सामन्नमाह ववहारो । उवलंभववहाराभावाओ खरविसाणं व ॥ १ ॥' (भा० ३५) एवं चास्यापि मतेन नैगमनयस्येव एकोऽनुपयुक्त एकं द्रव्यमङ्गलं, भूयांसोऽनुपयुक्ता भूयांसि द्रव्यमङ्गलानि, ननु नैगमोऽपि विशेषानिच्छति व्यवहारोऽपि ततः कोऽनयोः प्रतिविशेषः ?, उच्यतेत् नैगमः सामान्यमिच्छति विशेषांश्च व्यवहारस्तु विशेषानेवेति, सिद्धसेनीयाः पुनः षडेव नयानभ्युपगतवन्तः, नैगमस्य सङ्ग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात्, तथाहि–यदा नैगमः सामान्यप्रतिपत्तिपरस्तदा स सङ्ग्रहेऽन्तर्भवति सामान्याभ्युपगमपरत्वात् विशेषाभ्युपगमनिष्ठस्तु व्यवहारे, आह च सिद्धसेनीयमतमुपसंजिघृक्षुर्भाष्यकृत्–"जो सामन्नग्गाही स नेगमो संगहं गओ अहवा । इयरो ववहारमिओ जो तेण समाणनिद्देसो ॥ १ ॥" (भा० ३९) ततः सिद्धसेनीयाभिप्रायेण षड्भिरेव नयैरागमतो द्रव्यमङ्गलविचारः कर्त्तव्यः न सप्तभिरिति, ऋजुसूत्रस्वभिधत्ते–यदतीतं यच्चानागतं यच्च सदपि परकीयं तदवस्तु, अतीतस्य विनष्टत्वात् अनागतस्य त्वलब्धात्मलाभत्वात् परकीयस्य चार्थक्रियाकारित्वाभावात्, देवदत्तधनं हि यज्ञदत्तस्य परमार्थतोऽसत् तत्कार्याकरणादिति, प्रतिप्राणि प्रसिद्धमेतत्, किन्तु यत् सत् स्वकीयं तदेवैकं वस्तु, ततोऽस्य मतेनैकमेव द्रव्यमङ्गलं न भूयांसीति, उक्तं च–"उज्जुसुयस्स सयं संपयं च जं मंगलं तयं एकं । नातीतमणुप्पन्नं मंगलमिट्ठं परकं वा ॥ १ ॥ (भा० ४०) ये तु शब्दसमभिरूढैवं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूता नयाः ते अत्यन्तविशुद्धत्वादागमतो द्रव्यमङ्गलमित्येव नानुमन्यन्ते, तथा च ते आहुः–आगमतो हि द्रव्यमङ्गलमिदमुच्यते मङ्गलशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्त इति, तदेतत्परस्परव्याहतं, यदि मङ्गलशब्दार्थज्ञाता तर्हि कथमनुपयुक्तः ?, अनुपयुक्तश्चेत् कथं मङ्गलशब्दार्थज्ञाता, ज्ञानस्योपयोगात्मकत्वात् तदभावे तस्याप्यभावात्, न खलु जीवश्चेतनारहित इति शक्यं प्रतिपत्तुं सचेतसेति, उक्तं च–"जाणं नाणुवउत्तोऽणुवउत्तो वा न जाणई जम्हा। जाणंतोऽणुवउत्तोत्ति विंति सद्दादओऽवत्थुं ॥१॥" (भा० ४२) इत्थं चागमतो द्रव्यमङ्गलस्य नयैर्विचारः सूत्रेऽपि साक्षात् संवादी, तथा चानुयोगद्वारेष्वागमतो द्रव्यावश्यकमधिकृत्य सूत्रं–"नेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं दुन्नि अणुवउत्ता दोन्नि दव्वावस्सयाइं तिन्नि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं, एवं जावइया अणुवउत्ता आगमतो तावइयाइं नेगमस्स दव्वावस्सयाइं, एवमेव ववहारस्सवि, संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा दव्वावस्सयं वा दव्वावस्सयाइं वा से एगं दव्वावस्सयं, उजुसुयस्स आगमतो एगं दव्वावस्सयं, पुहुत्तं नेच्छइ, तिण्हं सद्दनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थू, कम्हा ?, जइ जाणए अणुवउत्ते न भवइ" इति। उक्तमागमतो द्रव्यमङ्गलमधुना नोआगमतोऽभिधीयते, तच्च त्रिधा, तद्यथा–ज्ञशरीरद्रव्यमङ्गलं भव्यशरीरद्रव्यमङ्गलं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यमङ्गलं च, तत्र यन्मङ्गलपदार्थज्ञस्यापगतजीवितस्य शरीरं सिद्धिशिलातलादिगतं तद्भूतभावनया घृतमस्मिन् कुम्भे प्रक्षिप्तमासीदित्येष घृतकुम्भ इत्यादिवदतीतनयानुवृत्त्या ज्ञशरीरद्रव्यमङ्गलं, यस्तु बालको नेदानीं मङ्गलशब्दार्थमवबुध्यते अथचावश्यमायत्यां तेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण भोत्स्यते स भाविभावनिबन्धनत्वाद् घृतमस्मिन् कुम्भे प्रक्षप्स्यते इत्येष घृतकुम्भ इत्यादिवद् भविष्यन्नयानुस-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

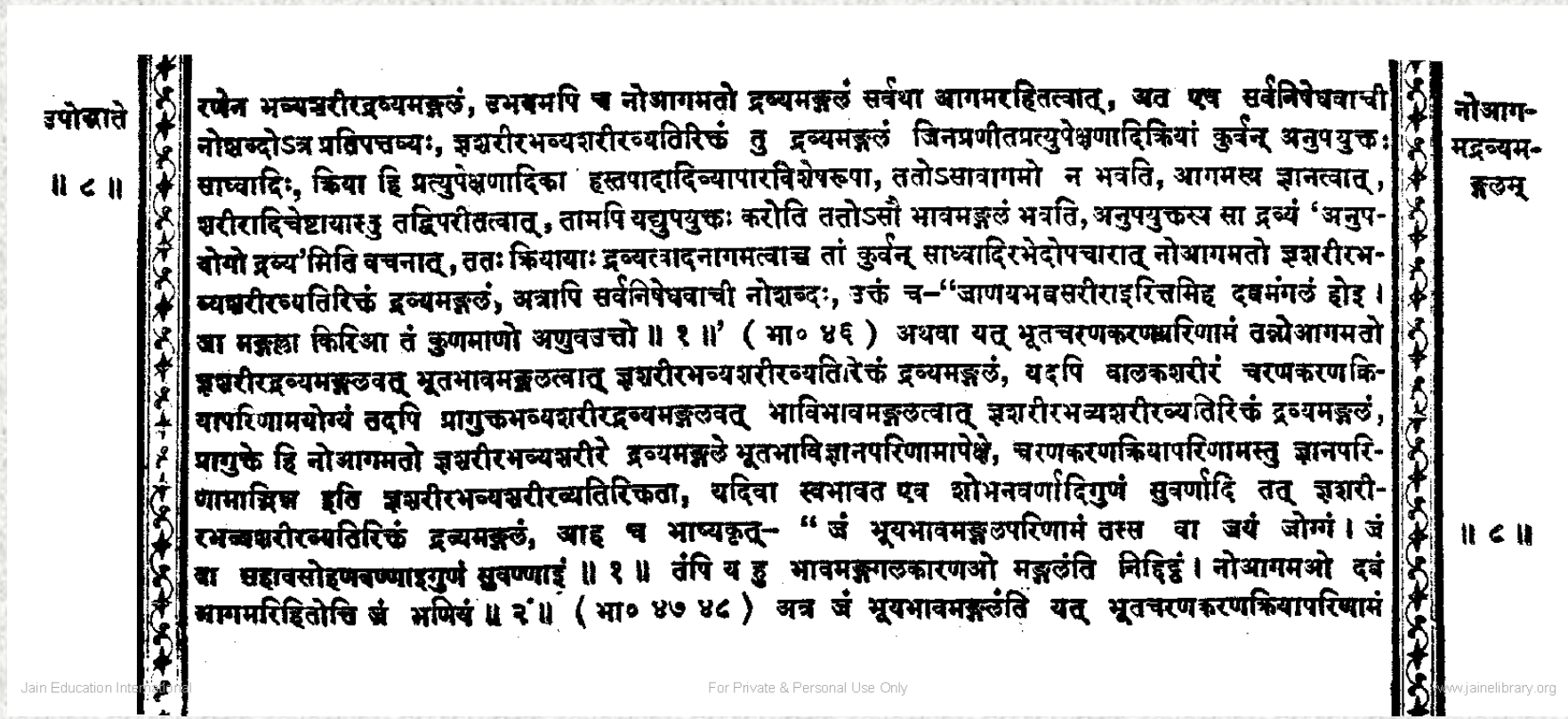

उपोद्घाते ॥ ८ ॥

रणेन भव्यशरीरद्रव्यमङ्गलं, इहभवमपि च नोआगमतो द्रव्यमङ्गलं सर्वथा आगमरहितत्वात्, अत एव सर्वनिषेधवाची नोशब्दोऽत्र प्रतिपत्तव्यः, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यमङ्गलं जिनप्रणीतप्रत्युपेक्षणादिक्रियां कुर्वन् अनुपयुक्तः साध्वादिः, क्रिया हि प्रत्युपेक्षणादिका हस्तपादादिव्यापारविशेषरूपा, ततोऽसावागमो न भवति, आगमस्य ज्ञानत्वात्, शरीरादिचेष्टायास्तु तद्विपरीतत्वात्, तामपि यद्युपयुक्तः करोति ततोऽसौ भावमङ्गलं भवति, अनुपयुक्तस्य सा द्रव्यं 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, ततः क्रियायाः द्रव्यत्वादनागमत्वाच्च तां कुर्वन् साध्वादिरभेदोपचारात् नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यमङ्गलं, अत्रापि सर्वनिषेधवाची नोशब्दः, उक्तं च–"जाणयभवसरीराइरित्तमिह दव्वमंगलं होइ। आ मङ्गला किरिआ तं कुणमाणो अणुवउत्तो ॥ १ ॥' (भा० ४६) अथवा यत् भूतचरणकरणक्रियापरिणामं तन्नोआगमतो ज्ञशरीरद्रव्यमङ्गलवत् भूतभावमङ्गलत्वात् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरेकं द्रव्यमङ्गलं, यदपि बालकशरीरं चरणकरणक्रियापरिणामयोग्यं तदपि प्रागुक्तभव्यशरीरद्रव्यमङ्गलवत् भाविभावमङ्गलत्वात् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यमङ्गलं, प्रागुक्ते हि नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरे द्रव्यमङ्गले भूतभाविज्ञानपरिणामापेक्षे, चरणकरणक्रियापरिणामस्तु ज्ञानपरिणामाद्भिन्न इति ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तता, यदिवा स्वभावत एव शोभनवर्णादिगुणं सुवर्णादि तत् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यमङ्गलं, आह च भाष्यकृत्– "जं भूयभावमङ्गलपरिणामं तस्स वा जयं जोग्गं। जं वा सहावसोहणवण्णाइगुणं सुवण्णाइं ॥ १ ॥ तंपि य हु भावमङ्गलकारणओ मङ्गलंति निद्दिट्ठं। नोआगमओ दव्वं आगमरहितोत्ति जं भणियं ॥ २ ॥ (भा० ४७ ४८) अत्र जं भूयभावमङ्गलंति यत् भूतचरणकरणक्रियापरिणामं

नोआगमद्रव्यमङ्गलम्

॥ ८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'तस्स वा जयं जोग्ग'मिति तस्य वा–चरणकरणक्रियापरिणामस्य यद्योग्यं बालकादिशरीरं, शेषं सुगमम्। उक्तं द्रव्यमङ्गलं, अधुना भावमङ्गलमभिधातव्यं, भावस्य च लक्षणमिदं–'भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः। सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥ १ ॥" अस्यायमर्थः–भवनं भावः, विवक्षितरूपेण परिणमनमित्यर्थः, यदिवा भवतीति भावः, 'सहादिदुनीभूग्रहो णो वे'ति कर्त्तरि णप्रत्ययः, विवक्षितरूपेण परिणत इत्यर्थः, सर्वज्ञैः समाख्यातः, कोऽसावित्याह–'विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तः' वक्तुर्या विवक्षिता इन्दनज्वलनजीवनादिका क्रिया तस्या अनुभूतिः–अनुभवनं तया युक्तो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तः, क इवेत्याह–इन्दनादिक्रियानुभवात्, अत्रादिशब्दात् ज्वलनजीवनादिक्रियापरिग्रहः, इन्द्रादिवत्–शक्रादिवत्, आदिशब्दाज्ज्वलनजीवादिपरिग्रहः, इन्दनादिक्रियानुभवयुक्तेन्द्रादिवदिति भावः, अत्र भावतो मङ्गलं भावमङ्गलं यदिवा भावश्चासौ मङ्गलं च भावमङ्गलं, तच्च द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो मङ्गलपदार्थस्य ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, 'उपयोगो भावनिक्षेप' इति वचनात्, ननु मङ्गलपदार्थज्ञानोपयोगमात्रेण कथं पुरुषो भावमङ्गलं भवति ?, न ह्यग्निज्ञानोपयुक्तो माणवकोऽग्निर्दहनपचनप्रकाशनाद्यर्थक्रियासाधकत्वाभावात्, तदेतदसम्यक्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, संवित् ज्ञानमवगमो भावोऽभिप्राय इत्यनर्थान्तरं, 'अर्थाभिधानप्रत्ययाश्च तुल्यनामधेयाः सर्वप्रवादिनामविसंवादेन स्थिताः' तथाहि–बाह्यः पृथुवुध्नोदराकारोऽर्थोऽपि घट इति व्यपदिश्यते, तद्वाचकमभिधानं घट इति, तज्ज्ञानरूपः प्रत्ययोऽपि घट इति, तथा च लोके वक्तारः–किमिदं पुरो दृश्यते ?, घटः, किमसौ वक्ति ?, घटं, किमस्य चेतसि स्फुरति ?, घटः, एवं च सति यदग्निरिति ज्ञानं तदव्यतिरेकात् माणवकोऽप्यग्निः ज्ञानज्ञानिनोः कथंचिदव्यतिरेकात्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

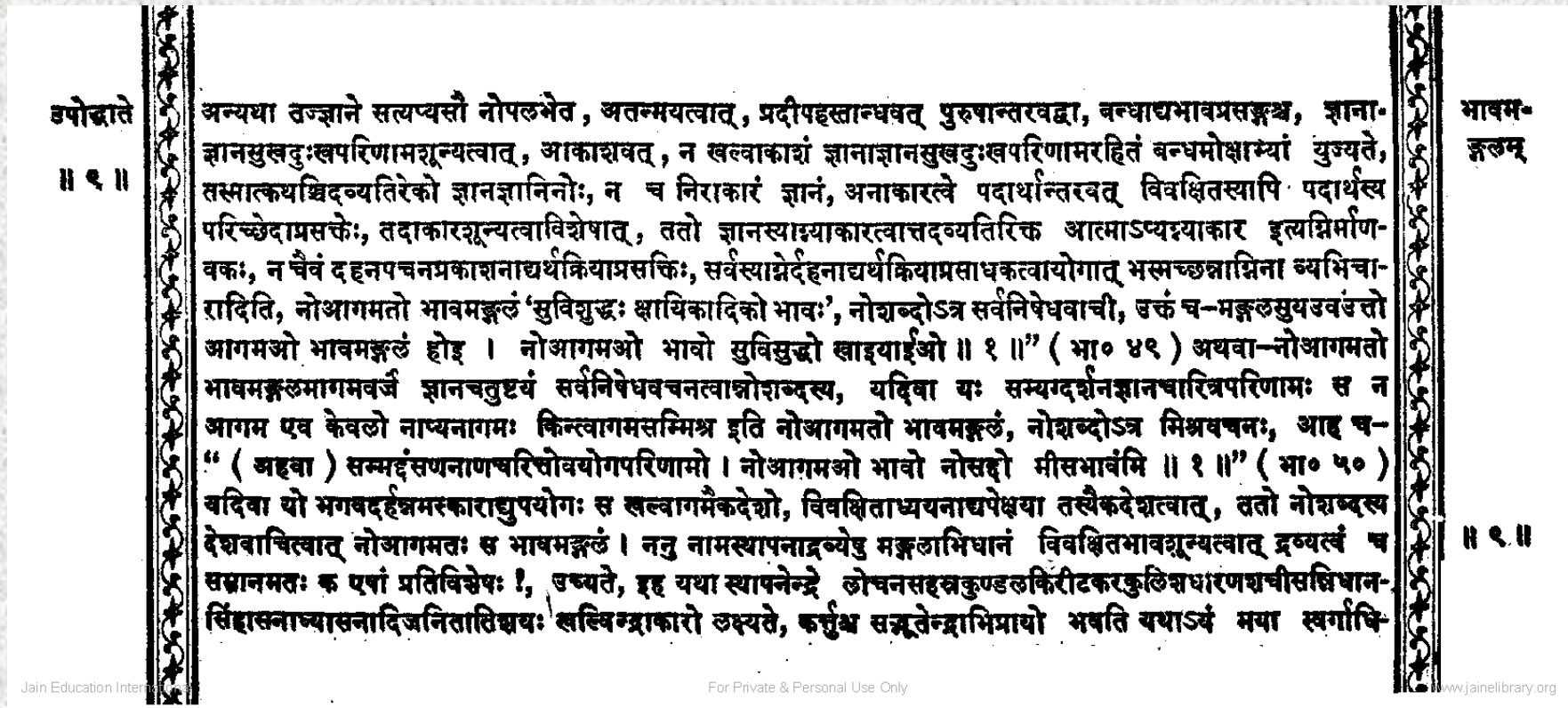

उपोद्घाते ॥ ९ ॥

अन्यथा तज्ज्ञाने सत्यप्यसौ नोपलभेत, अतन्मयत्वात्, प्रदीपहस्तान्धवत् पुरुषान्तरवद्वा, बन्धाद्यभावप्रसङ्गश्च, ज्ञानाज्ञानसुखदुःखपरिणामशून्यत्वात्, आकाशवत्, न खल्वाकाशं ज्ञानाज्ञानसुखदुःखपरिणामरहितं बन्धमोक्षाभ्यां युज्यते, तस्मात्कथञ्चिदव्यतिरेको ज्ञानज्ञानिनोः, न च निराकारं ज्ञानं, अनाकारत्वे पदार्थान्तरवत् विवक्षितस्यापि पदार्थस्य परिच्छेदाप्रसक्तेः, तदाकारशून्यत्वाविशेषात्, ततो ज्ञानस्याप्याकारत्वात्तदव्यतिरिक्त आत्माऽप्यहंप्रत्ययाकार इत्यग्निर्माणवकः, न चैवं दहनपचनप्रकाशनाद्यर्थक्रियाप्रसक्तिः, सर्वस्याग्नेर्दहनाद्यर्थक्रियाप्रसाधकत्वायोगात् भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारादिति, नोआगमतो भावमङ्गलं 'सुविशुद्धः क्षायिकादिको भावः', नोशब्दोऽत्र सर्वनिषेधवाची, उक्तं च–मङ्गलसुयउवउत्तो आगमओ भावमङ्गलं होइ । नोआगमओ भावो सुविसुद्धो खाइयाईओ ॥ १ ॥" (भा० ४९) अथवा–नोआगमतो भावमङ्गलमागमवर्जं ज्ञानचतुष्टयं सर्वनिषेधवचनत्वान्नोशब्दस्य, यदिवा यः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामः स न आगम एव केवलो नाप्यनागमः किन्त्वागमसम्मिश्र इति नोआगमतो भावमङ्गलं, नोशब्दोऽत्र मिश्रवचनः, आह च– " (अहवा) सम्मद्दंसणनाणचरित्तोवयोगपरिणामो । नोआगमओ भावो नोसद्दो मीसभावंमि ॥ १ ॥" (भा० ५०) यदिवा यो भगवदर्हन्नमस्काराद्युपयोगः स खल्वागमैकदेशो, विवक्षिताध्ययनाद्यपेक्षया तस्यैकदेशत्वात्, ततो नोशब्दस्य देशवाचित्वात् नोआगमतः स भावमङ्गलं । ननु नामस्थापनाद्रव्येषु मङ्गलाभिधानं विवक्षितभावशून्यत्वात् द्रव्यत्वं च समानमतः क एषां प्रतिविशेषः ?, उच्यते, इह यथा स्थापनेन्द्रे लोचनसहस्रकुण्डलकिरीटकरकुलिशधारणशचीसन्निधानसिंहासनाध्यासनादिजनितातिशयः सद्विवेन्द्राकारो लक्ष्यते, कर्तुश्च सद्भूतेन्द्राभिप्रायो भवति यथाऽयं मया स्वर्गाधि-

भावमङ्गलम्

॥ ९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतिः साक्षादालिखित इत्यादि, द्रष्टुश्च तदाकारदर्शनात् प्रत्ययो यथाऽयमिन्द्रो वर्त्तत इति, प्रणतिकृतश्च फलार्थिनः स्तोतुं प्रवर्त्तते, फलं च किञ्चिदभीष्टं देवतानियोगात् प्राप्नुवन्ति, न तथा नामेन्द्रे नापि द्रव्येन्द्रे, ततो नामद्रव्याभ्यामित्थं स्थापनाया विशेषः, उक्तं च–"आगारोऽभिप्पाओ बुद्धी किरिया फलं च पाएणं। जह दीसइ ठवणिंदे न तहा नामे न दविंदे ॥ १ ॥" (भा० ५३) यथा स द्रव्येन्द्रो भावेन्द्रकारणतां प्रतिपद्यते प्रतिपन्नवान् वा भावेन्द्रतां उपयोगापेक्षायामपि तदुपयोगतामासादयिष्यति अवाप्तवान् वा न तथा नामेन्द्रो नापि स्थापनेन्द्र इति नामस्थापनाभ्यां द्रव्यस्य विशेषः, स्थापनाद्रव्यलक्षणव्यतिरिक्तस्वरूपं तु नामेति द्रव्यस्थापनाभ्यां नाम्नो विभिन्नता, अपरस्त्वाह–भावमङ्गलमेवैकं भावानामेवार्थक्रियाकारित्वात् ये तु नामादयस्ते सङ्कल्पमात्रसम्पादितसत्ताका इति किं तेषामुपन्यासेन ?, तदेतदसम्यक्, नामादीनामपि भाववत्, तात्त्विकत्वात् तेषामपि भाववदविशेषेण शब्दतः प्रतीतेः, तथाहि—अविशिष्टे इन्द्रवस्तुन्युच्चरिते नामादिचतुष्टयमविशेषेण प्रतीतिमासादयति, किमनेन नामेन्द्रो विवक्षितः आहोश्चित् स्थापनेन्द्रो द्रव्येन्द्रो भावेन्द्रो वा इति ?, ततो यथा घट इत्युक्ते कोऽनेन घटो विवक्षितो रक्तः कृष्णः शुक्लः नीलो वेति शब्दतः प्रतीयमानाः सर्वेऽपि तात्त्विकास्तथैते नामादयोऽपीति, तथा च एतदेव साक्षेपपरिहारं भाष्यकृदाह–"इह भावोच्चिय वत्थुं तदत्थसुन्नेहिं किं नु सेसेहिं ?। नामादओऽवि भावा जं तेऽविहु वत्थुपज्जाया ॥१॥" (भा० ५५) अत्र 'वत्थुपज्जाया' इति इन्द्रादिरूपस्य सामान्यवस्तुनो विशेषाः, इतश्च नामस्थापनाद्रव्याणि तात्त्विकानि भावमङ्गलाङ्गत्वात्, तदङ्गता च तत्परिणामकारणत्वात्, तथाहि–मङ्गलाभिधानं सिद्धाद्यभिधानं चोपश्रुत्य भगवदर्हत्प्रतिमां वा दृष्ट्वा भूतपतिभावं भव्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

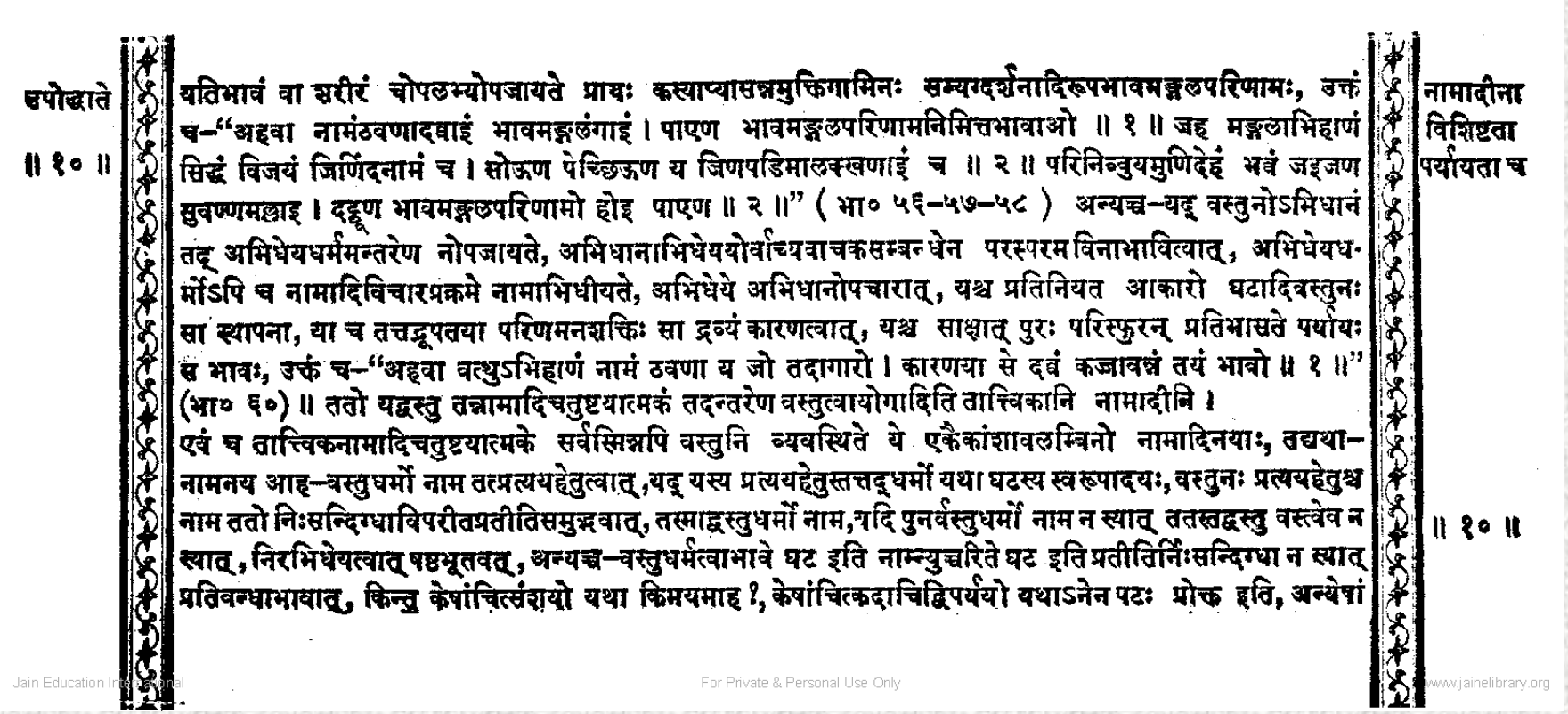

उपोद्घाते ॥ १० ॥

यतिभावं वा शरीरं चोपलभ्योपजायते प्रायः कस्याप्यासन्नमुक्तिगामिनः सम्यग्दर्शनादिरूपभावमङ्गलपरिणामः, उक्तं च–"अहवा नामंठवणादवाइं भावमङ्गलंगाइं । पाएण भावमङ्गलपरिणामनिमित्तभावाओ ॥ १ ॥ जह मङ्गलाभिहाणं सिद्धं विजयं जिणिंदनामं च । सोऊण पेच्छिऊण य जिणपडिमालक्खणाइं च ॥ २ ॥ परिनिव्वुयमुणिदेहं भवं जइजण सुवण्णमलाइ । दट्ठूण भावमङ्गलपरिणामो होइ पाएण ॥ २ ॥" (भा० ५६–५७–५८) अन्यच्च–यद् वस्तुनोऽभिधानं तद् अभिधेयधर्ममन्तरेण नोपजायते, अभिधानाभिधेययोर्वाच्यवाचकसम्बन्धेन परस्परमविनाभावित्वात्, अभिधेयधर्मोऽपि च नामादिविचारप्रक्रमे नामाभिधीयते, अभिधेये अभिधानोपचारात्, यश्च प्रतिनियत आकारो घटादिवस्तुनः सा स्थापना, या च तत्तद्भूपतया परिणमनशक्तिः सा द्रव्यं कारणत्वात्, यश्च साक्षात् पुरः परिस्फुरन् प्रतिभासते पर्यायः स भावः, उक्तं च–"अहवा वत्थुऽभिहाणं नामं ठवणा य जो तदागारो । कारणया से दवं कज्जावन्नं तयं भावो ॥ १ ॥" (भा० ६०) ॥ ततो यद्वस्तु तन्नामादिचतुष्टयात्मकं तदन्तरेण वस्तुत्वायोगादिति तात्त्विकानि नामादीनि ।

एवं च तात्त्विकनामादिचतुष्टयात्मके सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि व्यवस्थिते ये एकैकांशावलम्बिनो नामादिनयाः, तद्यथा–नामनय आह–वस्तुधर्मो नाम तत्प्रत्ययहेतुत्वात्, यद् यस्य प्रत्ययहेतुस्तत्तद्धर्मो यथा घटस्य स्वरूपादयः, वस्तुनः प्रत्ययहेतुश्च नाम ततो निःसन्दिग्धाविपरीतप्रतीतिसमुद्भवात्, तस्माद्वस्तुधर्मो नाम, यदि पुनर्वस्तुधर्मो नाम न स्यात् ततस्तद्वस्तु वस्त्वेव न स्यात्, निरभिधेयत्वात् षष्ठभूतवत्, अन्यच्च–वस्तुधर्मत्वाभावे घट इति नाम्न्युच्चरिते घट इति प्रतीतिर्निःसन्दिग्धा न स्यात् प्रतिबन्धाभावात्, किन्तु केषांचित्संशयो यथा किमयमाह ?, केषांचित्कदाचिद्विपर्ययो यथाऽनेन पटः प्रोक्त इति, अन्येषां

नामादीना विशिष्टता पर्यायता च

॥ १० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अ) प्रतिबन्धं पर्यालोचयतः तददर्शनेनानध्यवसायः, यदिवा यदृच्छया भवेत् प्रतिपत्तिः, आह च–"संसयविवज्जया वाऽणज्झवसाओऽहवा जहिच्छाए। होज्जत्थे पडिवत्ती न वत्थुधम्मो जओ नामं ॥१॥ (भा० ६२) न चैतत् दृश्यते, तस्मात् वस्तुधर्मो नाम, तदेव चैकं तात्त्विकं, तद्वशादेव सकलव्यवहारप्रवृत्तेर्न स्थापनादय इत्येवमुक्ते स्थापनानय आह–आकार एव वस्तु, तत्रैव बुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिक्रियोपलम्भात्, तथाहि–प्रत्यक्षत आकारवदेव वस्तु परिगृह्यते, तदेव च शब्देनाप्यभिधीयते, तत्रैव च पुरुषस्य प्रवृत्तिः, अर्थक्रियामपि च तदेव करोतीत्याकार एव तात्त्विको न नामादयः, तथा च प्रयोगः–यदाकाररहितं न तद्वस्तु, यथा गगनेन्दीवरं, आकाररहितं च पराभिमतं नामादि, उक्तं च–"न पराणुमयं वत्थुं आगाराभावओ खपुप्फं व । उवलंभववहाराऽऽभावाओ नाणगारं च ॥ १ ॥" (भा० ६५) अत्र पूर्वार्द्धं सुगमं, उत्तरार्द्धस्य व्याख्यानमिदं–न अनाकारं वस्तु उपलम्भाभावात् व्यवहाराभावाच्च। एवं स्थापनानयेनोक्ते द्रव्यनय आह–तात्त्विकोत्पादव्ययरहितं यन्निर्विकारमाविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामात्मकं द्रव्यं तदेवैकं तात्त्विकं, तस्यैव प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनोपलभ्यमानत्वात्, यत्तु तदतिरिच्य स्थापनानयेन प्रोच्यते तदसद्, द्रव्यातिरेकेणान्यस्याकारस्योपलम्भाभावात्, उक्तं च–"दव्वपरिणाममेत्तं मोत्तूणागारदरिसणं किं तं?। उप्पायव्वयरहियं दव्वं चिय निव्वियारं तं ॥ १ ॥ आविब्भावतिरोभावमेत्तपरिणामकारणमचिंतं । निच्चं बहुरूवंपिव नडोव्व वेसंतरावन्नो ॥ २ ॥" (भा० ६६–६७) इति, इतश्च द्रव्यं तात्त्विकं कारणत्वात् मृत्पिण्डपयःप्रभृतिवत्, यच्चाकारणं न तद् वस्तु, यथा गगनकुसुमं, अकारणं च पराभिमतमाकारादीति। एवं द्रव्यनयेनाभिहिते भावनयः प्राह–भाव एव पारमार्थिको न द्रव्यं, तस्यानुपलम्भात्, न हि मृत्पिण्ड-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

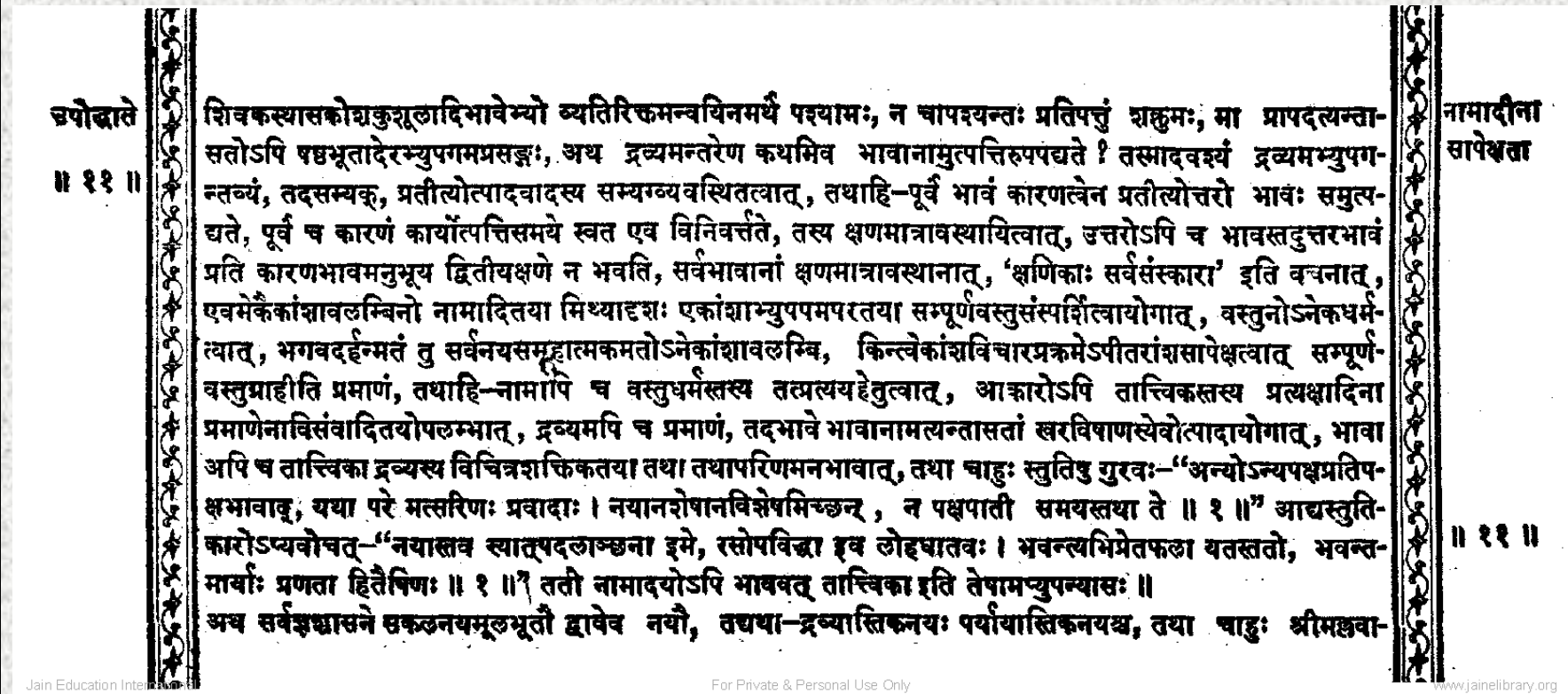

उपोद्घाते ॥ ११ ॥

शिवकस्थासकोशकुशूलादिभावेभ्यो व्यतिरिक्तमन्वयिनमर्थं पश्यामः, न चापश्यन्तः प्रतिपत्तुं शक्नुमः, मा प्रापदत्यन्तासतोऽपि षष्ठभूतादेरभ्युपगमप्रसङ्गः, अथ द्रव्यमन्तरेण कथमिव भावानामुत्पत्तिरुपपद्यते ? तस्मादवश्यं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यं, तदसम्यक्, प्रतीत्योत्पादवादस्य सम्यग्व्यवस्थितत्वात्, तथाहि–पूर्वं भावं कारणत्वेन प्रतीत्योत्तरो भावः समुत्पद्यते, पूर्वं च कारणं कार्योत्पत्तिसमये स्वत एव विनिवर्त्तते, तस्य क्षणमात्रावस्थायित्वात्, उत्तरोऽपि च भावस्तदुत्तरभावं प्रति कारणभावमनुभूय द्वितीयक्षणे न भवति, सर्वभावानां क्षणमात्रावस्थानात्, 'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा' इति वचनात्, एवमेकैकांशावलम्बिनो नामादितया मिथ्यादृशः एकांशाभ्युपपमपरतया सम्पूर्णवस्तुसंस्पर्शित्वायोगात्, वस्तुनोऽनेकधर्मत्वात्, भगवदर्हन्मतं तु सर्वनयसमूहात्मकमतोऽनेकांशावलम्बि, किन्त्वेकांशविचारप्रक्रमेऽपीतरांशसापेक्षत्वात् सम्पूर्णवस्तुग्राहीति प्रमाणं, तथाहि–नामापि च वस्तुधर्मस्तस्य तत्प्रत्ययहेतुत्वात्, आकारोऽपि तात्त्विकस्तस्य प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाविसंवादितयोपलम्भात्, द्रव्यमपि च प्रमाणं, तदभावे भावानामत्यन्तासतां खरविषाणस्येवोत्पादायोगात्, भावा अपि च तात्त्विका द्रव्यस्य विचित्रशक्तिकतया तथा तथापरिणमनभावात्, तथा चाहुः स्तुतिषु गुरवः–"अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः । नयानशेषानविशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ १ ॥" आद्यस्तुतिकारोऽप्यवोचत्–"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥ १ ॥" ततो नामादयोऽपि भाववत् तात्त्विका इति तेषामप्युपन्यासः ॥

अथ सर्वज्ञशासने सकलनयमूलभूतौ द्वावेव नयौ, तद्यथा–द्रव्यास्तिकनयः पर्यायास्तिकनयश्च, तथा चाहुः श्रीमल्लवा-

नामादीना सापेक्षता ॥ ११ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

दिनः–"सङ्ग्रहविसेससङ्ग्रहविसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओ य पज्जवनओ य सेसा वियप्पा सिं ॥१॥" [संग्रहविशेषाणां संग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणिनौ। द्रव्यार्थिकश्च पर्यायार्थिकश्च शेषा विकल्पा अनयोः॥१॥] तत्र नामादिचतुष्टयमध्ये कस्य किं सम्मतमिति निरुच्यतां?, उच्यते, नामस्थापनाद्रव्याणि द्रव्यास्तिकनयस्य भावः पर्यायास्तिकनयस्य, कथमिति चेत्, उच्यते, इह सिद्धसेनीयास्तावदेवमाहुः–'सामान्यग्राही नैगमः सङ्ग्रहेऽन्तर्भूतो विशेषग्राही व्यवहारे' इति षडेव तत्त्वतो नयाः, तत्र सङ्ग्रहो व्यवहारश्च द्रव्यास्तिकनयौ द्रव्याभ्युपगमपरत्वाद्, अतस्तस्य नामादित्रितयमभिमतं, एतावांस्तु विशेषः–सामान्याभ्युपगमपरत्वात् यानि कानिचिन्नाममङ्गलानि तानि सर्वाणि एकं नाममङ्गलं सर्वाणि स्थापनामङ्गलान्येकं स्थापनामङ्गलं सर्वाणि द्रव्यमङ्गलान्येकं द्रव्यमङ्गलं, व्यवहारस्तु विशेषग्राहीति नाममङ्गलानि प्रत्येकं भिन्नानीच्छति, एवं स्थापनामङ्गलानि द्रव्यमङ्गलानि चेति, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतास्तु पर्यायाभ्युपगमपरत्वात् पर्यायास्तिकनयः, ततस्तस्य भावः सम्मतः, उक्तं च–"नामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो उ पज्जवनयस्स । संगहववहारा पढमगस्स सेसा उ इयरस्स ॥ १ ॥" (भा० ७५) सूत्राभिप्रायेण तु ऋजुसूत्रोऽप्यविशुद्धो द्रव्यास्तिकनयस्तस्यापि द्रव्याभ्युपगमात्, तथा चानुयोगद्वारसूत्रम्–"उजुस्सुयस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं, पुहुत्तं नेच्छइ' इति, तदेवमुक्तं प्रासङ्गिकं, अधुना प्रकृतमुच्यते–तत्र नोआगमतो भावमङ्गलमनेकप्रकारमुक्तं, अथवा नोआगमतो भावमङ्गलं नन्दी, अथ नन्दीति कः शब्दार्थः?, उच्यते, 'दुनदु समृद्धा' वित्यस्य धातोः 'उदित' इति नमि विहिते नन्दनं नन्दिः, प्रमादो हर्ष इत्यनर्थान्तरं, नन्दिहेतुत्वात् ज्ञानपञ्चकादिकमपि नन्दिः, अथवा नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति नन्दिः, 'पदिपटि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** 'नन्दी' शब्दस्य अर्थ एव नाम-आदि निक्षेपा:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घाते ॥ १२ ॥

कीर्त्त्यादिभ्य' इति इप्रत्ययः, असावपि मङ्गलवच्चतुर्भेदः, तद्यथा–नामनन्दिः स्थापनानन्दिः द्रव्यनन्दिः भावनन्दिश्च, तत्र यस्य जीवस्याजीवस्य वा नन्दिशब्दान्वर्थरहितस्य नन्दिरिति नाम क्रियते स नाम्ना नन्दिर्नामनन्दिः यद्वा नाम-नामवतोरभेदोपचारान्नाम चासौ नन्दिश्च नामनन्दिः, नन्दिरिति नाम वा नामनन्दिः, तथा सद्भावमाश्रित्य लेप्यक-र्मादिष्वसद्भावं चाश्रित्याक्षवराटकादिषु भावनन्दिमतः साध्वादेः स्थापना सा स्थापनानन्दिः, अथवा द्वादशविधतूर्यरूप-द्रव्यनन्दिस्थापना स्थापनानन्दिः, द्रव्यनन्दिर्द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो नन्दिपदार्थस्य ज्ञाता तत्र चानु-पयुक्तः, 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, नोआगमतस्तु त्रिधा, तद्यथा–ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः भव्यशरीरद्रव्यनन्दिर्ज्ञशरीरभ-व्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यनन्दिश्च, तत्र यन्नन्दिपदार्थज्ञस्यापगतजीवितस्य शरीरं सिद्धिशिलातलादिगतं तद्भूतभावनया ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः, यस्तु बालको नेदानीं नन्दिशब्दार्थमवबुध्यते अथचावश्यमायत्यां तेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण भोत्स्यते स भाविभावनिबन्धनत्वात् भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता तु द्रव्यनन्दी द्वादशप्रकार-स्तूर्यसङ्घातः, स चायं–"भम्भामकुन्दमद्दलकडम्बझल्लरिहुडुक्कंसाला । काहलि तलिमा वंसो संखो पणवो य बारसमो ॥ १ ॥" (बृ. भा०) भावनन्दिर्द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो नन्दिपदार्थस्य ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतः पञ्चप्रकारं ज्ञानं, तच्चेदम्–

आभिणिबोहियनाणं सुयनाणं चेव ओहिनाणं च । तह मणपज्जवनाणं केवलनाणं च पंचमयं ॥ १ ॥

आ–अर्थाभिमुखो नियतः–प्रतिनियतस्वरूपो बोधः–बोधविशेषोऽभिनिबोधोऽभिनिबोध एवाभिनिबोधिकं, अभिनिबोध-

नन्देः श-ब्दार्थः

॥ १२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानस्य आभिनिबोधिक-आदि पंच प्रकारा:

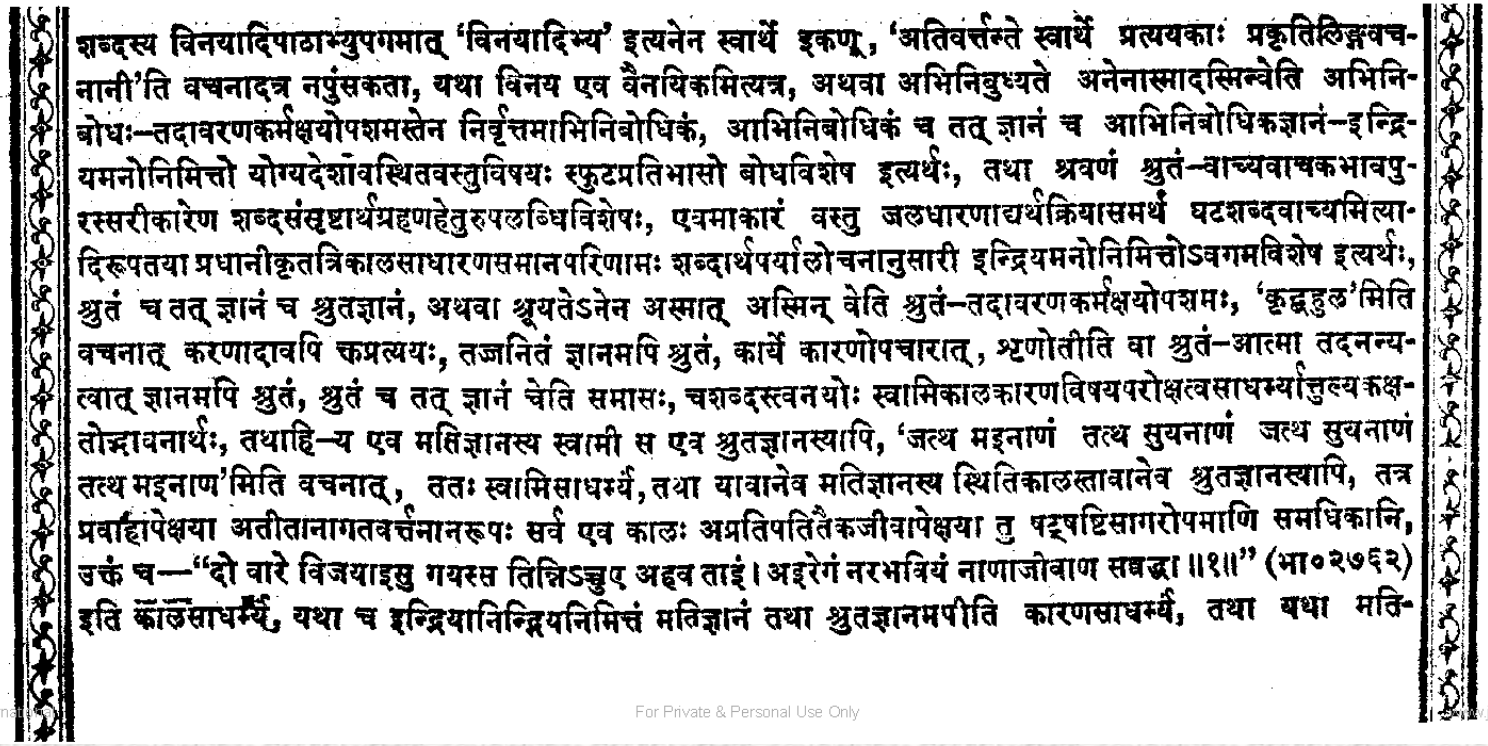

शब्दस्य विनयादिपाठाभ्युपगमात् 'विनयादिभ्य' इत्यनेन स्वार्थे इकण्, 'अतिवर्त्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानी'ति वचनादत्र नपुंसकता, यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र, अथवा अभिनिबुध्यते अनेनास्मादस्मिन्वेति अभिनिबोधः–तदावरणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिबोधिकं, आभिनिबोधिकं च तत् ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानं–इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यदेशावस्थितवस्तुविषयः स्फुटप्रतिभासो बोधविशेष इत्यर्थः, तथा श्रवणं श्रुतं–वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, एवमाकारं वस्तु जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थं घटशब्दवाच्यमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तत् ज्ञानं च श्रुतज्ञानं, अथवा श्रूयतेऽनेन अस्मात् अस्मिन् वेति श्रुतं–तदावरणकर्मक्षयोपशमः, 'कृद्बहुल'मिति वचनात् करणादावपि क्तप्रत्ययः, तज्जनितं ज्ञानमपि श्रुतं, कार्ये कारणोपचारात्, शृणोतीति वा श्रुतं–आत्मा तदनन्यत्वात् ज्ञानमपि श्रुतं, श्रुतं च तत् ज्ञानं चेति समासः, चशब्दस्त्वनयोः स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वसाधर्म्यात्तुल्यकक्षतोद्भावनार्थः, तथाहि–य एव मतिज्ञानस्य स्वामी स एव श्रुतज्ञानस्यापि, 'जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाण'मिति वचनात्, ततः स्वामिसाधर्म्यं, तथा यावानेव मतिज्ञानस्य स्थितिकालस्तावानेव श्रुतज्ञानस्यापि, तत्र प्रवाहापेक्षया अतीतानागतवर्त्तमानरूपः सर्व एव कालः अप्रतिपतितैकजीवापेक्षया तु षट्षष्टिसागरोपमाणि समधिकानि, उक्तं च—"दो वारे विजयाइसु गयस्स तिन्निऽच्चुए अहव ताइं। अइरेगं नरभवियं नाणाजीवाण सव्वद्धा ॥१॥" (भा०२७६२) इति कालसाधर्म्यं, यथा च इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं मतिज्ञानं तथा श्रुतज्ञानमपीति कारणसाधर्म्यं, तथा यथा मति-

भा. सू. २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

उपोद्घाते

॥ १२ ॥

ज्ञानमादेशतः सर्वद्रव्यादिविषयं तथा श्रुतज्ञानमपीति विषयसाधर्म्यं, यथा च मतिज्ञानं परोक्षं तथा श्रुतज्ञानमपीति परोक्षतासाधर्म्यं, एवकारस्त्ववधारणार्थः , स च परोक्षत्वमनयोरवधारयति, आभिनिबोधिकश्रुतज्ञाने एव परोक्षे न शेषं ज्ञानमिति, अथ परोक्षमिति कः शब्दार्थः ?, उच्यते 'अशूङ् व्याप्तौ' अश्नुते–ज्ञानात्मना सर्वानर्थान् व्याप्नोतीत्यक्षः, यदिवा 'अश् भोजने' अश्नाति–सर्वानर्थान् यथायोगं भुङ्क्ते पालयति वेत्यक्षो–जीवः, उभयत्रापि 'मावावद्यमिकमिहनिकष्यर्शी'त्यादिना उणादिकसप्रत्ययः, अक्षस्य–आत्मनो द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्त्तन्ते, पृथग्वर्त्तन्त इति भावः, तेभ्यो यदक्षस्य ज्ञानमुदयते तत्परोक्षं, 'पृषोदरादय' इति रूपनिष्पत्तिः, अथवा परैः–इन्द्रियादिभिः सह उक्षा–सम्बन्धो विषयविषयिभावलक्षणो यस्मिन् ज्ञाने न तु साक्षादात्मना तत्परोक्षं, धूमादग्निज्ञानवत्, अथ कथमेतयोराभिनिबोधिकश्रुतयोः परोक्षता ?, उच्यते, पराश्रयत्वात्, तथाहि–पुद्गलमयत्वात् द्रव्येन्द्रियमनांस्यात्मनः पृथग्भूतानि ततस्तदाश्रयेणोपजायमानं ज्ञानमात्मनो न साक्षात् किन्तु परम्परयेति परोक्षता, उक्तं च 'अक्खस्स पोग्गलमया जं दव्वेंदियमणा परा होंति । तेहिंतो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥ १ ॥" (भा० ९०) अत्र वैशेषिकादयः प्राहुः–नन्वक्षाणीन्द्रियाण्युच्यन्ते, 'खमक्षमिन्द्रियं प्रोक्तम्, हृषीकं करणं स्मृत'मिति वचनात्, ततोऽक्षाणां–इन्द्रियाणां या साक्षादुपलब्धिः सा प्रत्यक्षं, अक्षं–इन्द्रियं प्रति वर्त्तत इति प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तेः, तथा च सति सकललोकप्रसिद्धं साक्षादिन्द्रियाश्रितं घटादिज्ञानं प्रत्यक्षमिति सिद्धं, तदेतदयुक्तं, इन्द्रियाणामुपलब्धृत्वासम्भवात्, तदसम्भवश्चाचेतनत्वात्, तथा चात्र प्रयोगः– यदचेतनं तन्नोपलब्धा, यथा घटः, अचेतनानि च द्रव्येन्द्रि-

मतिश्रुतयोःपरोक्षता

॥ १२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** परोक्षज्ञानस्य द्वे भेदे- मति एवं श्रुत

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

याणि, न चायमसिद्धो हेतुः, यतो नाम द्रव्येन्द्रियाणि निर्वृत्त्युपकरणरूपाणि 'निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं' (त० अ०२ सू० १७) इति वचनात्, निर्वृत्त्युपकरणे च पुद्गलमये, पुद्गलमयं च सर्वमचेतनं, पुद्गलानां काठिन्यानवबोधरूपतया चैतन्यं प्रति धर्मित्वायोगात्, धर्म्मानुरूपो हि सर्वत्रापि धर्म्मी यथा काठिन्यं प्रति पृथिवी, यदि पुनरनुरूपत्वाभावेऽपि धर्म्म-धर्म्मिभावो भवेत् ततः काठिन्यजलयोरपि स भवेत्, न च भवति, तस्मादचेतनाः पुद्गलाः, उक्तं च–"बोहसहावमुत्तं विसयपरिच्छेयगं च चेयण्णं । विवरीयसहावाणि य भूयाणि जगप्पसिद्धाणि ॥ १ ॥ ता धम्मधम्मिभावो कहमेएसिं तहऽब्भुवगमे य । अणुरूवत्ताभावे काठिन्नजलाण किन्न भवे ? ॥ २ ॥ (धर्मसंग्रहणी) इति, नापि सन्दिग्धैकान्तिकता हेतोः शङ्कनीया, अचेतनस्योपलम्भकत्वशक्त्ययोगाद्, उपलम्भकत्वं हि चेतनाया धर्मः, ततः स कथं तदभावे भवितुमर्हति ?, आह–प्रत्यक्षबाधितेयं प्रतिज्ञा, साक्षादिन्द्रियाणामुपलम्भकत्वेन प्रतीतेः, तथाहि–चक्षू रूपं गृह्णदुपलभ्यते कर्णौ शब्दं नासिका गन्धमित्यादि, तदेतन्महामोहावष्टब्धान्तःकरणताविलसितं, तथाहि–आत्मा शरीरेन्द्रियैः सहान्योऽन्यानुवेधेन व्यवस्थितः, ततोऽयमात्मा अमूनि चेन्द्रियाणि इति विवेक्तुमशक्नुवन्तो बालिशजन्तवः तत्रापि युष्मादृशां कुशास्त्रसम्पर्कतः कुवासनासङ्गमः, ततः साक्षादुपलम्भिकानीन्द्रियाणि इति प्रतिपन्नाः, परमार्थतः पुनरुपलब्धा तत्रात्मैव, कथमेतदवसीयते इति चेत्, उच्यते, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, तथाहि–कोऽपि पूर्वं चक्षुषा विवक्षितमर्थं गृहीतवान् ततः कालान्तरे दैवविनियोगतश्चक्षुषोऽपगमेऽपि स तमर्थमनुस्मरति, तत्र यदि चक्षुरेव द्रष्टृ स्यात् ततश्चक्षुषोऽभावे तदुपलब्धार्थानुस्मरणं न भवेत्, न ह्यात्मनाऽसौ अर्थोऽनुभूतः किन्तु चक्षुषा, चक्षुष एव साक्षात् द्रष्टृत्वेनोपगमात्, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घाते ॥ १४ ॥

चान्येनानुभूतेऽर्थेऽन्यस्य स्मरणं, मा प्रापदतिप्रसङ्गः, अपिच–मा भूच्चक्षुषोऽपगमस्तथापि यदि चक्षुरेव द्रष्टृ ततः स्मरणमात्मनो न भवेत्, अन्येनानुभूतेऽन्यस्य स्मरणायोगाद्, भवति च स्मरणमात्मनः, चक्षुषः स्मर्तृत्वेनाप्रतीतेः अनभ्युपगमाच्च, तस्मादात्मैवोपलब्धा नेन्द्रियमिति, तथा चात्र प्रयोगः–यो येषूपरतेष्वपि तदुपलब्धानर्थान् स्मरति स तत्रोपलब्धा, यथा गवाक्षोपलब्धानामर्थानामनुस्मर्त्ता देवदत्तः, अनुस्मरति च द्रव्येन्द्रियोपलब्धानर्थान् द्रव्येन्द्रियापगमेऽप्यात्मा, इह स्मरणमनुभवपूर्वकतया व्याप्तं, व्याप्यव्यापकभावश्चानयोः प्रमाणतः प्रतिपन्नः, तथाहि—योऽर्थोऽनुभूतः स स्मर्यते न शेषः तथा स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण प्रतीतेः, विपक्षे चातिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणं, अननुभूतेऽपि विषये यदि स्मरणं भवेत्ततोऽननुभूतत्वाविशेषात् खरविषाणादेरपि स्मरणं भवेदित्यतिप्रसङ्गः, तथा द्रव्येन्द्रियापगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणादात्मोपलब्धेति स्थितम्, उक्तं च–"केसिंचि इंदियाइं अक्खाइं तदुवलद्धि पच्चक्खं। तन्नो ताइं जमचेयणाइं जाणंति न घडो व ॥१॥ उवलद्धा तत्थाया तविगमे तदुवलद्धसरणातो। गेहगवक्खोवरमेऽवि तदुवलद्धाणुसरिया वा ॥२॥" (भा० ९१–९२) अत्र वाशब्द उपमार्थः, अपरे पुनराहुः–न वयमिन्द्रियाणामुपलब्धृत्वं प्रतिजानीमहे, किं त्वेतदेव ब्रूमो–यदिन्द्रियद्वारेण प्रवर्त्तते ज्ञानमात्मनि तत्प्रत्यक्षं, न चेन्द्रियव्यापारव्यवहितत्वादात्मा साक्षान्नोपलब्धेति वक्तव्यं, इन्द्रियाणामुपलब्धिं प्रति करणतया व्यवधायकत्वायोगात्, न खलु देवदत्तो हस्तेन भुञ्जानो हस्तव्यापारव्यवहितत्वात् साक्षान्न भोक्तेति व्यपदेष्टुं शक्यं, तदेतदसमीचीनं, सम्यक् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, इह हि यदाऽऽत्मा चक्षुरादिकमपेक्ष्य बाह्यमर्थमवबुध्यते तदाऽवश्यं चक्षुरादेः साद्गुण्याद्यपेक्षते, तथाहि–यदा सद्गुणं चक्षुः तदा बाह्यमर्थं स्पष्टं यथाऽव-

आत्मनो द्रष्टृता

॥ १४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थितं चोपलभते, यदा तु तिमिराशुभ्रमणनौयानपित्तसङ्क्षोभदेशदवीयस्त्वाद्यापादितविभ्रमं तदा विपरीतं संशयितं वा, ततोऽवश्यमात्मा अर्थोपलब्धौ पराधीनः, तथा च सति यथा राजा निजराजदौवारिकेणोपदर्शितं परराष्ट्रराजकीयं पुरुषं पश्यन्नपि समीचीनमसमीचीनं वा निजराजदौवारिकवचनत एव प्रत्येति न साक्षात् तद्वदात्माऽपि चक्षुरादिनोपदर्शितं बाह्यमर्थं चक्षुरादिप्रत्ययत एव समीचीनमसमीचीनं वा वेत्ति न साक्षात्, तथाहि–चक्षुरादिना दर्शितेऽपि बाह्येऽर्थे यदि संशयमधिरूढो भवति तर्हि चक्षुरादिसाद्गुण्यमेव प्रतीत्य निश्चयं विदधाति, यथा न मे चक्षुस्तिमिरोपप्लुतं नौयानाशुभ्रमणाद्यापादितविभ्रमं वा ततोऽयमर्थः समीचीन इति, ततो यथा राज्ञो नायं मम राजदौवारिकोऽसत्यालापी कदाचनाप्यस्य व्यभिचारानुपलम्भादिति निजदौवारिकस्य साद्गुण्यमवगम्य परराष्ट्रराजकीयपुरुषसमीचीनतावधारणं परमार्थतः परोक्षं, तद्वदात्मनोऽपि चक्षुरादिसाद्गुण्यावधारणतो वस्तुयाथात्म्यावधारणं परमार्थतः परोक्षं, नन्विदमिन्द्रियसाद्गुण्यावधारणतो वस्तुयाथात्म्यावधारणमनभ्यासदशामुपगतस्य, अभ्यासदशामापन्नस्वभ्यासप्रकर्षसामर्थ्यादिन्द्रियसाद्गुण्यमनपेक्ष्यैव साक्षादवबुद्ध्यते, ततस्तस्येन्द्रियाश्रितं ज्ञानं कथं प्रत्यक्षं न भवति ?, तदसम्यक्, अभ्यासदशामापन्नस्यापि साक्षादनवबोधात्, तस्यापीन्द्रियद्वारेणावबोधप्रवृत्तेरवश्यमिन्द्रियसाद्गुण्यापेक्षणात्, केवलमभ्यासप्रकर्षवशात् तदिन्द्रियसाद्गुण्यं झटित्येवावधारयति पूर्वावधृतं वा झटित्येव विनिश्चिनोति, ततः कालसौक्ष्म्यात्तन्नोपलभ्यते, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यं, यतोऽवश्यमवायज्ञानमवग्रहेहापूर्वं, ईहा च विचारणात्मिका, विचारश्चेन्द्रियसाद्गुण्यसद्भूतवस्तुधर्माश्रितः,अन्यथैकतरविचाराभावेऽवायज्ञानसम्यग्ज्ञानत्वायोगात्, न खल्विन्द्रिये वस्तुनि च सम्यग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घाते ॥ १५ ॥

विचारिते अवायज्ञानं समीचीनं भवति, ततोऽभ्यासदशापन्नेऽपीन्द्रियसाद्गुण्यावधारणमवसेयं, यदपि चोक्तम्—'न खलु देवदत्तो हस्तेन भुञ्जानो हस्तव्यापारव्यवहितत्वात् साक्षान्न भोक्तेति व्यपदेष्टुं शक्य'मिति, तदप्ययुक्तम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याद्, भोक्ता हि भुञ्जिक्रियानुभवभागी भण्यते, भुञ्जिक्रियानुभवश्च देवदत्तस्य न हस्तेन व्यवधीयते, किन्तु साक्षात्, हस्तो हि कवलप्रक्षेप एव व्याप्रियते, न परिच्छेदक्रियायामिन्द्रियमिवाहारक्रियानुभवेऽपि येन व्यवधानं भवेत्, ततो देवदत्तः साक्षाद्भोक्तेति व्यवह्रियते, इह तु वस्तूनामुपलब्धिरुक्तनीत्या चक्षुरादीन्द्रियसाद्गुण्यावगमानुसारेणोपजायते ततो व्यवधानात् न साक्षादुपलम्भक आत्मेति । नन्विदं सर्वमूत्सूत्रप्ररूपणं, नन्वध्ययनसूत्रे हि इन्द्रियाश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तं, तथा च तद्ग्रन्थः–"पञ्चक्खं दुविहं पन्नत्तं, तंजहा–इंदियपच्चक्खं नोइंदियपच्चक्खं चे"ति, सत्यमेतत्, किन्त्विदं लोकव्यवहारमपेक्ष्योक्तं न परमार्थतः, तथाहि–यदिन्द्रियाश्रितमपरव्यवधानरहितं ज्ञानमुदयते तल्लोके प्रत्यक्षमिति व्यवस्थितं, अपरधूमादिलिङ्गनिरपेक्षतया साक्षादिन्द्रियमधिकृत्य प्रवर्त्तनात्, यत्पुनरिन्द्रियव्यापारेऽप्यपरं धूमादिकमपेक्ष्याग्न्यादिविषयं ज्ञानमुदयते तल्लोके परोक्षं, तत्र साक्षादिन्द्रियव्यापारासम्भवाद्, यत्पुनरात्मन इन्द्रियमप्यनपेक्ष्य साक्षादुपजायते तत्परमार्थतः प्रत्यक्षं, तच्चावध्यादिकं त्रिप्रकारं, ततः संव्यवहारमधिकृत्येन्द्रियाश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तं न परमार्थतः, अथ कथमेतदवसीयते–संव्यवहारमधिकृत्येन्द्रियाश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तं न परमार्थतः ?, उच्यते, तत्रैवोक्तसूत्रार्थपर्यालोचनात्, तथाहि–प्रत्यक्षभेदाभिधानानन्तरं तत्र सूत्रं–"परोक्खं दुविहं पन्नत्तं, तंजहा–आभिणिबोहियनाणं सुयनाण'मित्यादि, तत्र आभिनिबोधिकमवग्रहादिरूपमवग्रहादयश्च श्रोत्रेन्द्रियाद्याश्रितास्तत्र वर्णिताः, तद्यदि

ऐन्द्रियकस्य परोक्षता ॥ १५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

श्रोत्रादीन्द्रियाश्रितं ज्ञानं परमार्थतः प्रत्यक्षं तत्कथमवग्रहादयः परोक्षत्वेनाग्रेऽभिहिताः?, तस्मादुत्तरत्रेन्द्रियाश्रितज्ञानस्य परोक्षत्वेनाभिधानादवसीयते प्रागिन्द्रियाश्रितं ज्ञानं संव्यवहारतः प्रत्यक्षमुक्तं, न परमार्थतः, आह च भाष्यकृत्—"एगन्तेण परोक्खं लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं । इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं ॥ १ ॥" (भा० ९५) इति । तथा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः अव–अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते–परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, अथवा अवधिः–मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, यद्वा अवधानं–आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानं, चशब्दः खल्वनन्तरोक्तज्ञानद्वयेन सहास्य स्थित्यादिभिः साधर्म्यप्रदर्शनार्थः, तथाहि–यावानेव मतिश्रुतयोरनन्तरमुक्तः प्रवाहापेक्षया अप्रतिपतितैकसत्त्वाधारापेक्षया वा स्थितिकालस्तावानेवावधिज्ञानस्यापीति स्थितिसाधर्म्यं, तथा यथैव मतिश्रुते मिथ्यादर्शनोदयतो विपर्ययरूपतामासादयतस्तथाऽवधिज्ञानमपि, तथाहि–मिथ्यादृष्टेस्त्रान्येव मतिश्रुतावधिज्ञानानि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानि भवन्ति, उक्तं च–'आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्त"मिति (प्रश.) विपर्ययसाधर्म्यं, तथा य एव मतिश्रुतज्ञानयोः स्वामी स एवावधिज्ञानस्यापि, तथाहि–विभङ्गज्ञानिनस्त्रिदशादेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युगपदेव मतिश्रुतावधिज्ञानानां लाभसम्भव इति लाभसाधर्म्यं । तथा परि–सर्वतो भावे, अवनमवः, 'तुदादिभ्यो नक्कौ' इत्यधिकारे 'अकितो वे'त्यनेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्यवः–सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थः, अथवा मनःपर्यय इति पाठः, तत्र पर्ययणं पर्ययः भावेऽल्प्रत्ययः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः–सर्वतस्तत्परिच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** प्रत्यक्षज्ञानस्य त्रया: भेदा: - अवधि, मन:पर्याय, केवलज्ञान

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

उपोद्घाते ॥ १६ ॥

इति, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं वा, अपरे–'मणपज्जयनाण'मिति पाठेऽपि मनःपर्यायज्ञानमिति शब्दसंस्कारमाचक्षते, तत्रैवं व्युत्पत्तिः–मनांसि–मनोद्रव्याणि पर्येति–सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायं, 'कर्मणोऽण्' त्यण्, मनःपर्यायं च तज्ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानं, यदिवा मनसः पर्यायाः मनःपर्यायाः, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं, इदं चार्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमेव। तथाशब्दोऽवधिज्ञानेन सहास्य छद्मस्थत्वादिभिः सारूप्यप्रदर्शनार्थः, तथाहि–यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति तथा मनःपर्यवज्ञानमपीति छद्मस्थसाधर्म्यं, यथा वाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयं तथा मनःपर्यवज्ञानमपि, तस्य मनःपुद्गलालम्बनत्वादिति विषयसाधर्म्यं, तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिकभावे वर्त्तते तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति भावसाधर्म्यं, यथा चावधिज्ञानं प्रत्यक्षं तथा मनःपर्यायमपि, तथाहि–अक्षो भण्यते जीवः एतच्च प्रागेवोपपादितं, अक्षं–जीवं प्रति साक्षाद्वर्त्तते यत् ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं–इन्द्रियमनोनिरपेक्षमात्मनः साक्षात्प्रवृत्तिमत्प्रत्यक्षमित्यर्थः, तच्चावध्यादि त्रिभेदं उक्तं च–"अक्खो भन्नइ जीवो वावणभोयणगुणन्नितो जेणं। तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहं॥१॥" (भा. ८९ अक्खो अत्थ.) इति प्रत्यक्षसाधर्म्यं। तथा केवलमेकमसहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात्, मत्यादिज्ञाननिरपेक्षता च केवलज्ञानप्रादुर्भावे मत्यादीनामसम्भवात्, ननु कथमसम्भवो यावता मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुःष्यन्ति ततो निर्मूलस्वस्वावरणविलये तानि सुतरां भविष्यन्ति चारित्रपरिणामवत्, उक्तं च—"आवरणदेसविगमे जाइं विज्जंति मइसुयाईणि। आवरणसव्वविगमे कह ताइं न होंति जीवस्स? ॥ १ ॥" उच्यते–इह यथा जात्यस्य मरकतादिमणेर्मलोपदिग्धस्य यावन्नाद्यापि

अन्येषां प्रत्यक्षता

॥ १६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

समूलमलापगमस्तावद्यथा यथा देशतो मलविलयः तथा २ देशतोऽभिव्यक्तिरुपजायते, सा च क्वचित् कदाचित्कथञ्चिन्नवतीत्यनेकप्रकारा, तथाऽऽत्मनोऽपि सकलकालकलाकलापावलम्बिनिखिलपदार्थपरिच्छेदकरणैकदक्षपारमार्थिकस्वरूपस्याप्यावरणमलपटतिरोहितस्वरूपस्य यावन्नाद्यापि निखिलकर्म्ममलापगमस्तावद् यथा यथा देशतः कर्ममलोच्छेदस्तथा तथा देशतस्तस्य विज्ञप्तिरुज्जृम्भते, सा क्वचित् कदाचित्कथञ्चिदित्यनेकप्रकारा, उक्तं च—"मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः। कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥१॥" सा चानेकप्रकारता मतिश्रुतादिभेदेनावसेया, ततो यथा मरकतादिमणेरशेषमलापगमसम्भवे समस्तास्पष्टदेशशक्तिव्यवच्छेदेन परिस्फुटरूपैकाभिव्यक्तिरुपजायते तद्वदात्मनोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रप्रभावतो निःशेषावरणप्रहाणादशेषदेशज्ञानव्यवच्छेदेनैकरूपाऽतिपरिस्फुटा सर्ववस्तुपर्यायसाक्षात्कारिणी विज्ञप्तिरुल्लसति, तथा चोक्तम्—"यथा जात्यस्य रत्नस्य, निःशेषमलहानितः। स्फुटैकरूपाभिव्यक्तिर्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः ॥ १ ॥" ततो मत्यादिनिरपेक्षं केवलज्ञानं, अथवा शुद्धं केवलं तदावरणमलकलङ्कस्यानवयवशोऽपगमात्, सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः, असाधारणं वा केवलमनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात्, केवलं च तत् ज्ञानं च केवलज्ञानं, यथावस्थिताशेषभूतभवद्भाविभावस्वभावावभासिज्ञानमिति भावः, चशब्दो मनःपर्ययज्ञानेन सहास्याप्रमत्ततयतिभावादिना साधर्म्यप्रदर्शनार्थः, तथाहि–यथा मनःपर्यवज्ञानमप्रमत्ततयतेरेवोदयते तथा केवलज्ञानमपीत्यप्रमत्ततयतिसाधर्म्यं, तथा यथा मनःपर्यायज्ञानं न विपर्ययमासादयति तथा केवलज्ञानमपीति विपर्ययाभावसाधर्म्यं, 'पञ्चमक'मिति पञ्चममेव पञ्चमकं प्राकृतत्वात् स्वार्थे कप्रत्ययः, पञ्चमता चास्य सूत्रक्रमप्रामाण्यानु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** केवलज्ञानस्य विशिष्ट-वर्णनं

उपोद्घाते ॥ १७ ॥

सरणात्, सूत्रं चेदं–'नाणं पंचविहं पन्नत्तं, तंजहा–आभिणिबोहियनाणं सुयनाणं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं केवलनाण'-मिति, ननु सकलमपीदं ज्ञानं ज्ञात्येकस्वभावं, ततो ज्ञात्येकस्वभावत्वाविशेषे किंकृत एष आभिनिबोधिकादिको भेदः?, ज्ञेयभेदकृत इति चेत्, तथाहि–वार्त्तमानिकं वस्त्वाभिनिबोधिकज्ञानस्य विषयः त्रिकालसाधारणसमानपरिणामो ध्वनिर्गोचरः श्रुतज्ञानस्य रूपिद्रव्याण्यवधिज्ञानस्य मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानस्य समस्तपर्यायान्वितं सर्वं वस्तु केवलज्ञानस्य, तदेतदसमीचीनं, एवं सति केवलज्ञानस्य भेदबाहुल्यप्रसक्तेः, तथाहि–ज्ञेयभेदात् ज्ञानस्य भेदः, यानि च ज्ञेयानि प्रत्येकमाभिनिबोधिकादिज्ञानानामिष्यन्ते तानि सर्वाण्यपि केवलज्ञानेऽपि विद्यन्ते, अन्यथा केवल-ज्ञानेन तेषामग्रहणप्रसङ्गात्, अविषयत्वात्, तथा च सति केवलिनोऽप्यसर्वज्ञत्वप्रसङ्गः, आभिनिबोधिकादिज्ञानचतु-ष्टयविषयजातस्य तेनाग्रहणात्, न चैतदिष्टमिति, अथोच्येत–प्रतिपत्तिप्रकारभेदत अभिनिबोधिकादिभेदः, तथाहि— न यादृशी प्रतिपत्तिराभिनिबोधिकज्ञानस्य तादृशी श्रुतज्ञानस्य किन्तु अन्यादृशी, एवमवध्यादिज्ञानानामपि प्रतिप-त्तव्यं, ततो भवत्येव प्रतिपत्तिभेदतो ज्ञानभेदः, तदप्ययुक्तं, एवं सत्येकस्मिन्नपि ज्ञानेऽनेकभेदप्रसक्तेः, तथाहि–तत्तद्देश-कालस्वरूपभेदेन विविच्यमानमेकैकं ज्ञानं प्रतिपत्तिप्रकारानन्त्यं प्रतिपद्यते, तन्नैषोऽपि पक्षः श्रेयान्, स्यादेतद्–अस्त्या-वारकं कर्म तत्त्वनेकप्रकारं ततस्तद्भेदात्तदावार्यं ज्ञानमप्यनेकतां प्रतिपद्यते, ज्ञानावारकं च कर्म्म पञ्चधा, प्रज्ञापनादौ तथाभिधानात्, ततो ज्ञानमपि पञ्चधा प्ररूप्यते, तदेतदतीवायुक्तिसङ्गतं, यतः आवार्यापेक्षं ह्यावारकमत आवार्यभेदा-देव तद्भेदः, नतु तद्भेदादावार्यभेदः, आवार्यं च ज्ञप्तिरूपापेक्षया सकलमप्येकं, ततः कथमावारकस्य पञ्चरूपता येन

केवले शे-षाभावः आवरण-भेदे हेतुश्च ॥ १७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

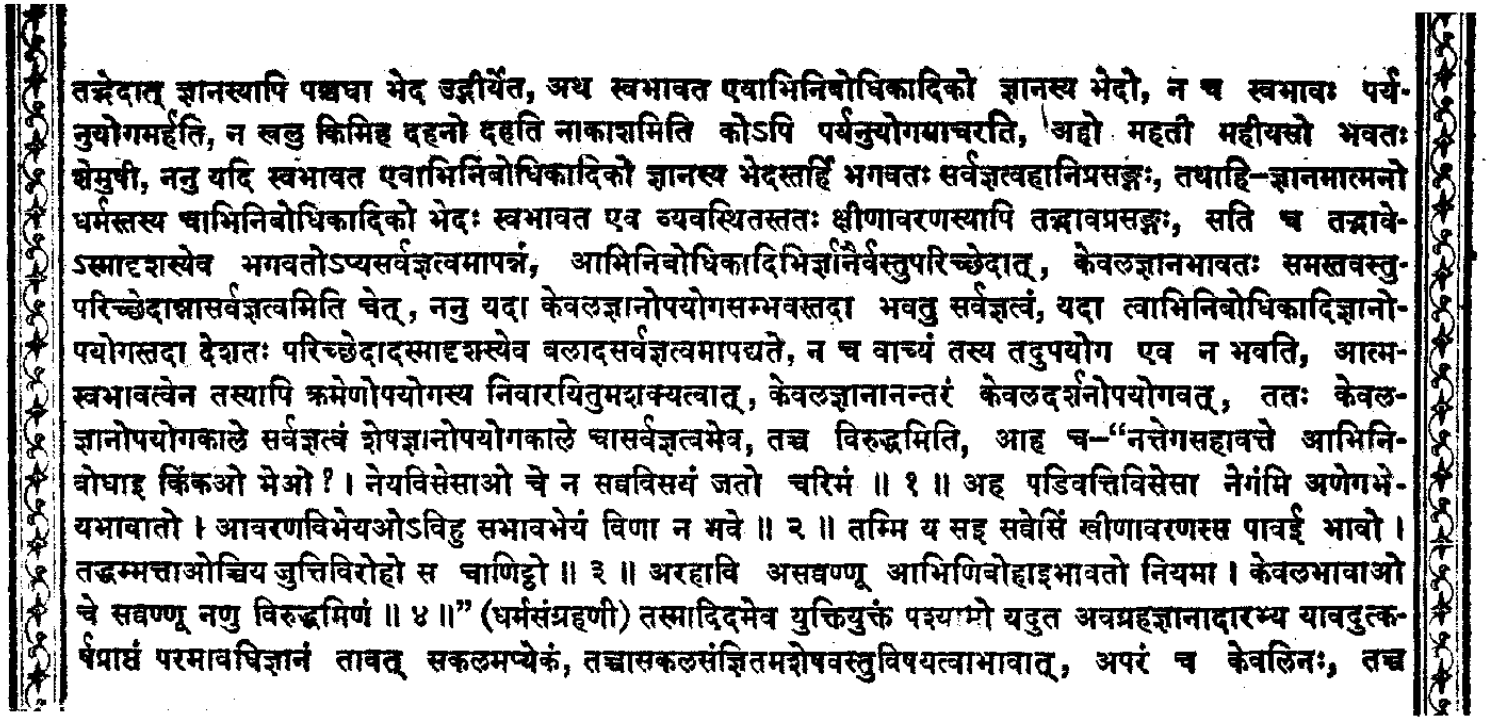

तद्भेदात् ज्ञानस्यापि पञ्चधा भेद उद्गीर्येत, अथ स्वभावत एवाभिनिबोधिकादिको ज्ञानस्य भेदो, न च स्वभावः पर्यनुयोगमर्हति, न खलु किमिह दहनो दहति नाकाशमिति कोऽपि पर्यनुयोगमाचरति, अहो महती महीयसो भवतः श्रेमुषी, ननु यदि स्वभावत एवाभिनिबोधिकादिको ज्ञानस्य भेदस्तर्हि भगवतः सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गः, तथाहि–ज्ञानमात्मनो धर्मस्तस्य चाभिनिबोधिकादिको भेदः स्वभावत एव व्यवस्थितस्ततः क्षीणावरणस्यापि तद्भावप्रसङ्गः, सति च तद्भावेऽस्मादृशस्येव भगवतोऽप्यसर्वज्ञत्वमापन्नं, आभिनिबोधिकादिभिर्ज्ञानैर्वस्तुपरिच्छेदात्, केवलज्ञानभावतः समस्तवस्तुपरिच्छेदाच्चासर्वज्ञत्वमिति चेत्, ननु यदा केवलज्ञानोपयोगसम्भवस्तदा भवतु सर्वज्ञत्वं, यदा त्वाभिनिबोधिकादिज्ञानोपयोगस्तदा देशतः परिच्छेदादस्मादृशस्येव बलादसर्वज्ञत्वमापद्यते, न च वाच्यं तस्य तदुपयोग एव न भवति, आत्मस्वभावत्वेन तस्यापि क्रमेणोपयोगस्य निवारयितुमशक्यत्वात्, केवलज्ञानानन्तरं केवलदर्शनोपयोगवत्, ततः केवलज्ञानोपयोगकाले सर्वज्ञत्वं शेषज्ञानोपयोगकाले चासर्वज्ञत्वमेव, तच्च विरुद्धमिति, आह च–"नत्तेगसहावत्ते आभिनिबोधाइ किंकओ भेओ ?। नेयविसेसाओ चे न सव्वविसयं जतो चरिमं ॥ १ ॥ अह पडिवत्तिविसेसा नेगंमि अणेगभेयभावातो । आवरणविभेयओऽविहु सभावभेयं विणा न भवे ॥ २ ॥ तम्मि य सइ सव्वेसिं खीणावरणस्स पावई भावो । तद्धम्मत्ताओच्चिय जुत्तिविरोहो स चाणिट्ठो ॥ ३ ॥ अरहावि असव्वण्णू आभिणिबोहाइभावतो नियमा । केवलभावाओ चे सव्वण्णू नणु विरुद्धमिणं ॥ ४ ॥" (धर्मसंग्रहणी) तस्मादिदमेव युक्तियुक्तं पश्यामो यदुत अवग्रहज्ञानादारभ्य यावदुत्कर्षप्राप्तं परमावधिज्ञानं तावत् सकलमप्येकं, तच्चासकलसंज्ञितमशेषवस्तुविषयत्वाभावात्, अपरं च केवलिनः, तच्च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकलसंज्ञितमिति द्वावेवभेदौ, उक्तं च–"तम्हा अवग्गहाओ आरब्भ इहेगमेव नाणंति । जुत्तं छउमत्थस्सासगलं इयरं च केवलिणो ॥ १ ॥" (ध०) अत्र प्रतिविधीयते–यत्तावदुक्तं 'सकलमपीदं ज्ञानं ज्ञप्येकस्वभावं, ततो ज्ञप्येकस्वभावत्वाविशेषे किंकृत एष आभिनिबोधिकादिभेद इति' तत्र ज्ञप्येकस्वभावता किं सामान्यतो भवताऽभ्युपगम्यते विशेषतो वा ?, तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षितिमाधत्ते, सिद्धसाध्यतया तस्य बाधकत्वायोगात्, बोधरूपतारूपसामान्यापेक्षयाऽपि सकलमपि ज्ञानमस्माभिरेकमभ्युपगम्यते एव, ततः का नो हानिरिति । अथ द्वितीयः पक्षस्तदयुक्तमसिद्धत्वात्, नहि नाम विशेषतोऽपि ज्ञानमेकमेवोपलभ्यते, प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण उत्कर्षापकर्षकृतभेददर्शनात्, अथ यद्युत्कर्षापकर्षकृतमात्रभेददर्शनात् ज्ञानभेदस्तर्हि तावुत्कर्षापकर्षौ प्रतिप्राणि देशकालाद्यपेक्षया सहस्रशो विद्येते ततः कथं पञ्चरूपता ?, नैष दोषः, परिस्थूरनिमित्तभेदतः पञ्चधात्वस्य प्रतिपादनात्, तथाहि—सकलघातिक्षयो निमित्तं केवलज्ञानस्य मनःपर्यायज्ञानस्य त्वामर्षौषध्यादिलब्ध्युपेतस्य प्रमादलेशेनाप्यकलङ्कितो विशिष्टो विशिष्टाध्यवसायानुगतोऽप्रमादः, 'तं संजयस्स सव्वप्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमतो' इति वचनात्, अवधिज्ञानस्य पुनस्तथाविधोऽनिन्द्रियरूपिद्रव्यसाक्षादवगमनिबन्धनं क्षयोपशमविशेषः, मतिश्रुतज्ञानयोस्तु लक्षणभेदादिकं, तच्चाग्रे वक्ष्यामः, उक्तं च—"नत्तेगसहावत्तं ओहेण विसेसतो पुणअसिद्धं । एगंततस्सहावत्तणे उ कह हाणिवुड्ढीओ ? ॥ १ ॥ जं अविचलियसहावे नत्ते एगंततस्सहावत्तं । न य तं तहोवलद्धं उक्करिसावगरिसविसेसा ॥ २ ॥ तम्हा परिथूरातो निमित्तभेयाउ समयसिद्धातो । उववत्तिसंगतोच्चिअ आभिणिबोहाइतो भेओ ॥ ३ ॥ घाइक्खतो निमित्तं केवलनाणस्स वण्णिओ समए । मणपज्जवनाणस्स उ तहाविहो अप्पमा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोत्ति ॥४॥ ओहिनाणस्स तहा अणिंदिएसुंपि जो खतोवसमो । मइसुयनाणाणं पुण लक्खणभेयाइतो भेओ ॥५॥" (ध.सं. ८३६–४०) यदप्युक्तम्–'ज्ञेयभेदकृत इत्यादि' तदनभ्युपगमतिरस्कृतत्वात् दूरापास्तप्रसरं, न हि वयं ज्ञेयभेदमात्रतो ज्ञानभेदमिच्छामः, एकेनाप्यवग्रहादिना बहु२विधवस्तुग्रहणोपलम्भात्, यदपि च प्रत्यपादि–'प्रतिपत्तिप्रकारभेदकृत' इत्यादि, तदपि न नो बाधामाधातुमलं, यतस्ते प्रतिपत्तिप्रकारा देशकालभेदेन आनन्त्यमपि प्रतिपद्यमाना न परिस्थूरनिमित्तभेदेन व्यवस्थापितानाभिनिबोधिकादीन् जातिभेदानतिक्रामति, ततः कथमेकस्मिन् अनेकभेदभावप्रसङ्गः?, उक्तं च–"न य पडिवत्तिविसेसा एगंमि अणेगभेयभावोऽवि । जं ते तहाविसिट्ठं न जातिभेदे विलंघंति ॥१॥" (ध.सं.८४२)यदप्यवादीत्–'आवार्यापेक्षं ह्यावारकमित्यादि' तदपि न नो बाधायै, यतः–परिस्थूरनिमित्तभेदमधिकृत्य व्यवस्थापितो ज्ञानस्य भेदः ततस्तदपेक्षमावारकमपि तथा भिद्यमानं न परवचनीयतामास्कन्दति, एवमुत्तेजितो भूयः सावष्टम्भं परः प्रश्नयति–ननु परिस्थूरनिमित्तभेदव्यवस्थापिता अप्यमी आभिनिबोधिकादयो भेदा ज्ञानस्यात्मभूता उतानात्मभूताः ?, किञ्चातः ?, उभयथाऽपि दोषः, तथाहि–यद्यात्मभूतास्ततः क्षीणावरणेऽपि तद्भावप्रसङ्गः, तथा चासर्वज्ञत्वं प्रागुक्तनीत्या तस्यापन्नं, अथ अनात्मभूतास्तर्हि न ते पारमार्थिकाः, ततः कथमावार्यापेक्षो वास्तव आवारकभेदः?, तदपि न मनोरमं, सम्यक् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, इह हि सकलघनपटलविनिर्मुक्तशारददिनमणिरिव समन्ततः समस्तवस्तुस्तोमप्रकाशनैकस्वभावो जीवः, तस्य च तथाभूतः स्वभावः केवलज्ञानमिति व्यपदिश्यते, स च यद्यपि सर्वघातिना केवलज्ञानावरणेनाव्रियते तथापि तस्यानन्ततमो भागो नित्योद्घाटित एव, "अक्खरस्स अणंतो भागो निच्चुग्घाडितो, जइ पुण सोऽवि आवरेज्जा तेणं जीवो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

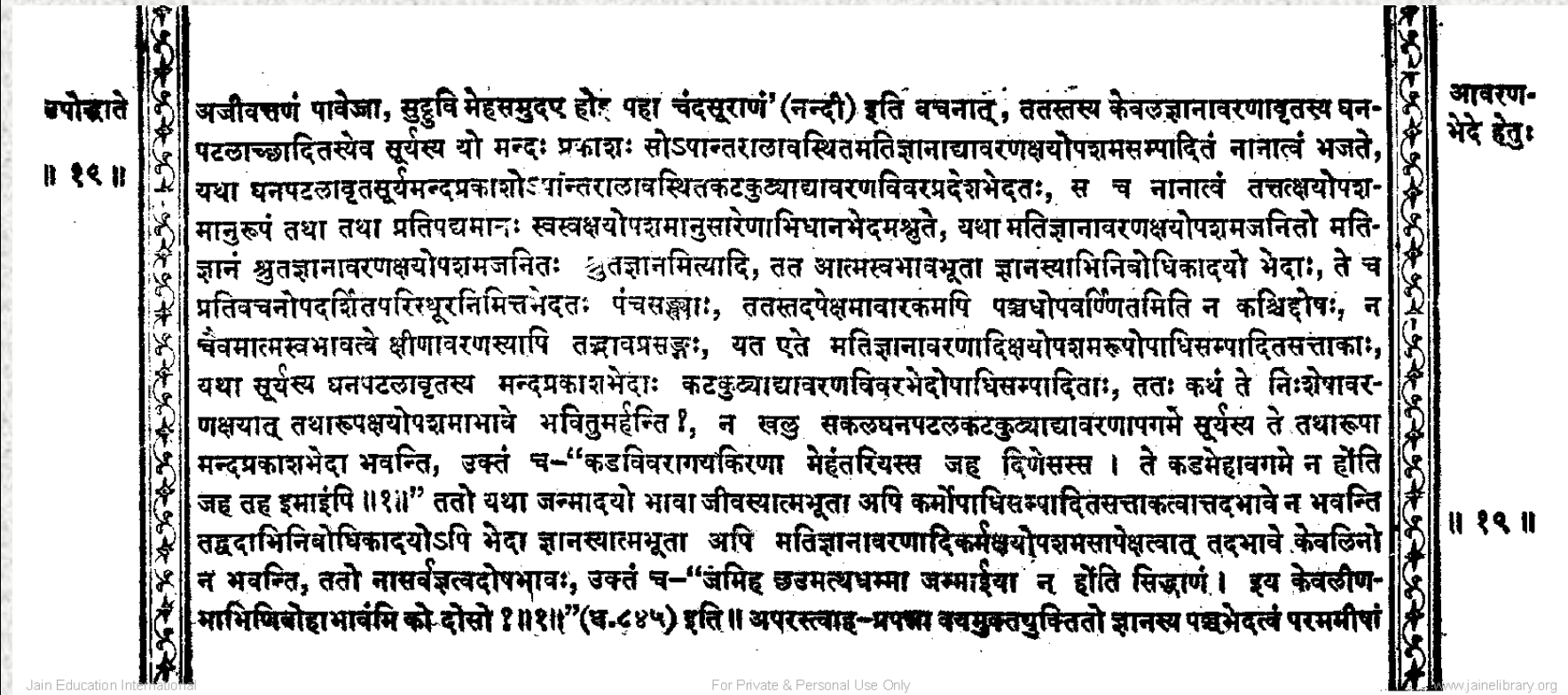

उपोद्घाते ॥ १९ ॥

अजीवत्तणं पावेज्जा, सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पहा चंदसूराणं' (नन्दी) इति वचनात्, ततस्तस्य केवलज्ञानावरणावृतस्य घनपटलाच्छादितस्येव सूर्यस्य यो मन्दः प्रकाशः सोऽपान्तरालावस्थितमतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमसम्पादितं नानात्वं भजते, यथा घनपटलावृतसूर्यमन्दप्रकाशोऽपान्तरालावस्थितकटकुड्याद्यावरणविवरप्रदेशभेदतः, स च नानात्वं तत्तत्क्षयोपशमानुरूपं तथा तथा प्रतिपद्यमानः स्वस्वक्षयोपशमानुसारेणाभिधानभेदमश्नुते, यथा मतिज्ञानावरणक्षयोपशमजनितो मतिज्ञानं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजनितः श्रुतज्ञानमित्यादि, तत आत्मस्वभावभूता ज्ञानस्याभिनिबोधिकादयो भेदाः, ते च प्रतिवचनोपदर्शितपरिस्थूरनिमित्तभेदतः पंचसङ्ख्याः, ततस्तदपेक्षमावारकमपि पञ्चधोपवर्णितमिति न कश्चिद्दोषः, न चैवमात्मस्वभावत्वे क्षीणावरणस्यापि तद्भावप्रसङ्गः, यत एते मतिज्ञानावरणादिक्षयोपशमरूपोपाधिसम्पादितसत्ताकाः, यथा सूर्यस्य घनपटलावृतस्य मन्दप्रकाशभेदाः कटकुड्याद्यावरणविवरभेदोपाधिसम्पादिताः, ततः कथं ते निःशेषावरणक्षयात् तथारूपक्षयोपशमाभावे भवितुमर्हन्ति?, न खलु सकलघनपटलकटकुड्याद्यावरणापगमे सूर्यस्य ते तथारूपा मन्दप्रकाशभेदा भवन्ति, उक्तं च–"कडविवरागयकिरणा मेहंतरियस्स जह दिणेसस्स । ते कडमेहावगमे न होंति जह तह इमाइंपि ॥१॥" ततो यथा जन्मादयो भावा जीवस्यात्मभूता अपि कर्मोपाधिसम्पादितसत्ताकत्वात्तदभावे न भवन्ति तद्वदाभिनिबोधिकादयोऽपि भेदा ज्ञानस्यात्मभूता अपि मतिज्ञानावरणादिकर्मक्षयोपशमसापेक्षत्वात् तदभावे केवलिनो न भवन्ति, ततो नासर्वज्ञत्वदोषभावः, उक्तं च–"जंमिह छउमत्थधम्मा जम्माईया न होंति सिद्धाणं । इय केवलीणमाभिणिबोहाभावंमि को दोसो ?॥१॥"(वि.८४५) इति॥ अपरस्त्वाह–प्रपञ्च वयमुक्तयुक्तितो ज्ञानस्य पञ्चभेदत्वं परमभीषां

आवरण-भेदे हेतुः

॥ १९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

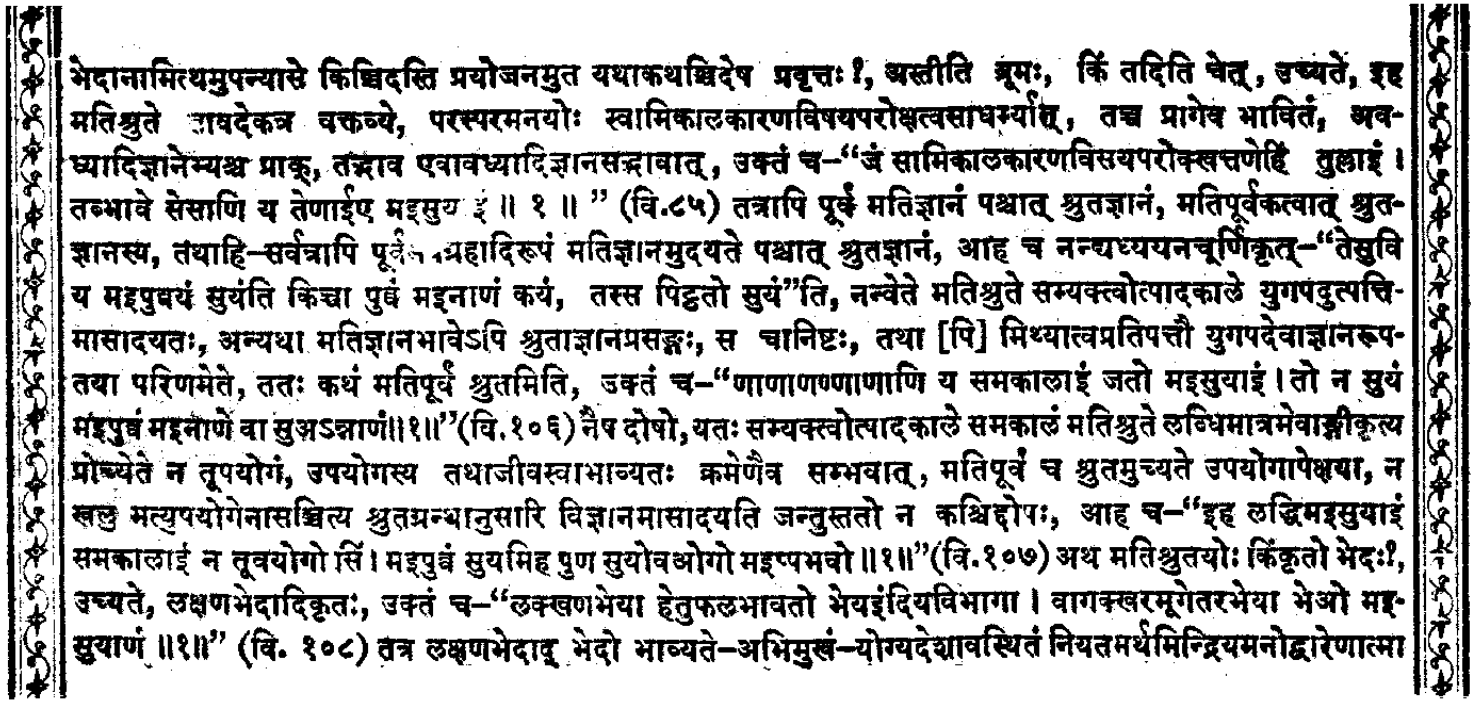

भेदानामित्थमुपन्यासे किञ्चिदस्ति प्रयोजनमुत यथाकथञ्चिदेष प्रवृत्तः ?, अस्तीति ब्रूमः, किं तदिति चेत्, उच्यते, इह मतिश्रुते यावदेकत्र वक्तव्ये, परस्परमनयोः स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वसाधर्म्यात्, तच्च प्रागेव भावितं, अवध्यादिज्ञानेभ्यश्च प्राक्, तद्भाव एवावध्यादिज्ञानसद्भावात्, उक्तं च–"जं सामिकालकारणविसयपरोक्खत्तणेहिं तुल्लाइं। तब्भावे सेसाणि य तेणाईए मइसुय इं ॥ १ ॥ " (वि.८५) तत्रापि पूर्वं मतिज्ञानं पश्चात् श्रुतज्ञानं, मतिपूर्वकत्वात् श्रुतज्ञानस्य, तथाहि–सर्वत्रापि पूर्वं ग्रहादिरूपं मतिज्ञानमुदयते पश्चात् श्रुतज्ञानं, आह च नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत्–"तेसुवि य मइपुव्वयं सुयंति किच्चा पुव्वं मइनाणं कयं, तस्स पिट्ठतो सुयं"ति, नन्वेते मतिश्रुते सम्यक्त्वोत्पादकाले युगपदुत्पत्तिमासादयतः, अन्यथा मतिज्ञानभावेऽपि श्रुताज्ञानप्रसङ्गः, स चानिष्टः, तथा [पि] मिथ्यात्वप्रतिपत्तौ युगपदेवाज्ञानरूपतया परिणमेते, ततः कथं मतिपूर्वं श्रुतमिति, उक्तं च–"णाणाणण्णाणाणि य समकालाइं जतो मइसुयाइं। तो न सुयं मइपुव्वं मइनाणं वा सुअऽन्नाणं॥१॥"(वि.१०६) नैष दोषो, यतः सम्यक्त्वोत्पादकाले समकालं मतिश्रुते लब्धिमात्रमेवाङ्गीकृत्य प्रोच्येते न तूपयोगं, उपयोगस्य तथाजीवस्वाभाव्यतः क्रमेणैव सम्भवात्, मतिपूर्वं च श्रुतमुच्यते उपयोगापेक्षया, न खलु मत्युपयोगेनासञ्चित्य श्रुतग्रन्थानुसारि विज्ञानमासादयति जन्तुस्ततो न कश्चिद्दोषः, आह च–"इह लद्धिमइसुयाइं समकालाइं न तूवयोगो सिं। मइपुव्वं सुयमिह पुण सुयोवओगो मइप्पभवो ॥१॥"(वि.१०७) अथ मतिश्रुतयोः किंकृतो भेदः?, उच्यते, लक्षणभेदादिकृतः, उक्तं च–"लक्खणभेया हेतुफलभावतो भेयइंदियविभागा। वागक्खरमूगेतरभेया भेओ मइसुयाणं ॥१॥" (वि. १०८) तत्र लक्षणभेदाद् भेदो भाव्यते–अभिमुखं–योग्यदेशावस्थितं नियतमर्थमिन्द्रियमनोद्वारेणात्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

***

मति-श्रुत ज्ञानस्य लक्षणभेदात् विशिष्ट अर्था:

येन परिणामविशेषेणावबुध्यते स परिणामविशेषो ज्ञानापरपर्यायः आभिनिबोधिकं, तथा शृणोति–वाच्यवाचकभाव-पुरस्सरं श्रवणविषयेण शब्देन सह संसृष्टमर्थं परिच्छिनत्ति येन परिणामविशेषेणात्मा स परिणामविशेषः श्रुतं, अयं च लक्षणभेदो नन्द्यध्ययने साक्षादभिहितः, तथा च तत्सूत्रम्—"जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं जत्थ सुअनाणं तत्थ आभिणिबोहियनाणं, दोऽवि एयाइं, अन्नुन्नमणुगयाइं तहवि पुण एत्थ आयरिया णाणत्तं पण्णवेंति, अभिणिबुज्झइत्ति आभिणिबोहियं, सुणेईइ सुय"मिति। ननु यद्येवंलक्षणं श्रुतं तर्हि य एव श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमान् तथा भाषालब्धिमान् वा तस्यैव श्रुतमुपपद्यते, न शेषस्यैकेन्द्रियस्य, तथाहि–यः श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमान् भवति स विवक्षितं शब्दं श्रुत्वा तेन शब्देन वाच्यमर्थं प्रतिपत्तुमीष्टे, न शेषः, शेषस्य तथारूपशक्त्यभावात्, योऽपि च भाषालब्धिमान् भवति द्वीन्द्रियादिरपि सोऽपि प्रायः स्वचेतसि किमपि विकल्प्य तदभिमानतः शब्दमुद्गिरति, नान्यथा, ततस्तस्यापि श्रुतं सम्भाव्यते, यस्त्वेकेन्द्रियः स न श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमान् नापि भाषालब्धिमान्, ततः कथं तस्य श्रुतमुपपद्यते?, अथ च प्रवचने तस्यापि श्रुतमुपवर्ण्यते, ततः कथं प्रागुक्तं श्रुतलक्षणं सम्यगिति?, नैष दोषः, इह तावदेकेन्द्रियाणामाहारादिसंज्ञा विद्यन्ते, तथा सूत्रेऽनेकशोऽभिधानात्, संज्ञा चाभिलाष उच्यते, यदुक्तमस्यैवावश्यकस्य मूलटीकायां–"आहारसंज्ञा–आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयप्रभवः स्वल्वात्मपरिणामविशेष" इति, अभिलाषश्च ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि तद्यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवंशब्दार्थोल्लेखानुविद्धः स्वपुष्टिनिमित्तप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसायः, स च श्रुतमेव, तस्य शब्दार्थपर्यालोचनात्मकत्वात्, शब्दार्थपर्यालोचनात्मकता च ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि तद्यदीदमवाप्यते, इत्येव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

सादीनां शब्दानामन्तर्जल्पाकाररूपाणां विवक्षितार्थवाचकतया प्रवर्त्तमानत्वात्, उक्तं च–"इंदियमणोनिमित्तं जं विन्नाणं सुयाणुसारेणं। निययत्थोत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं॥१॥"(वि.१००)अत्र 'सुयाणुसारेणं'ति शब्दार्थपर्यालोचनानुसारेण। शब्दार्थपर्यालोचनं च नाम वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः, केवलं एकेन्द्रियाणामव्यक्तमेव, किञ्च–नाप्यनिर्वचनीयं तथारूपक्षयोपशमभावतो वाच्यवाचकभावपुरःसरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणमवसेयं, अन्यथा आहारादिसंज्ञानुपपत्तेः,यदप्युच्यते यद्येवंलक्षणं श्रुतं तर्हि य एव श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमान् भाषालब्धिमान् वा तस्यैव श्रुतमुपपद्यत इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानं, सम्यक् प्रवचनार्थापरिज्ञानात्, तथाहि-बकुलादीनां स्पर्शनेन्द्रियातिरिक्तद्रव्येन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि किमपि सूक्ष्मं भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानमभ्युपगम्यते, 'पंचेंदियोव वउलो' इत्यादिभाष्यकारवचनप्रामाण्यात्, तथा भाषाश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि तेषां किमपि सूक्ष्मं श्रुतं भविष्यति, अन्यथा आहारादिसंज्ञानुपपत्तेः, आह च भाष्यकृत्-"जह सुहुमं भावेंदियनाणं दव्विंदियावरोहेवि। तह दव्वसुयाभावे भावसुयं पत्थिवाईणं॥१॥"(वि.१०३) ततः समीचीनं प्रागुक्तं श्रुतलक्षणमिति भवति लक्षणभेदाद्भेदः । तथा हेतुफलभेदात्, तथाहि–मतिः कारणं, मत्या प्राप्यमाणत्वात्, श्रुतं तु कार्यं, न खलु मतिपाटवमन्तरेण श्रुतविभवमुत्तरोत्तरमासादयति जन्तुस्तथाऽदर्शनात्, यश्च यदुत्कर्षापकर्षवशादुत्कर्षापकर्षभाक् तत्तस्य कारणं, यथा घटस्य मृत्पिण्डः,मत्युत्कर्षापकर्षवशाच्च श्रुतस्योत्कर्षापकर्षौ ततः कारणं मतिः श्रुतस्य,इतश्च कारणं–मत्या श्रुतस्य पाल्यमानत्वात्, पालनं नाम अवस्थितिकरणं, कथं अवस्थितिकरणं मत्या श्रुतज्ञानस्येति चेत्, उच्यते, इह दलं श्रुतस्य मतिर्यथा घटस्य मृत्, तथाहि–श्रुतेष्वपि बहुषु (ग्रन्थेषु) यद्विषयं स्मरणमीहापोहादि अधिकतरं स ग्रन्थः स्फुटं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिभाति न शेषः, एतच्च प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धं, ततो यथोत्पन्नोऽपि घटो मृदभावे न भवति तथास्वभावायां च मृदि स्थितायामवतिष्ठत इति सा तस्य कारणं, एवं श्रुतस्यापि मतिः कारणं, मतेरुत्पद्यमानत्वात्, मतौ वाऽवस्थितायां तस्याप्यवस्थानात्। तथा च भेदाद्भेदः, तथाहि–चतुर्द्धाव्यञ्जनावग्रहषोढाऽर्थावग्रहेहापायधारणाभेदादष्टाविंशतिविधमाभिनिबोधिकं ज्ञानं, अङ्गप्रविष्टानङ्गप्रविष्टादिभिन्नं च श्रुतज्ञानमिति, तथा इन्द्रियविभागाद्भेदः, तत्प्रतिपादिका चेयं पूर्वान्तर्गता गाथा–"सोइंदियोवलद्धी होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं। मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ १ ॥" अस्या व्याख्या–श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिर्भवति श्रुतं, 'सर्वं वाक्यं सावधारणमिष्टिश्चावधारणप्रवृत्ति'रित्येवमिहावधारणं प्रतिपत्तव्यं–श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव, ननु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेव, कस्मादिति चेत्, उच्यते, इह या श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि श्रुतग्रन्थानुसारिणी सैव श्रुतमुच्यते, या पुनरवग्रहेहापायरूपा सा मतिः, ततो यदि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेत्युच्येत तर्हि मतेरपि श्रुतत्वमापद्येत, तच्चायुक्तं, अतः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतमित्यवधारणीयं, आह च भाष्यकृत्–"सोइंदिओवलद्धी चेव सुयं न उ तई सुयं चेव। सोइंदियउवलद्धीवि काई जम्हा मईनाणं ॥१॥ (वि.१२२) तथा 'सेसयं तु मइनाणं" इति, शेषं यच्चक्षुरादीन्द्रियोपलब्धिरूपं विज्ञानं तन्मतिज्ञानं भवतीति सम्बध्यते, तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, आस्तां शेषं विज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि काचिद् अवग्रहेहापायरूपा मतिज्ञानमिति समुच्चिनोतीति भावः, उक्तं च–"तु समुच्चयवयणातो काई सोइंदिओवलद्धीवि। मइ एवं सइ सोउग्गहादओ होंति मइभेया ॥१॥" (वि.१२३) तदेवं सर्वस्याः शेषेन्द्रियोपलब्धेरुत्सर्गेण मतित्वे प्राप्ते अपवादमाह–'मोत्तूणं दव्वसुयं' मुक्त्वा द्रव्यश्रुतं–पुस्तकपत्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कादिन्यस्ताक्षररूपां द्रव्यश्रुतविषयां शब्दार्थपर्यालोचनात्मिकां शेषेन्द्रियोपलब्धिं, तस्याः श्रुतज्ञानरूपत्वात्, यश्च द्रव्यश्रुतव्यतिरेकेणान्योऽपि शेषेन्द्रियेष्वक्षरलाभः शब्दार्थपर्यालोचनात्मकः सोऽपि श्रुतं, न तु केवलोऽक्षरलाभः, केवलो ह्यक्षरलाभो मतावपि ईहादिरूपायां भवति, न च सा श्रुतज्ञानं, अत्राह–ननु यदि शेषेन्द्रियेष्वक्षरलाभः श्रुतं तर्हि यदवधारणमुक्तं 'श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिरेव श्रुत' मिति तद्विघटते, शेषेन्द्रियोपलब्धेरपि सम्प्रति श्रुतत्वेन प्रतिपन्नत्वात्, नैष दोषः, यतः शेषेन्द्रियाक्षरलाभः स इह गृह्यते यः शब्दार्थपर्यालोचनात्मकः, शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी चाक्षरलाभः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरूप इति न कश्चिद्दोष इति । तथा वल्कसमं मतिज्ञानं, कारणत्वात्, शुम्बसमं श्रुतज्ञानं, तत्कार्यत्वात्, ततो यथा वल्कशुम्बयोर्भेदः तथा मतिश्रुतयोरपि । इतश्च भेदो–मतिज्ञानमनक्षरं साक्षरं च, तथाहि–अवग्रहज्ञानमनक्षरं तस्यानिर्देश्यसामान्यमात्रप्रतिभासात्मकतया निर्विकल्पत्वात्, ईहादिज्ञानं तु साक्षरं, तस्य परामर्शादिरूपतयाऽवश्यं वर्णाल्लिषितत्वात् श्रुतज्ञानं पुनः साक्षरमेव, अक्षरमन्तरेण शब्दार्थपर्यालोचनाऽयोगात् । इतश्च मतिश्रुतयोर्भेदो—मूककल्पं मतिज्ञानं, स्वमात्रप्रत्यायनफलत्वात्, अमूककल्पं श्रुतज्ञानं, स्वपरप्रत्यायकत्वादिति ॥ मतिश्रुतानन्तरं च कालविपर्ययादिसाधर्म्यादवधिज्ञानस्योपन्यासः, तदनन्तरं च छद्मस्थविषयभावादिसाधर्म्यान्मनःपर्यवज्ञानस्योपन्यासः, तदनन्तरं च भावमुनिस्वाम्यादिसाधर्म्यात् सर्वोत्तमत्वाच्च केवलज्ञानस्य, उक्तं च–"मइपुव्वं जेण सुयं तेणादीए मई विसिट्ठो वा । मइभेदो चेव सुअं तो मइसमणंतरं भणियं ॥१॥ कालविवज्जयसामित्तलाभसाहम्मतोऽवही तत्तो । माणसमित्तो छउमत्थविसयभावाइसाहम्मा ॥२॥ अंते केवलमुत्तममुणिसामित्तावसाणलाभातो" इति (वि.८६–८७॥) सम्प्रति 'यथोद्देशं निर्देश'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

इति न्यायात् ज्ञानपञ्चकादावुद्दिष्टस्याभिनिबोधिकज्ञानस्य स्वरूपमभिधीयते, तच्चाभिनिबोधिकज्ञानं द्विधा–श्रुतनिश्रितमश्रुतनिश्रितं च, तत्र शास्त्रपरिकर्मितमतेरुत्पादकाले शास्त्रार्थपर्यालोचनमनपेक्ष्यैव यदुपजायते तत् श्रुतनिश्रितम्-अवग्रहादि, यत्पुनः सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहितस्य तथाविधक्षयोपशमभावत एवमेव यथावस्थितवस्तुसंस्पर्शि मतिज्ञानमुपजायते तदश्रुतनिश्रितम्–औत्पत्तिक्यादि, आह भाष्यकृत्–"पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयातीतं । तन्निस्सियमियरं पुण अणिस्सियं मइचउक्कं तं ॥१॥"(वि.१६९) नन्वौत्पत्तिक्यादिकमप्यवग्रहादिरूपमेव ततः कोऽनयोः प्रतिविशेषः ?, उच्यते, तदप्यवग्रहादिरूपमेव, केवलं शास्त्रानुसारमन्तरेणोपजायत इति भेदेनोपन्यस्तं, ननु 'तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला' इति वचनात् तत्रापि किञ्चित् श्रुतोपकारादेव जायते, तत्कथमश्रुतनिश्रितमिति ?, सत्यमेतत्, वैनयिकीं विहाय अश्रुतनिश्रितं प्रतिपत्तव्यं, यस्तु वैनयिक्या अश्रुतनिश्रितेषु नन्द्यध्ययने निर्युक्तौ वा पाठः स बुद्धिसाम्यादिति कृतं प्रसङ्गेन ॥ तत्र श्रुतनिश्रिताभिनिबोधिकज्ञानस्वरूपप्रदर्शनार्थमाह—

"उग्गहो ईहा अवातो य धारणा एव होंति चत्तारि । आभिणिबोहियनाणस्स भेयवत्थू समासेणं ॥ २ ॥"

अवग्रहणमवग्रहः, अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणमित्यर्थः, यदाह नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत्–"सामन्नस्स रूवादिविसेसणरहियस्स अनिद्देस्सस्स अवग्गहणमवग्गह" इति, तथा ईहनमीहा–सद्भूतार्थपर्यालोचनरूपा चेष्टा'ईहि चेष्टाया'मिति वचनात्, किमुक्तं भवति ?–अवग्रहादुत्तरकालमपायात् पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेषपरित्यागाभिमुखः प्रायोऽत्र मधुरत्वादयः शङ्खादिशब्दधर्म्मा दृश्यन्ते न खरकर्कशनिष्ठुरतादयः शार्ङ्गादिशब्दधर्म्मा इत्येवंरूपो मतिविशेष ईहा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मतिज्ञानस्य 'अवग्रह' आदि भेदा: वर्णयन्ते

आह च भाष्यकृत्–"भूयाभूयविसेसादाणच्चायाभिमुहमीहा।' (वि.१८४) अन्ये तु संशयमात्रमीहामुपवर्णयन्ति, तदसम्यक्, संशयो ह्यज्ञानं, मतिज्ञानांशश्च ईहा, तत्कथमेषा संशयमात्रं भवितुमर्हति ? उक्तं च–"ईहा संसयमेत्तं केई न तयं तओ जमन्नाणं। मईनाणंसो चेहा कहमन्नाणं तई जुत्तं?॥१॥"(वि.१८२) तथा तस्यैव अवगृहीतस्य ईहितस्य चार्थस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायोऽवायः, शाङ्ग एवायं शार्ङ्ग एवायमित्यादिरूपोऽवधारणात्मकः प्रत्ययोऽवाय इति भावः, चशब्दः पृथक्त्वेऽवग्रहादिस्वरूपस्वातन्त्र्यप्रदर्शनार्थः, अवग्रहादीनामीहादयः पर्याया न भवन्तीति तदर्थख्यापनार्थ इत्यर्थः, तस्यैवार्थस्य निर्णीतस्य धरणं धारणा, सा च त्रिधा–अविच्युतिर्वासना स्मृतिश्च, तत्र तदुपयोगादविच्यवनमविच्युतिः, सा चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, ततस्तया आहितो यः संस्कारः स वासना, सा च सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं यावद् भवति, सङ्ख्येयवर्षायुषां सङ्ख्येयं कालमसङ्ख्येयवर्षायुषामसङ्ख्येयं कालमिति भावार्थः, ततः कालान्तरे कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनादिकात् कारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यद् ज्ञानमुदयते तदेवेदं यन्मया प्रागुपलब्धमित्यादिरूपा सा स्मृतिः, उक्तं च–"तदनन्तरं तदत्थाविच्चवणं जो उ वासणाजोगो। कालन्तरेण जो पुणरणुसरणं धारणा सा उ॥१॥"(वि.२९१) एताश्चाविच्युतिवासनास्मृतयो धरणलक्षणसामान्यान्वर्थयोगाद्धारणाशब्दवाच्याः, एवंशब्दः क्रमप्रदर्शनार्थः, आर्षत्वाच्च मकारलोपः, एवं–अनेनैव क्रमेण, तथाहि–नानवगृहीतमीह्यते न चानीहितमवगम्यते न चानवगतं धार्यत इति, चत्वारि आभिनिबोधिकज्ञानस्य भिद्यन्त इति भेदाः विकल्पा अंशा इत्यनर्थान्तरं त एव वस्तूनि भेदवस्तूनि, वास्तवा भेदा इति भावः, समासेन–सङ्क्षेपेण, नतु विस्तरतः, विस्तरतोऽष्टाविंशत्यादिभेदभावात्, अथवा काक्वा नीयते–एवं भवन्ति चत्वार्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भेदवस्तूनि?, समासेन, न तु विस्तरत इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

उपोद्घाते ॥ २३ ॥

साम्प्रतमनन्तरोपन्यस्तानामवग्रहादीनां स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

"अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं तह विआलणं इहं । ववसायं च अवायं धरणं पुण धारणं बेंति ॥ ३ ॥"

अर्थ्यन्ते गम्यंते परिच्छिद्यन्ते इतियावत् अर्थाः "कमिग्रहिजविदिभ्यस्थ"इत्यौणादिकः थप्रत्ययः, ते च रूपादयः, तेषामर्थानां प्रथमं ग्रहणमवग्रहणमवग्रहं ब्रुवते इति योगः, स च द्विधा–व्यञ्जनावग्रहोऽर्थावग्रहश्च, तत्र व्यञ्जनावग्रहपूर्वकोऽर्थावग्रह इति प्रथमं व्यञ्जनावग्रहः प्रतिपाद्यते, अथ व्यञ्जनावग्रह इति कः शब्दार्थः ?, उच्यते, व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं, तच्चोपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च यः परस्परं सम्बन्धः, संपृक्तिरित्यर्थः, सम्बन्धे हि सति सोऽर्थः श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यक्तुं शक्यते नान्यथा, ततः सम्बन्धो व्यञ्जनं, तथा चाह भाष्यकृत्–"वंजिज्जइ जेणऽत्थो घडोव दीवेण वंजणं तं च । उवगरणिंदियसद्दाइपरिणयद्दव्वसंबंधो ॥१॥"(वि.१९४) व्यञ्जनेन–सम्बन्धेनावग्रहणं-सम्बध्यमानस्य शब्दादि-रूपस्यार्थस्याव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः, अथवा व्यज्यन्ते इति व्यञ्जनानि, 'कृद्वहुल'मिति वचनात् कर्मण्यनट्, व्यञ्जनानां–शब्दादिरूपतया परिणतानां द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियसम्प्राप्तानामवग्रहः–अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः, अथवा व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं–उपकरणेन्द्रियं तेन स्वसम्बद्धस्यार्थस्य शब्दादेरवग्रहणं–अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः, स चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः, आह–ननु व्यञ्जनावग्रहवेलायां न किमपि संवेदनं संवेदयामहे, तत्कथमसौ ज्ञानरूपो गीयते ?, उच्यते, अव्यक्तत्वान्न संवेद्यते ततो न कश्चिद्दोषः, अस्तित्वे किं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते, अनुमानं, तथाहि–यदि प्रथमसमयेऽपि शब्दादिपरिणतद्रव्याणामुपकरणेन्द्रियस्य च परस्परसम्पृक्तौ काचिदपि

अवग्रहादि स्वरूपम् गा. ३

॥ २३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानमात्रा न भवेत् ततो द्वितीयेऽपि समये न भवेत्, विशेषाभावात्, एवं यावच्चरमसमयेऽपि, अथ चरमसमये ज्ञानमर्थावग्रहरूपं जायमानमुपलभ्यते ततः प्रागपि कापि कियती मात्रा प्रतिपत्तव्या, अथ मन्येथा मा भूत् प्रथमसमयादिषु शब्दादिपरिणतद्रव्याभिसम्बन्धेऽपि कान्चिदपि ज्ञानमात्रा शब्दादिपरिणतद्रव्याणां तत्र स्तोकत्वात् चरमसमये तु भविष्यति शब्दादिपरिणतद्रव्यसमूहस्य भूयसो भावात्, तदप्ययुक्तं, यतो यदि प्रथमसमयादिषु शब्दादिद्रव्याणां स्तोकत्वात् सम्पृक्तौ नाव्यक्ताऽपि काचिदपि ज्ञानमात्रोपजायते ततः प्रभूतसमुदायसम्पर्केऽपि न भवेत्, न खलु सिकताकणादिषु प्रत्येकमसति तैललेशे समुदाये तैलमुद्भवदुपलभ्यते, अस्ति च चरमसमये प्रभूतशब्दादिसम्पर्के ज्ञानं, ततः प्राक्तनेष्वपि समयेषु स्तोकस्तोकतरैरपि शब्दादिपरिणतद्रव्यैः सम्बन्धे काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्राऽभ्युपगन्तव्या, अन्यथा चरमसमयेऽपि न स्यात्, उक्तं च–"जं सव्वहा न वीसुं सव्वेसुवि तं न रेणु तेल्लं व । पत्तेयमणिच्छंतो कहमिच्छसि समुदये नाणं ? ॥ १ ॥" (वि. २०१) ततः स्थितमेतत्–व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानरूपः, केवलं च तत् ज्ञानमव्यक्तमवसातव्यं, स च चतुर्विधस्तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः जिह्वेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः स्पर्शनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहश्च, ननु सत्सु पञ्चस्विन्द्रियेषु षष्ठे च मनसि कस्मादयं चतुर्विधः ?, उच्यते, इह व्यञ्जनमुपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिपरिणतद्रव्याणां परस्परं सम्बन्ध उच्यते, सम्बन्धश्च चतुर्णामेव श्रोत्रेन्द्रियादीनां, न नयनमनसोः, तयोरप्राप्यकारित्वात्, कथमप्राप्यकारितेति चेत्, उच्यते, विषयकृतानुग्रहोपघाताभावात्, यदि पुनः प्राप्तमर्थं चक्षुर्मनो वा गृह्णीयात् तर्हि यथा स्पर्शनेन्द्रियं स्नक्चन्दनादिकमङ्गारादिकं वा प्राप्तमर्थं परिच्छि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्दत्तत्कृतानुग्रहोपघातभाग् भवति, तथा चक्षुर्मनसी अपि भवेतां, न च भवतस्तस्मादप्राप्यकारिणी ते इति, ननु दृश्येते चक्षुषोऽनुग्रहोपघातौ, तथाहि–जरठकरप्रसरमभिसर्प्पयन्तमंशुमालिनं चिरं विलोकमानस्य भवति चक्षुषो विघातः, शशाङ्ककरनिकरं तरङ्गमालोपशोभितं जलं शाद्वलतरुमण्डलं वाऽवलोकमानस्यानुग्रहः, तदेतज्जाड्यविलसितं, यतो न वयं ब्रूमः सर्वथा चक्षुषोऽनुग्रहोपघातौ न भवतः, किन्तु विषयमप्राप्तं चक्षुर्गृह्णातीत्येवाभिदध्महे, विषयकृतानुग्रहोपघातासम्भवेऽपि तत्परिच्छेदभावात्, प्राप्तेन त्वपघातकेनोपघातो भविष्यत्यनुग्राहकेण चानुग्रहः, तत्रांशुमालिनो रश्मयः सर्वत्रापि प्रसरमुपाददते, नात्र विसंवादः, ततस्ते चक्षुः सम्प्राप्ताः सन्तः स्पर्शनेन्द्रियमिव चक्षुरप्युपघ्नन्ति, शीतांशुरश्मयस्तु स्वभावत एव शीतलत्वादनुग्राहकाः ततस्ते चक्षुरनुगृह्णन्ति, तरङ्गमालासङ्कुलजलावलोकेन च जलकणसम्पृक्तसमीरणावयवसंस्पर्शतोऽनुग्रहः, शाद्वलतरुमण्डलावलोकनेऽपि शाद्वलतरुच्छायासम्पर्कशीतीभूतसमीरसंस्पर्शात्, शेषकालं तु जलाद्यवलोकनेऽनुग्रहाभिमान उपघाताभावादवसेयः, भवति चोपघाताभावेऽनुग्रहाभिमानो, यथाऽतिसूक्ष्माक्षरनिरीक्षणाद्विनिवृत्त्य यथासुखं नीलीरक्तवस्त्राद्यवलोकने, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा सम्पर्के यथा सूर्येणोपघातो भवति तथा हुतवहजलशूलाद्यालोकने दाहक्लेदपाटनादयोऽपि कस्मान्न भवन्ति ?, अपिच–यदि चक्षुः प्राप्यकारि तर्हि स्वदेशगतं रजोमलाञ्जनादि किं न पश्यति ?, तस्मादप्राप्यकार्येव चक्षुः, ननु यदि चक्षुरप्राप्यकारि तर्हि कस्मादविशेषेण सर्वानप्यर्थान् न गृह्णाति, यदि हि प्राप्तं परिच्छिन्द्यात् तर्हि यदेवानावृतमदूरदेशं वा तदेव गृह्णीयात् नावृतं दूरदेशस्थं वा, तत्र नयनरश्मीनां गमनासम्भवात् सम्पर्काभावात्, ततो युज्येत चक्षुषो ग्रहणाग्रहणे नान्यथा, तथा चोक्तम्–"प्राप्यकारि चक्षुः उपल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

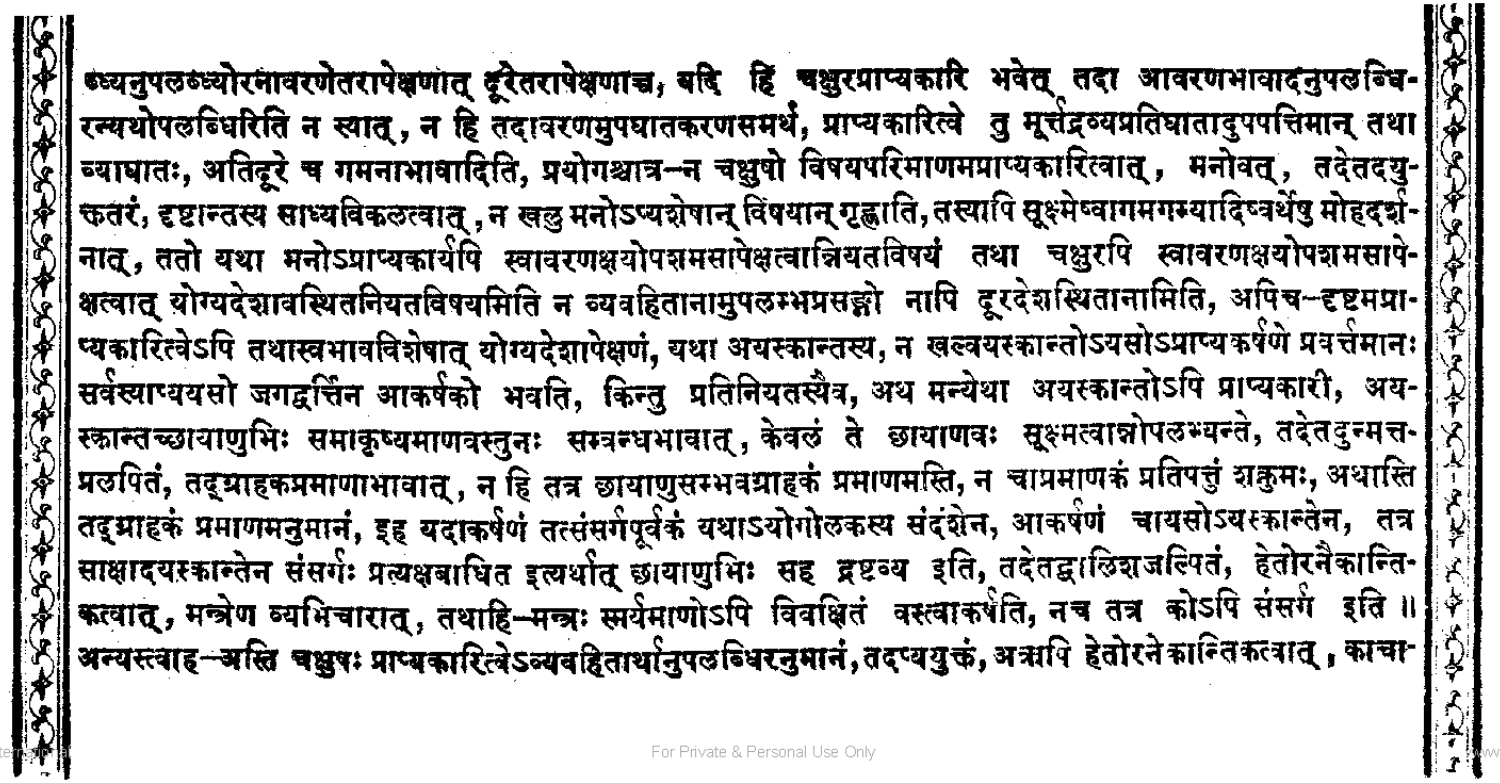

ज्यनुपलब्ध्योरनावरणेतरापेक्षणात् दूरेतरापेक्षणाच्च, यदि हि चक्षुरप्राप्यकारि भवेत् तदा आवरणभावादनुपलब्धिरन्यथोपलब्धिरिति न स्यात्, न हि तदावरणमुपघातकरणसमर्थं, प्राप्यकारित्वे तु मूर्त्तद्रव्यप्रतिघातादुपपत्तिमान् तथा व्याघातः, अतिदूरे च गमनाभावादिति, प्रयोगश्चात्र–न चक्षुषो विषयपरिमाणमप्राप्यकारित्वात्, मनोवत्, तदेतदयुक्तरं, दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, न खलु मनोऽप्यशेषान् विषयान् गृह्णाति, तस्यापि सूक्ष्मेष्वागमगम्यादिष्वर्थेषु मोहदर्शनात्, ततो यथा मनोऽप्राप्यकार्यपि स्वावरणक्षयोपशमसापेक्षत्वान्नियतविषयं तथा चक्षुरपि स्वावरणक्षयोपशमसापेक्षत्वात् योग्यदेशावस्थितनियतविषयमिति न व्यवहितानामुपलम्भप्रसङ्गो नापि दूरदेशस्थितानामिति, अपिच–दृष्टमप्राप्यकारित्वेऽपि तथास्वभावविशेषात् योग्यदेशापेक्षणं, यथा अयस्कान्तस्य, न खल्वयस्कान्तोऽयसोऽप्राप्यकर्षणे प्रवर्त्तमानः सर्वस्याप्ययसो जगद्वर्त्तिन आकर्षको भवति, किन्तु प्रतिनियतस्यैव, अथ मन्येथा अयस्कान्तोऽपि प्राप्यकारी, अयस्कान्तच्छायाणुभिः समाकृष्यमाणवस्तुनः सम्बन्धभावात्, केवलं ते छायाणवः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते, तदेतदुन्मत्तप्रलपितं, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, न हि तत्र छायाणुसम्भवग्राहकं प्रमाणमस्ति, न चाप्रमाणकं प्रतिपत्तुं शक्नुमः, अथास्ति तद्ग्राहकं प्रमाणमनुमानं, इह यदाकर्षणं तत्संसर्गपूर्वकं यथाऽयोगोलकस्य संदंशेन, आकर्षणं चायसोऽयस्कान्तेन, तत्र साक्षादयस्कान्तेन संसर्गः प्रत्यक्षबाधित इत्यर्थात् छायाणुभिः सह द्रष्टव्य इति, तदेतद्बालिशजल्पितं, हेतोरनैकान्तिकत्वात्, मन्त्रेण व्यभिचारात्, तथाहि–मन्त्रः स्मर्यमाणोऽपि विवक्षितं वस्त्वाकर्षति, नच तत्र कोऽपि संसर्ग इति ॥ अन्यस्त्वाह–अस्ति चक्षुषः प्राप्यकारित्वेऽव्यवहितार्थानुपलब्धिरनुमानं, तदप्ययुक्तं, अत्रापि हेतोरनैकान्तिकत्वात्, काचा-

आ. सू. ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घाते ॥ २५ ॥

भ्रस्फटिकैर्व्यवहितस्याप्युपलब्धेः, अथेदमाचक्षीथाः—नायना रश्मयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्ति, नायनाश्च रश्मयस्तैजसत्वान्न तेजोद्रव्यैः प्रतिस्खल्यन्ते, ततो न कश्चिद्दोषः, तदपि न मनोरमं, महाज्वालादौ प्रतिस्खलनोपलब्धेः, तस्मादप्राप्यकारित्वं चक्षुषः। एवं मनसोऽप्यप्राप्यकारित्वं भावनीयं, तत्रापि विषयकृतानुग्रहोपघाताभावात्, अन्यथा तोयादिचिन्तायामनुग्रहोऽग्निशस्त्रादिचिन्तायां चोपघातो भवेत्, ननु दृश्यतेऽप्यनुग्रहो हर्षादिभिः शरीरोपचयदर्शनात्, तथाहि—हर्षप्रकर्षवशान्मनसोऽतिपुष्टता, तद्वशाच्च शरीरोपचयः, उपघातोऽपि च दृश्यते, शरीरदौर्बल्यदर्शनात्, तथाहि—अतिशोककरणतो मनसो विघातसम्भवस्तद्वशाच्च शरीरस्य दौर्बल्यं, चिन्तावशाच्च हृद्रोग इति, तदेतदतीवासंबद्धं, यत इह मनसोऽप्यप्राप्यकारित्वं साध्यमानं वर्त्तते, विषयकृतानुग्रहोपघाताभावादिति हेतोः, न चेह विषयकृतावनुग्रहोपघातौ त्वया मनसो दर्श्येते तत्कथं व्यभिचारः?, मनस्तु स्वयं पुद्गलमयत्वात् शरीरस्यानुग्रहोपघातौ करिष्यति, यथेष्टानिष्टरूप आहारः, तथाहि—इष्टरूप आहारः परिभुज्यमानः शरीरस्य पोषमाधत्ते अनिष्टरूपस्तूपघातं, तथा मनोऽप्यनिष्टपुद्गलोपचितमतिशोकादिनिबन्धनं शरीरस्य हानिमादधाति, इष्टपुद्गलोपचितं च हर्षादिकारणं पुष्टिं, "इट्ठाणिट्ठाहारब्भवहारे होंति पुट्ठिहाणीतो। जह तह मणसो ताओ पोग्गलगणतोत्ति को दोसो?, ॥१॥" (वि०२२१) तस्मान्मनोऽपि विषयकृतानुग्रहोपघाताभावादप्राप्यकारीति चतुर्धा व्यञ्जनावग्रहः। तथा व्यञ्जनावग्रहचरमसमयोपात्तशब्दाद्यर्थावग्रहणलक्षणोऽर्थावग्रहः, सामान्यमात्रानिर्देश्यग्रहणमेकसामयिकमर्थावग्रह इति भावः, 'तथे'त्यानन्तर्ये विचारणं—पर्यालोचनमर्थानामित्यनुवर्त्तते, ईहनमीहा, तां हुवते इति योगः, किमुक्तं भवति?—अवग्रहादुत्तीर्णोऽपायात्पूर्वः सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भू-

मनसोऽप्राप्यकारिता

॥ २५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

तार्थविशेषपरित्यागाकाङ्क्षी मतिविशेष इति, विशिष्टोऽवसायो व्यवसायः निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्यनर्थान्तरं तं, व्यवसायम् अर्थानामिति वर्त्तते अवायं ब्रुवत इति संसर्गः, एतदुक्तं भवति–शाङ्क एवायं शार्ङ्ग एवायमित्याद्यवधारणात्मकः प्रत्ययोऽवाय इति, चशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, व्यवसायमेवावायं ब्रुवत इति, धृतिर्धारणम् अर्थानामिति वर्त्तते, परिच्छिन्नस्य वस्तुनोऽविच्युतिवासनास्मृतिरूपं धरणं पुनर्धारणां ब्रुवते, पुनःशब्दोऽप्येवकारार्थः, स चावधारणे, ब्रुवते इत्यनेन शास्त्रपारतन्त्र्यमाह, इत्थं तीर्थकरगणधरा ब्रुवते इति, अर्थावग्रहेहापायधारणाः पञ्चस्विन्द्रियेषु षष्ठे च मनसि भावात् प्रत्येकं षड्भेदात्मकाश्चतुर्द्धा व्यञ्जनावग्रह इति सर्वसङ्कलनयाऽष्टाविंशतिभेदभिन्नमाभिनिबोधिकं ज्ञानमवगन्तव्यं, नवरमीहा सदृशधर्मोपेतवस्तुविषयेति नयनादिनिबन्धनेहाविषया यथाक्रमं स्थाणुपुरुषादिकुष्ठोत्पलादिसम्भृतकारवेल्लमांसादिसर्प्पोत्पलनालादयः प्रतिपत्तव्याः, उक्तं च–"थाणुपुरिसादिकुट्ठुप्पलादिसंभियकरेल्लमंसाइं। सप्पुपलनालाइय समाणरूवाइ विसयाइं॥१॥" (वि०२९३)अन्ये पुनरेवं पठन्ति–"अत्थाणं उग्गहणंमि उग्गहो तह वियालणे ईहा। ववसायंमि अवाओ धरणं पुण धारणं वेंति ॥१॥"तत्रार्थानामवग्रहणे सति अवग्रहो नाम प्रथमो मतिभेदो भवतीत्येवं ब्रुवते, एवमीहादिष्वपि योज्यं, भावार्थस्तु पूर्ववत्, अथवा प्राकृतत्वाद्भवति विभक्तीनां व्यत्ययो, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे–"व्यत्ययोऽप्यासा" मिति, ततो यथा आचाराङ्गे "अगणिं च खलु पुट्ठा वेगे संघायमावज्जंती"त्यत्र सूत्रे अग्निना च स्पृष्टा, अथवा स्पृष्टशब्दः पतितवाची, अग्नौ च पतिता एके–श्लभादयः सङ्घातमापद्यन्ते–अन्योऽन्यगात्रसङ्कोचमासादयन्ति, तस्मादग्निसमारम्भोऽनेकसत्त्वव्यापत्तिहेतुत्वान्न कार्य इति द्वितीया तृतीयार्थे सप्तम्यर्थे च व्याख्याता, तथाऽत्रापि सप्तमी प्रथमार्थे द्रष्टव्या, ततोऽयमर्थः–अर्थानामवग्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हणमवग्रहो नाम प्रथमो मतिभेद इत्येवं ब्रुवते तीर्थकरगणधराः, एवमीहादिष्वपि भावनीयं ॥ साम्प्रतमभिहितस्वरूपाणामवग्रहादीनां कालप्रमाणमभिधित्सुराह–

उग्गह एक्कं समयं ईहावाया मुहुत्तमंतं तु । कालमसंखं संखं च धारणा होइ नायव्वा ॥ ४ ॥

अवग्रहो–व्याख्यानात् नैश्चयिकोऽर्थावग्रहः, किमित्याह–एकं समयं, अत्र "कालाध्वनोर्व्याप्ता"विति द्वितीया, एकसमयं यावदित्यर्थः, तत्र परमनिकृष्टः कालविशेषः समयः, स च प्रवचनप्रतिपादितोत्पलपत्रशतव्यतिभेदोदाहरणात् पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताच्चावसेयः, सांव्यवहारिकार्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहौ पृथक्पृथगन्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणौ, 'ईहावाया मुहुत्तमंतं तु' इति ईहा च अवायश्च ईहावायौ, प्राकृतत्वाद्बहुवचनं, उक्तं च–"बहुवयणेण दुवयणं छट्ठीविभत्तीए भन्नइ चउत्थी । जह हत्था तह पाया नमोऽत्थु देवाहिदेवाणं ॥ १ ॥" तौ ईहावायौ मुहूर्त्तान्तः–भिन्नमुहूर्त्तं ज्ञातव्यौ, अन्तर्मध्यकरणे, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, एतदुक्तं भवति–मुहूर्त्तान्तः–भिन्नं मुहूर्त्तं ज्ञातव्यौ, अन्तर्मुहूर्त्तमेवेत्यर्थः, क्वचित् मुहुत्तमद्धं त्विति पाठः, तत्र मुहूर्त्तशब्देन घटिकाद्वयपरिमाणः कालोऽभिधीयते, तस्यार्धं मुहूर्त्तार्धं, तुशब्दो विशेषणार्थः, स चैतद्विशिनष्टि–व्यवहारापेक्षयाऽर्द्धमित्युक्तं तत्त्वतस्त्वन्तर्मुहूर्त्तमवसेयं, तथा कलनं कालः तं कालं न विद्यते सङ्ख्या–इयन्तः पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादय इत्येवंभूता यस्यासावसङ्ख्यः, पल्योपमादिलक्षण इत्यर्थः, तं कालमसङ्ख्येयं, तथा सङ्ख्यायते इति सङ्ख्या, इयन्तः पक्षमासर्त्वयनादयः इत्येवं सङ्ख्याप्रमितेः, सङ्ख्यं, चशब्दादन्तर्मुहूर्त्तं च, धारणा–अभिहितलक्षणा भवति ज्ञातव्या, अयमत्र भावार्थः–अवायोत्तरकालमविच्युतिरूपा अन्तर्मुहूर्त्तं भवति, एवं स्मृतिरूपापि, वासना तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

तदावरणकर्मक्षयोपशमाख्या संस्कारापरपर्याया, अत एव स्मृतिधारणाया बीजभूता सङ्ख्येयवर्षायुषां सत्त्वानां सङ्ख्येयं असङ्ख्येयवर्षायुषां च पल्योपमादिजीविनामसङ्ख्येयमिति, उक्तं च—"त (अ) त्थोग्गहो जहण्णो समओ सेसोग्गहादयो वीसुं । अंतोमुहुत्तमेगं तु वासणा धारणं मोत्तुं ॥ १ ॥" (वि०३३४) तदेवमवग्रहादीनां कालमानमभिधाय सम्प्रति श्रोत्रेन्द्रियादीनां प्राप्ताप्राप्तविषयतां प्रतिपिपादयिषुराह–

पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु । गंधं रसं च फासं च बद्धपुट्ठं वियागरे ॥ ५ ॥

ननु व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणाद्वारेणैव तथा श्रोत्रेन्द्रियादीनां प्राप्ताप्राप्तविषयता प्राक् प्रतिपादिता ततः किमर्थमेषः पुनः प्रयास इति ?, उच्यते, तत्र प्रक्रान्तगाथा व्याख्यानद्वारेण प्रतिपादिता, सम्प्रति तु सूत्रतः प्रतिपाद्यत इत्यदोषः, श्रोत्रेन्द्रियं कर्तृ शब्दं कर्मतापन्नं शृणोति–गृह्णाति परिच्छिनत्तीति भावः, स्पृष्टं तनौ रेणुवत् आलिङ्गितमात्रं, किमुक्तं भवति ?–शब्दद्रव्याणि सकललोकव्यापीनि सूक्ष्माणि, अत एव द्रव्येन्द्रियस्यान्तरपि मनाक् प्रविशन्ति, तदन्यद्रव्यवासनस्वभावानि च, श्रोत्रेन्द्रियं शेषेन्द्रियगणापेक्षया प्रायः पटुतरं, ततः स्पृष्टमात्रमेव शब्दद्रव्यसमूहं गृह्णाति, एतेन यदाहुः सुगतमतानुसारिणः–श्रोत्रमप्यप्राप्तकारि, तथा च तद्ग्रन्थः "चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्यकारी"ति, ते प्रतिक्षिप्ता द्रष्टव्याः, तथाहि–अप्राप्यकारि तत् प्रतिपत्तुं शक्यते यस्य विषयकृतानुग्रहोपघाताभावो, यथा चक्षुर्मनसी, श्रोत्रस्य च शब्दकृत उपघातो दृश्यते, सद्योजातबालकस्य समीपे महाप्रयत्नताडितझल्लरीज्ञात्कारश्रवणतो यद्वा विद्युत्प्रपाते, तत्प्रत्यासन्नदेशवर्त्तिनां निर्घोषश्रवणतो बधिरीभावदर्शनात्, शब्दपरमाणवो हि उत्पत्तिदेशादारभ्य जलतरङ्गन्यायेन प्रस-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्त-अप्राप्त विषयस्य वर्णनं

उपोद्घाते ॥ २७ ॥

रमभिगृह्णानाः श्रोत्रेन्द्रियमागच्छन्ति, ततः सम्भवत्युपघातः, ननु यदि श्रोत्रेन्द्रियं प्राप्तमेव शब्दं गृह्णाति नाप्राप्तं तर्हि यथा गन्धादौ गृह्यमाणे न तत्र दूरासन्नादितया भेदप्रतीतिरेवं शब्देऽपि न स्यात्, प्राप्तो हि विषयः परिच्छिद्यमानः सर्वोऽपि सन्निहित एव तत्कथं तत्र दूरासन्नादिभेदप्रतीतिर्भवितुमर्हति, अथ च प्रतीयते शब्दो दूरासन्नादितया, तथा च लोके वक्तारः–श्रूयते कस्यापि दूरे शब्द इति, अन्यच्च यदि प्राप्तः शब्दो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तर्हि चाण्डालोक्तोऽपि शब्दः श्रोत्रेन्द्रियसंस्पृष्टो गृह्यते इति श्रोत्रस्य चाण्डालस्पर्शदोषः, तन्न श्रेयसी श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्तकारिता, तदेतन्महा-मोहमलीमसमानसभाषितं, यतो यद्यपि शब्दः प्राप्तो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तथापि यत उत्थितः शब्दस्तस्य दूरासन्नत्वे शब्देऽपि स्वभाववैचित्र्यसम्भवात् दूरासन्नादिभेदप्रतीतिरुल्लसिष्यति, तथाहि–दूरादागतः शब्दः क्षीणशक्तिकत्वात् खिन्न इव लक्ष्यते, अस्पष्टरूपो वा, ततो लोके व्यवहारो दूरे शब्दः श्रूयते इति, अस्य वाक्यस्यायं भावार्थः–दूरादागतः श्रूयते इति, स्यादेतद्–एवमतिप्रसङ्गः प्राप्नोति, तथाहि–एतदपि वक्तुं शक्यते, दूरे रूपमुलभ्यते, किमुक्तं भवति?–दूरादागतं रूप-मुपलभ्यत इति, ततश्चक्षुरपि प्राप्यकारीति प्राप्नोति, न चैतदिष्यते तस्मान्न तत्समीचीनमिति, तदयुक्तं, यत इह चक्षुषो रूपकृतावुपग्रहोपघातौ नोपलभ्येते, श्रोत्रेन्द्रियस्य तु शब्दकृत उपघात उपलम्भगोचरोऽस्ति, यथोक्तं प्राक्, ततो नाति-प्रसङ्गापादनं युक्तिमत्, अन्यच्च प्रत्यासन्नोऽपि जनः पवनस्य प्रतिकूलमवतिष्ठमानः शब्दं न शृणोति, पवनवर्त्मनि पुनरवतिष्ठमानो दूरदेशस्थितोऽपि शृणोति, तथा च लोके वक्तारो–न वयं प्रत्यासन्ना अपि त्वदीयं शब्दं शृणुमः, पवनस्य प्रतिकूलमवस्थानात्, यदि पुनरप्राप्तमेव शब्दं रूपमिव जनाः प्रमिणीयुस्तर्हि पवनस्य प्रतिकूलमप्यवतिष्ठमाना रूपमिव

शब्दादी-नां स्पृष्टा-स्पृष्टतादि

॥ २७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

शब्दं यथावस्थितं परिच्छिन्द्युः, नच परिच्छिन्दन्ति, तस्मात्प्राप्ता एव शब्दपरमाणवः श्रोत्रेन्द्रियेण परिगृह्यन्ते इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, इतश्चाभ्युपगन्तव्यमन्यथा क्रमग्रहणानुपपत्तेः, तथाहि–यद्यप्राप्ता एव शब्दा गृह्यन्ते तर्हि तेषां योग्यदेशावस्थितानां समीपस्थैर्दूरस्थैश्च ग्रहणमेककालं भवेत्, यथा चक्षुषा योग्यदेशावस्थानां घटपटादीनां, अथ च क्रमेण ग्रहणमनुभूयते, पूर्वं समीपस्थैः पश्चाद्दूरस्थैरिति, यदपि चोक्तं 'चाण्डालस्पर्शदोष' इति, तदपि चेतनाविकलपुरुषभाषितमिवासमीचीनं, स्पृश्यास्पृश्यव्यवस्था हि लोके काल्पनिकी न पारमार्थिकी, तथाहि–यामेव भुवमग्रे चाण्डालः स्पृशन् याति तामेव पृष्ठतः श्रोत्रियोऽपि, तथा यामेव नावमारोहति चाण्डालस्तामेवारोहति श्रोत्रियोऽपि, तथा स एव मारुतः चाण्डालं स्पृष्ट्वा श्रोत्रियमपि स्पृशति, न च तत्र लोके स्पर्शदोषव्यवस्था, तथा शब्दपुद्गलसंस्पर्शेऽपि न भवतीति न कश्चिद्दोषः, अन्यच्च–यदा केतकीदलनिचयं शतपत्रादिपुष्पनिचयं वा शिरसि निबध्य वपुषि वा मृगमदचन्दनाद्यवलेपनमारचय्य विपणिवीथीमागत्य चण्डालोऽवतिष्ठते तदा तद्गतकेतकीदलादिगन्धपुद्गलाः श्रोत्रियादिनासिकास्वपि प्रविशन्ति, ततस्तत्रापि चाण्डालस्पर्शदोषः प्राप्नोतीति तद्दोषभयान्नासिकेन्द्रियमप्यप्राप्यकारि प्रतिपत्तव्यं, न चैतद्भवतोऽप्यागमे प्रतिपाद्यते, ततो बालिशजल्पितमिति कृतं प्रसङ्गेन । केचित्पुनः श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्यकारितामप्यभ्युपगच्छन्तः शब्दस्याम्बरगुणत्वं प्रतिपन्नाः, तदश्लीलं, आकाशगुणतायां शब्दस्यामूर्त्तत्वप्रसक्तेः, यो हि यद्गुणः स तत्समानधर्मा, यथा ज्ञानमात्मनः, तथाहि–अमूर्त्त आत्मा ततस्तद्गुणो ज्ञानमप्यमूर्त्तमेव, एवं शब्दोऽपि यद्याकाशगुणः तर्हि आकाशस्यामूर्त्तत्वात् शब्दस्यापि तद्गुणत्वेनामूर्त्तता भवेत्, न चासौ युक्तिसङ्गता, तल्लक्षणायोगात्, मूर्त्तिविरहो ह्यमूर्त्तता, न च शब्दानां मूर्त्तिविरहः स्पर्शवत्त्वात्, तथाहि–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घाते ॥ २८ ॥

स्पर्शवन्तः शब्दाः, तत्सम्पर्के उपघातदर्शनाल्लोष्ठवत्, न चायमसिद्धो हेतुः, यतो दृश्यते सद्योजातबालकानां कर्णदेशाभ्यर्ण-गाढास्फालितझल्लरीझात्कारश्रवणतः श्रवणस्फोटो, न चेत्थमुपघातकृत्त्वमस्पर्शवत्त्वे सम्भवति, यथा हि विहायसः, ततो विपक्षे गमनासम्भवान्नानैकान्तिकोऽपि, अतश्च स्पर्शवन्तः शब्दाः, तैरभिघाते गिरिगह्वरभित्त्यादिषु शब्दोत्थानात् लोष्ठ-वत्, अयमपि हेतुरुभयोरपि सिद्धः, तथाहि–श्रूयते तीव्रप्रयत्नोच्चारितशब्दाभिघाते गिरिगह्वरादिषु प्रतिशब्दाः प्रतिदिक्, ततः स्पर्शवत्त्वान्मूर्त्त एव शब्दः, 'रूपस्पर्शादिसन्निवेशो मूर्त्ति'रिति वचनात्, ततः कथमिवाकाशगुणत्वं शब्दानामुपप-त्तिमत्, अपिच–तदाकाशमेकमनेकं वा ?, यद्येकं तर्हि योजनलक्षादपि श्रूयेत, आकाशस्यैकत्वेन शब्दस्य तद्गुणतया दूरासन्नादिभेदाभावात्, अथानेकम्, एवं सति वदनदेश एव स विद्यत इति कथं भिन्नदेशवर्त्तिभिः श्रूयते ?, वदनदेशाकाश-गुणतया तस्य श्रोतृगतश्रोत्रेन्द्रियाकाशसम्बन्धाभावात्, अथ च श्रोत्रेन्द्रियाकाशसम्बद्धतया तत्श्रवणमभ्युपगम्यते, तन्न श्रेयानाकाशगुणत्वाभ्युपगमः, नन्वाकाशगुणत्वमन्तरेण शब्दस्यावस्थानमेव नोपपद्यते, अवश्यं हि पदार्थेन स्थिति-मता भवितव्यं, तत्र रूपस्पर्शरसगन्धानां पृथिव्यादिमहाभूतचतुष्टयमाश्रयः, शब्दस्य त्वाकाशमिति, तदयुक्तं, एवं सति पृथिव्यादीनामप्याकाशाश्रितत्वेनाकाशगुणत्वप्रसक्तेः, अथ नाश्रयणमात्रं तद्गुणत्वनिबन्धनं, किन्तु समवायः, स चा-स्ति शब्दस्याकाशे न तु पृथिव्यादीनामिति, ननु कोऽयं समवायो नाम ?, एकलोलीभावेनावस्थानं यथा पृथिव्यादिरूपाद्यो-रिति चेत्, न तर्हि शब्दस्याकाशगुणत्वम्, आकाशेन सहास्यैकलोलीभावेनाप्रतिपत्तेः, अथाकाशे उपलभ्यमानत्वात् तद्गुणता शब्दस्य तर्हि तूलकादेरप्याकाशे उपलभ्यमानत्वात् तद्गुणता प्राप्नोति, अथ तूलकादेः परमार्थतः पृथिव्यादिस्थानमाकाशे

शब्दस्था-न्यगुण-तानिरासः

॥ २८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तूपलम्भो वायुना सञ्चार्यमाणत्वात्, यद्येवं तर्हि शब्दस्य परमार्थतः स्थानं श्रोत्रादि यत्पुनराकाशेऽवस्थानं तद्वायुना सञ्चार्यमाणत्वात्, तथाहि–यतो२ वायुः सञ्चरति ततस्ततः शब्दोऽपि गच्छति, वातप्रतिकूलं शब्दस्याश्रवणात्, उक्तं च प्रज्ञाकरगुप्तेन–"यथा वा प्रेर्यते तूलमाकाशे मातरिश्वना । तथा शब्दोऽपि किं वायोः, प्रतीपं कोऽपि ? शब्दवित् ! ॥ १ ॥" तन्नाकाशगुणः शब्दः, किन्तु पुद्गलमय इति । तथा रूप्यत इति रूपं तत्पुनः पश्यति–गृह्णाति उपलभते इतियावत्, अस्पृष्टं–अनालिङ्गितं, गन्धादिवन्न सम्बद्धमित्यर्थः, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, रूपं पुनः पश्यति अस्पृष्टमेव, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वात्, एतच्च प्रागेव भावितं, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, स चैतद् विशिनष्टि–अस्पृष्टमपि योग्यदेशावस्थितं न पुनरयोग्यदेशावस्थितममरलोकादि, गन्ध्यते–आघ्रायते इति गन्धः तं 'रस आस्वादने' रस्यतेऽनेनेति रसस्तं च स्पृश्यत इति स्पर्शः तं च, चशब्दौ पूरणार्थौ, 'बद्धस्पृष्ट'मिति बद्धं–आश्लिष्टं तोयवदात्मप्रदेशैरात्मीकृतमित्यर्थः स्पृष्टं पूर्ववत् प्राकृतशैल्या चेत्थमुपन्यासः 'बद्धपुट्ठं'ति, परमार्थतस्तु स्पृष्टं च तत् बद्धं च स्पृष्टबद्धमिति द्रष्टव्यं, आह–यद्बद्धं गन्धादि तत्स्पृष्टं भवत्येव अस्पृष्टस्य सम्बन्धायोगात्, ततः स्पृष्टशब्दोच्चारणं गतार्थत्वात् अनर्थकमिति, नैष दोषः, शास्त्रारम्भस्य सर्वश्रोतृसाधारणत्वात्, त्रिविधा हि श्रोतारः–केचिदुद्घटितज्ञाः केचिन्मध्यबुद्धयः तथाऽन्ये प्रपञ्चितज्ञाः, तत्र प्रपञ्चितज्ञानामनुग्रहाय गम्यमानस्याप्यभिधानमदोषायेति, प्रकृतभावार्थस्त्वयं–गन्धादिद्रव्याणि स्वल्पानि स्थूलानि तदन्यावासकानि च, घ्राणादीनि चेन्द्रियाणि श्रोत्रेन्द्रियापेक्षया अपटूनि, ततो घ्राणेन्द्रियादिगणो गन्धादि आलिङ्गितानन्तरमात्मप्रदेशैरात्मीकृतं गृह्णाति, नान्यथेत्येवं 'व्यागृणीयात्' प्रतिपादयेत्, प्रज्ञापकः स्वशिष्येभ्यः, एतदेव व्याख्यानं भाष्यकारो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

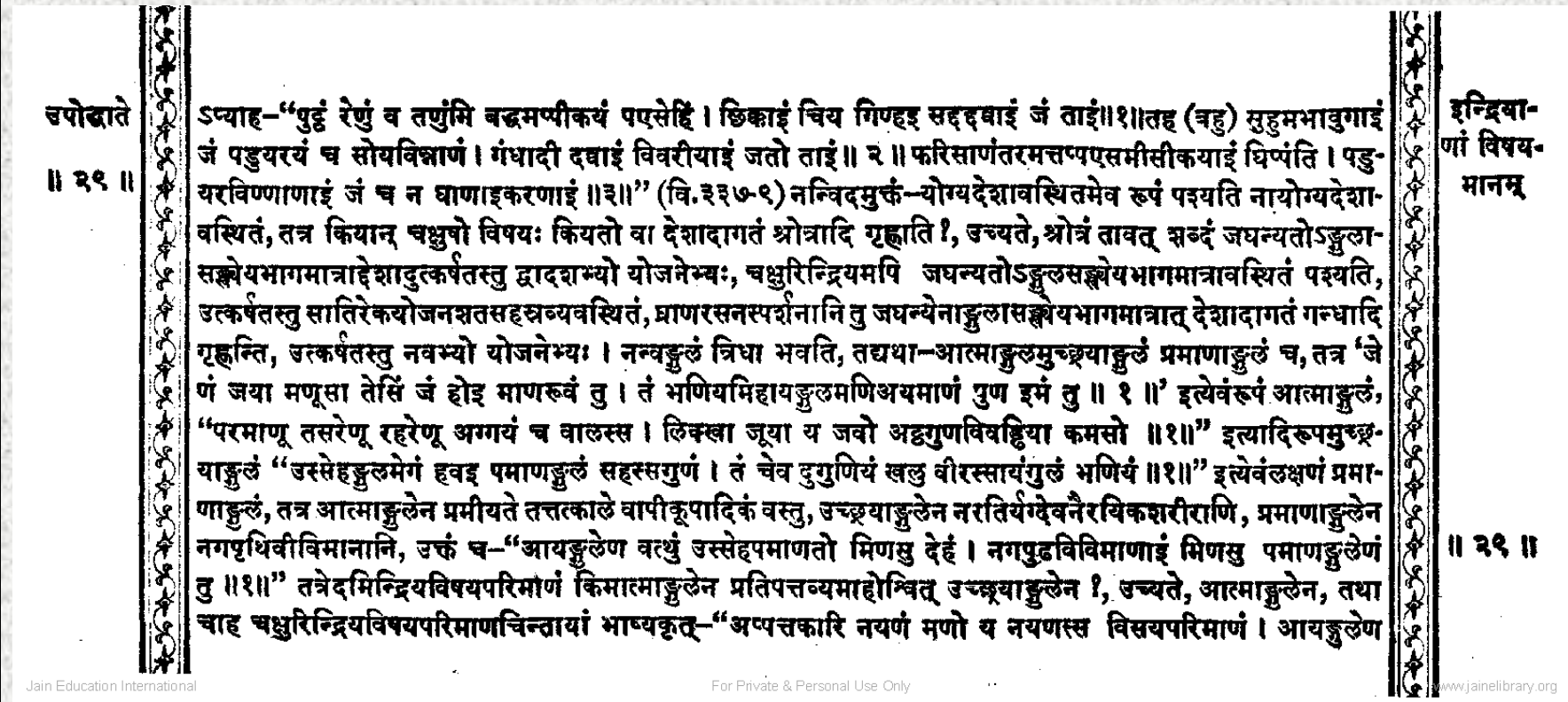

उपोद्घाते ॥ २९ ॥

ऽप्याह–"पुट्ठं रेणुं व तणुंमि बद्धमप्पीकयं पएसेहिं । छिकाइं चिय गिण्हइ सद्दादाइं जं ताइं॥१॥तह (बहु) सुहुमभावुगाइं जं पडुयरयं च सोयविन्नाणं । गंधादी दवाइं विवरीयाइं जतो ताइं॥ २ ॥ फरिसाणंतरमत्तप्पएसमीसीकयाइं घिप्पंति । पडुयरविण्णाणाइं जं च न घाणाइकरणाइं ॥३॥" (वि.३३७-९) नन्विदमुक्तं–योग्यदेशावस्थितमेव रूपं पश्यति नायोग्यदेशावस्थितं, तत्र कियान् चक्षुषो विषयः कियतो वा देशादागतं श्रोत्रादि गृह्णाति ?, उच्यते, श्रोत्रं तावत् शब्दं जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रादेशादुत्कर्षतस्तु द्वादशभ्यो योजनेभ्यः, चक्षुरिन्द्रियमपि जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्रावस्थितं पश्यति, उत्कर्षतस्तु सातिरेकयोजनशतसहस्रव्यवस्थितं, घ्राणरसनस्पर्शनानि तु जघन्येनाङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रात् देशादागतं गन्धादि गृह्णन्ति, उत्कर्षतस्तु नवभ्यो योजनेभ्यः । नन्वङ्गुलं त्रिधा भवति, तद्यथा–आत्माङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलं च, तत्र 'जे णं जया मणूसा तेसिं जं होइ माणरूवं तु । तं भणियमिहायङ्गुलमणिअयमाणं पुण इमं तु ॥ १ ॥' इत्येवंरूपं आत्माङ्गुलं, "परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च वालस्स । लिक्खा जूया य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥१॥" इत्यादिरूपमुच्छ्रयाङ्गुलं "उस्सेहङ्गुलमेगं हवइ पमाणङ्गुलं सहस्सगुणं । तं चेव दुगुणियं खलु वीरस्सायंगुलं भणियं ॥१॥" इत्येवंलक्षणं प्रमाणाङ्गुलं, तत्र आत्माङ्गुलेन प्रमीयते तत्तत्काले वापीकूपादिकं वस्तु, उच्छ्रयाङ्गुलेन नरतिर्यग्देवनैरयिकशरीराणि, प्रमाणाङ्गुलेन नगपृथिवीविमानानि, उक्तं च–"आयङ्गुलेण वत्थुं उस्सेहपमाणतो मिणसु देहं । नगपुढविविमाणाइं मिणसु पमाणङ्गुलेणं तु ॥१॥" तत्रेदमिन्द्रियविषयपरिमाणं किमात्माङ्गुलेन प्रतिपत्तव्यमाहोस्विद् उच्छ्रयाङ्गुलेन ?, उच्यते, आत्माङ्गुलेन, तथा चाह चक्षुरिन्द्रियविषयपरिमाणचिन्तायां भाष्यकृत्–"अप्पत्तकारि नयणं मणो य नयणस्स विसयपरिमाणं । आयङ्गुलेण

इन्द्रियाणां विषयमानम्

॥ २९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र इन्द्रियाणां विषय-मानं वर्णयते

लक्खं अइरित्तं जोयणाणं तु ॥१॥" (वि.३४०) ननु देहप्रमाणं समुच्छ्रयाङ्गुलेन, देहाश्रितानि च इन्द्रियाणि, ततस्तेषां विषयपरिमाणमप्युच्छ्रयाङ्गुलेन वक्तुमुचितं, कथमुच्यते आत्माङ्गुलेन ?, नैष दोषः, यद्यपि हि नाम देहाश्रितानि इन्द्रियाणि तथापि तेषां विषयपरिमाणमात्माङ्गुलेन, देहादन्यत्वाद् विषयपरिमाणस्य, तथा चामुमेवार्थमाक्षेपपुरस्सरं भाष्यकृदाह–"नणु भणियमुस्सयङ्गुलपमाणओ जीवदेहमाणाइं। देहपमाणं तं चिय न उ इंदियविसयपरिमाणं ॥१॥"(वि०३४१) अत्र 'देहप्पमाणं तं चिय' इति यत् तत् उच्छ्रयाङ्गुलमेयत्वेनोक्तं तद्देहप्रमाणमात्रमेव, नत्विन्द्रियविषयपरिमाणं, तस्यात्माङ्गुलप्रमेयत्वात्, अथ यदि विषयपरिमाणमिन्द्रियाणामुच्छ्रयाङ्गुलेन स्यात् ततः को दोष आपद्येत ?, उच्यते, पञ्चधनुःशतादिमनुष्याणां विषयव्यवहारव्यवच्छेदः, तथाहि—यद्भरतस्यात्माङ्गुलं तत्किल प्रमाणाङ्गुलं, तच्च प्रमाणाङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलसहस्रेण भवति, "उस्सेहङ्गुलमेगं हवइ पमाणङ्गुलं सहस्सगुण"मितिवचनात्, ततो भरतसगरादिचक्रवर्त्तिनां या अयोध्यादयो नगर्यो ये च स्कन्धावारा आत्माङ्गुलेन द्वादशयोजनायामतया सिद्धान्ते प्रसिद्धास्ते उच्छ्रयाङ्गुलप्रमित्या अनेकानि योजनसहस्राणि स्युः, तथा च सति तत्रायुधशालादिषु ताडितभेर्यादिशब्दश्रवणं न सर्वेषामापद्येत, "वारसहिं जोयणेहिं सोयं अइगिण्हए सद्द"मिति वचनात्, अथ च समस्तनगरव्यापी समस्तस्कन्धावारव्यापी च विजयढक्कादिशब्द आगमे प्रतिपाद्यते, तत एवमागमे प्रसिद्धः पञ्चधनुःशतादिमनुष्याणां विषयव्यवहारो व्यवच्छेदं मा प्रापदित्यात्माङ्गुलेनेन्द्रियविषयपरिमाणमवसातव्यं, नोच्छ्रयाङ्गुलेन, तथा चाह भाष्यकृत्–"जं तेण पंचधणुसयनरादिविसयववहारोच्छेओ। पावइ सहस्सगुणियं जेण पमाणङ्गुलं तत्तो ॥१॥" (वि.३४२) अत्र तस्मादात्माङ्गुलेनैवेन्द्रियाणां विषयपरिमाणं नोत्सेधाङ्गुलेनेति उपसंहारवाक्यं (यत्) तत् स्वतः परिभावनीयं, यदप्युक्तं प्राक् 'देहा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

उपोद्घाते ॥ ३० ॥

श्रितानीन्द्रियाणि इति तेषां विषयपरिमाणमुच्छ्रयाङ्गुलेने'ति, तदप्ययुक्तं, इन्द्रियाणामपि केषाञ्चित् पृथुत्वस्य आत्माङ्गुलेन मीयमानत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा त्रिगव्यूतादिमनुष्याणां रसाद्यभ्यवहारव्यवच्छेदप्रसक्तेः, तथाहि–त्रिगव्यूतादीनां मनुष्याणां षड्गव्यूतादीनां च हस्त्यादीनां स्वस्वशरीरानुसारितया अतिविशालानि मुखानि जिह्वाश्च, ततो यद्युच्छ्रयाङ्गुलेन तेषां क्षुरप्राकारतयोक्तस्याभ्यन्तरनिवृत्त्यात्मकस्य जिह्वेन्द्रियस्याङ्गुलपृथक्त्वलक्षणो विस्तारः परिगृह्यते तदा अल्पतया न तत् सर्वां जिह्वां व्याप्नुयात्, सर्वथा व्यापित्वाभावे च योऽसौ बाहुल्येन सर्वात्मनाऽपि जिह्वया रसवेदनलक्षणः प्रतिप्राणि प्रसिद्धो व्यवहारः स व्यवच्छेदं यायात्, एवं घ्राणादिविषयेऽपि यथायोगं गन्धादिव्यवहारोच्छेदो भावनीयः, तस्मादात्माङ्गुलेन जिह्वादीनां पृथुत्वमवसातव्यं, नोच्छ्रयाङ्गुलेन, आह च भाष्यकृत्–इंदियमाणेवि तयं भयणिज्जं जं तिगाउयाईणं। जिब्भिंदियाइमाणं संववहारे विरुज्झेज्जा ॥ १ ॥" (वि० ३४३) अस्या अक्षरगमनिका–तत्–उच्छ्रयाङ्गुलमिन्द्रियमानेऽपि, आस्तामिन्द्रियविषयपरिमाणचिन्तायामित्यपिशब्दार्थः, भजनीयं–विकल्पनीयं, क्वापि गृह्यते क्वापि न गृह्यते इत्यर्थः, किमुक्तं भवति?– स्पर्शनेन्द्रियपृथुत्वपरिमाणचिन्तायां ग्राह्यमन्येन्द्रियपृथुत्वपरिमाणचिन्तायां तु न ग्राह्यं, तेषामात्माङ्गुलेन परिमाणकरणादिति, कथमेतदवसेयमिति चेत्, तत आह–यद्–यस्मात्सर्वेषामपीन्द्रियाणामुच्छ्रयाङ्गुलेन परिमाणकरणात् त्रिगव्यूतादीनाम्, आदिशब्दात् द्विगव्यूतादिपरिग्रहः, जिह्वेन्द्रियादिमानं सूत्रोक्तं संव्यवहारे विरुध्येत, यथा च विरुध्येत तथानन्तरमेव भावितं, तस्मात्सर्वमिन्द्रियविषयपरिमाणमात्माङ्गुलेनैवेति स्थितम्। ननु भवत्वात्माङ्गुलेन विषयपरिमाणं तथाप्युक्तस्वरूपं चक्षुरिन्द्रियविषयपरिमाणं न घटते, अधिकस्यापि तद्विषयपरिमाणस्यागमान्तरे प्रतिपादनात्, तथाहि—

विषयमान अङ्गुलविचारः ॥ ३० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पुष्करवरार्द्धे मानुषोत्तरपर्वतसमीपे मनुष्याः कर्कसङ्क्रान्तौ प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नैः सातिरेकैरेकविंशतियोजनलक्षैर्व्यवस्थित-मादित्यमवलोकमानाः प्रतिपाद्यन्ते शास्त्रान्तरे, तथा च तद्ग्रन्थः–"इगवीसं खलु लक्खा चउतीसं चेव तह सहस्साइं। तह पंचसया भणिया सत्तत्तीसा य अइरित्ता ॥ १ ॥ इइ नयणविसयमाणं पुक्खरदीवड्ढवासिमणुयाणं। पुव्वेण य अवरेण य पिहं पिहं होइ मणुयाणं ॥२॥" ततः कथमुक्तस्वरूपं नयनविषयपरिमाणमात्माङ्गुलेनापि घटते ?, (न) प्रमाणाङ्गुलेनापि व्यभिचारात्, उक्तं च—"लक्खेहि एक्कवीसाएँ साइरेगेहिं पुक्खरद्धंमि। उदए पेच्छंति नरा सूरं उक्कोसए दिवसे ॥१॥ नयणिंदियस्स तम्हा विसयपमाणं जहा सुए भणियं। आउस्सेहपमाणंगुलाण एक्केणवि न जुत्तं ॥२॥" (३४५-६वि.) सत्य-मेतत्, केवलमिदं विषयपरिमाणं प्रकाश्यविषयं द्रष्टव्यं, न तु प्रकाशकविषयं, ततः प्रकाशकेऽधिकतरमपि विषयपरिमाणं न विरुध्यत इति न कश्चिद्दोषः, कथमेतदवसीयत इति चेत्, उच्यते, पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात्, सकलमपि हि कालिकश्रुतं पूर्वसूरिकृतव्याख्यानानुसारेणैव व्याख्यानयन्ति महाधियः, न यथाक्षरसन्निवेशमात्रं, पूर्वगतसूत्रार्थसङ्ग्रहपरतया कालि-कश्रुतस्य क्वचित्सङ्क्षिप्तस्यार्थस्य महता विस्तरेण क्वचिद्विस्तरवतोऽप्यतिसङ्क्षेपेणाभिधाने अर्वाक्तनैः स्वमति (त्या) यथाव-स्थितार्थतया ज्ञातुमशक्यत्वात्, अत एवोक्तमिदमन्यत्र—"जं जह भणियं सुत्ते तहेव जइ तं वियालणा नत्थि। किं कालि-याणुयोगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं? ॥१॥" तस्मात्पूर्वसूरिकृतव्याख्यानान्नाधिकृतग्रन्थविरोधः, आह च भाष्यकृत्–"सुत्ता-भिप्पायोऽयं पयासणिज्जे तयं न जं पयासे। वक्खाणउ विसेसो नहि संदेहादलक्खणया ॥१॥" (३४७वि.) अथोक्तप्रमाणं विषयमुलङ्घ्य कस्मात् श्रोत्रादि शब्दादिकं न गृह्णाति ?, उच्यते, सामर्थ्याभावात्, उत्कर्षतोऽपि हि श्रोत्रादीना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेतावत्येव शक्तिर्यद् द्वादशादिभ्य एव योजनेभ्य आगतान् शब्दादीन् गृह्णन्ति, न परतः, चक्षुरपि सातिरेकयोजनलक्षान्तर्व्यवस्थितं, न परतोऽपीति, तथा द्वादशभ्यो नवभ्यश्च योजनेभ्यः परतः समागतानां शब्दादिद्रव्याणां तथाविधपरिणामाभावाच्च, परतो हि समागताः शब्दादिपुद्गलास्तथास्वाभाव्यान्मन्दपरिणामास्तथोपजायन्ते येन स्वविषयं श्रोत्रादिविज्ञानं नोत्पादयितुमीशाः, आह च भाष्यकृत्–"बारसहिंतो सोत्तं सेसाणि उ नवहिं जोयणेहिंतो । गेण्हंति पत्तमत्थं एत्तो परतो न गेण्हंति ॥१॥ दवाण मंदपरिणामयाए परतो न इंदियबलं"ति, (३४८॥वि.) मनसस्तु न क्षेत्रतो विषयपरिमाणं, पुद्गलमात्रनिबन्धनाभावात्, इह यत्पुद्गलमात्रनिबन्धनियतं न भवति न तस्य विषयपरिमाणं, यथा केवलज्ञानस्य, न भवति च पुद्गलमात्रनिबन्धनियतं मन इति, विषयपरिमाणं हि पुद्गलमात्रनिबन्धनियततया व्याप्तं, तथाहि—यस्य विषयपरिमाणमस्ति तत्पुद्गलमात्रनिबन्धनियतं दृष्टं, यथाऽवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं वा, तत एवं व्याप्यव्यापकभावप्रतिबन्धनिश्चये व्यापकाभावे व्याप्याभाव इति व्यापकानुपलब्धिरियं, आह च भाष्यकृत्—"अवरमसंखेज्जकुलभागातो नयणवज्जाणं ॥ संखेज्जइभागातो नयणस्स मणस्स न विसयपरिमाणं । पोग्गलमित्तनिबंधाभावातो केवलस्सेव ॥१॥" (३४९–३५० वि.) इह 'स्पृष्टं शृणोति शब्द'मित्युक्तं, तत्र किं शब्दप्रयोगोत्सृष्टान्येव केवलानि शब्दद्रव्याणि शृणोति उतान्यान्येव तद्वासितानि आहोश्चिन्मिश्राणीति चोदकाभिप्रायमाशङ्क्य न तावत्केवलानि, तेषां वासकत्वात्, तद्योग्यद्रव्यसमाकुलत्वाच्च सकललोकस्य, किन्तु मिश्राणि तद्वासितानि वा, न केवलानि गृह्णातीत्यमुमर्थमभिधित्सुराह—

भासासमसेढीतो सद्दं जं सुणइ मीसयं सुणइ । वीसेढी पुण सद्दं सुणेइ नियमा पराघाए ॥ ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-] दीप अनुक्रम [-]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

भाष्यते इति भाषा–वक्त्रा शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिस्तस्याः समश्रेण यो भाषासमश्रेणयः, समग्रहणं विश्रेणिव्यवच्छेदार्थं, श्रेणयो नाम क्षेत्रप्रदेशपङ्क्तयोऽभिधीयन्ते, ताश्च सर्वस्यैव भाषमाणस्य षट्सु दिक्षु विद्यन्ते यासूत्सृष्टा सती भाषा प्रथमसमय एव लोकान्तमनुधावति, उक्तं च—"सेढी पएसपंती वदतो सव्वस्स छद्दिसं ताओ। जासु विमुक्का धावइ भासा पढमंमि समयंमि॥१॥(३५२वि.)" ता इतो–गतः प्राप्तो भाषासमश्रेणीतः भाषासमश्रेणीव्यवस्थित इत्यर्थः 'शब्दं' भाषात्वेन परिणतं पुद्गलराशिं 'यं' पुरुषाश्वादिसम्बन्धिनं 'शृणोति' परिच्छेद्यतया गृह्णाति यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तं मिश्रकं शृणोति, किमुक्तं भवति ?–भाषकव्युत्सृष्टशब्दद्रव्याणि तद्वासितापान्तरालस्थद्रव्याणि चेत्येव मिश्रं शब्दद्रव्यराशिं शृणोति, न तु वासकमेव वास्यमेव वा केवलमिति, 'वीसेढी पुण'इत्यादि, मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादिवत् आधेये आधारोपचारात् विश्रेणिव्यवस्थितः श्रोताऽपि विश्रेणिरुच्यते, विश्रेणिः पुनः श्रोता शब्दं, पुनः शब्दग्रहणं पराघातवासितद्रव्याणामपि तथाविधशब्दपरिणामख्यापनार्थं, शृणोति, 'नियमात्'नियमेन 'पराघाते' वासनायां सत्यां, एतदुक्तं भवति–यानि भाषकोत्सृष्टानि द्रव्याणि झल्लर्यादिशब्दद्रव्याणि वा तैः पराघाते–वासनाविशेषजनिते सति यानि समुत्पन्नशब्दपरिणामानि द्रव्याणि तान्येव विश्रेणिस्थः शृणोति, नतु भाषकाद्युत्सृष्टानि, तेषामनुश्रेणिगामित्वेन विदिग्गमनासम्भवात्, न च कुड्यादिप्रतिघातस्तेषां विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति, लेष्ट्वादिबादरद्रव्याणामेव तत्सम्भवात्, तेषां च सूक्ष्मत्वात्, उक्तं च—"भासासमसेढी(ढिठि)ओ तब्भासामीसियं सुणइ सद्दं। तद्दवभावियाइं अन्नाइं सुणेइ विदिसित्थो॥ १॥ (३५३वि.)" केन पुनर्योगेनैषां वाग्द्रव्याणां ग्रहणमुत्सर्गो वा ? कथं वेत्येतदाशङ्क्य गुरुराह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घाते ॥ ३२ ॥

गिण्हइ य काइएणं निसिरइ तह वाइएण जोगेणं । एगंतरं च गिण्हइ निसिरइ एगंतरं चेव ॥ ७ ॥

कायेन निर्वृत्तः कायिकः तेन कायिकेन योगेन, योगो व्यापारः क्रियेत्यनर्थान्तरं, सर्व एव हि वक्ता कायक्रियया शब्दद्रव्याणि गृह्णाति, चशब्दस्त्वेवकारार्थः, स चावधारणे, तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः, गृह्णाति कायिकेनैव, निसृजति उत्सृजति मुञ्चतीतियावत्, 'तथे'त्यानन्तर्यार्थः ग्रहणानन्तरमित्यर्थः, उच्यत इति वाक् वाचा निर्वृत्तो वाचिकस्तेन वाचिकेन योगेन, कथं गृह्णाति? निसृजतीति वा?, किमनुसमयमुतान्यथेत्याशङ्कासम्भवे सति शिष्यानुग्रहार्थमाह—एकान्तरमेव गृह्णाति निसृजत्येकान्तरं चैव, यथा ग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामान्तरं पुरुषादनन्तरः पुरुषः पुरुषान्तरं, एवमेकैकस्मात्समयादेकैक एवानन्तरसमय एकान्तरं, उक्तं च—"जह गामातो गामो गामंतरमे(वमे)ग एगाओ । एगंतरंति भन्नइ समयाओऽणंतरो समओ ॥ १" ॥ (३५५ वि०) ततोऽयमर्थः—प्रतिसमयं गृह्णाति प्रतिसमयं मुञ्चतीति गाथासङ्क्षेपार्थः ॥ अत्र कश्चिदाह—ननु कायिकेन योगेन गृह्णातीत्येतद् युक्तं, तस्यात्मव्यापाररूपत्वात्, निसृजति तु कथं वाचिकेन योगेन?, को वाऽयं वाग्योगः?, किं वागेव व्यापारात्मिका आहोश्चित्तद्विसर्गहेतुः कायसंरम्भः?, तत्र यदि पूर्वो विकल्पोऽसावनुपपन्नः, वाचो योगत्वायोगात्, न खलु वाक्केवला जीवव्यापारस्तस्याः पुद्गलमात्रपरिणामरूपत्वात् रसादिवत्, तथा च प्रयोगः—यः पुद्गलमात्रपरिणामरूपः स जीवव्यापाररूपो योगो न भवति, यथा रसगन्धादयः, पुद्गलमात्रपरिणामरूपा च वागिति, योगो ह्यात्मनः शरीरवतो व्यापारः, स कथं पुद्गलमात्रपरिणामरूपो भवितुमर्हति?, अन्यच्च—न तया वाचा किञ्चिदन्यत् निसृज्यते, किन्तु सैव, ततो वाचो योगत्वे 'निसरइ तह वाइएणंती'त्येतदनुपपन्नं, अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि स कायव्यापार एवेति

वचने ग्रहणनिसर्गौ गा. ७

॥ ३२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

कायिकेनैव निसृजतीत्यापन्नं अनिष्टं चैतदिति, तदसम्यक्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, इह तनुयोगविशेष एव वाग्योगो मनोयोगश्चेति व्यवह्रियते, सर्वथा कायव्यापारशून्यस्य सिद्धस्येव तयोरसम्भवात्, तथाहि–आत्मनः शरीरव्यापारे सति येन व्यापारविशेषेण शब्दद्रव्योपादानं करोति स कायिको योगः, येन तु कायसंरम्भेण तान्येव मुञ्चति स वाचिकः, येन तु मनोद्रव्याणि मनस्त्वेन व्यापारयति स मानसः, ततः काययोग एव संव्यवहारार्थं त्रिधा विभक्त इत्यदोषः, एतदेवाक्षेपपुरस्सरं भाष्यकृदाह—"गेण्हेज्ज काइएणं किह निसिरइ वाइएण जोगेण?। को वाऽयं वायोगो? किं वाया? कायसंरंभो ॥१॥ वाया न जीवजोगो पोग्गलपरिणामतो रसादिव्व। न य ताए निसिरिज्जइ सच्चिय निसिरिज्जए जम्हा ॥२॥ अह सो तणुसंरंभो निसिरइ तो काइएण वत्तव्वं। तणुजोगविसेसच्चिय मणवइजोगत्ति जमदोसो ॥३॥(३५६-७-८वि.) अथवा कायव्यापारेणाहृतो यो वाग्द्रव्यसमूहः तदुपष्टम्भेन य उपजायते वाग्निसर्गहेतुर्जीवव्यापारः स वाचिको योगः, तथा कायव्यापारेणैवाहृतो योऽसौ मनोद्रव्यसमूहः तदुपष्टम्भेनोपजायमानो मनोद्रव्याणां चिन्तनहेतुर्व्यापार-विशेषः स मनोयोगः, आह च—"अहवा तणुजोगाहियवइदव्वसमूहजीववावारो। सो वइजोगो भण्णइ वाया निसिरिज्जई तेणं॥१॥ तह तणुवावाराहियमणदव्वसमूहजीववावारो। सो मणजोगो भण्णइ मन्नइ नेयं जतो तेणं ॥२॥ (३६३-४-वि.)ततः साधूक्तं—'वाचिकेन योगेन निसृजती'ति। तथा 'एकान्तरं गृह्णात्येकान्तरं च निसृजती'त्यत्र केचित् प्रथमसमये गृह्णाति द्वितीये तु प्रथमसमयगृहीतानि मुञ्चति तृतीये समये पुनः गृह्णाति चतुर्थे समये तृतीयसमयगृहीतानि मुञ्चतीत्येवमेकैकं व्यव-हितमेकान्तरमिति व्याख्यानयन्ति, तेषां विच्छिन्नरत्नावलीकल्पो ध्वनिरापद्यते, अन्तरान्तरग्रहणसमयेषु सर्वेष्वप्यश्रव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

णात्, तथा श्रुतविरोधश्च, तथाहि प्रज्ञापनायां भाषापदे सूत्रमिदं–"अणुसमयमविरहियं निरंतरं गेण्हइ' इति, अत्र च प्रतिसमयग्रहणप्रतिपादनेन प्रतिसमयनिसर्गप्रतिपादनमपि द्रष्टव्यं, गृहीतस्य द्वितीयसमयेऽवश्यं निसर्गात्, एकान्तरग्रहणमोक्षाभ्युपगमे चाधिकृतसूत्रविरोधः, अथ सूत्र एव साक्षादुक्तं—"संतरं निसिरइ नो निरंतरं, एगेण समएणं गेण्हइ एगेणं समएणं निसिरइ" इत्यादि, ततः कथमधिकृतसूत्रविरोधः?, तदेतदयुक्तम्, सूत्रार्थसम्यक्परिज्ञानाभावात्, इह निसर्गोऽपि ग्रहणापेक्ष इति सान्तरोऽभिहितः, तथाहि—यथाऽऽद्यसमयादारभ्य प्रतिसमयं ग्रहणं नैवं निसर्गः प्रथमसमये तस्याभावादिति ग्रहणापेक्षयाऽसौ सान्तरस्तत उक्तं 'संतरं निसिरइ नो निरंतर'मिति, अथ ग्रहणमप्येवं निसर्गापेक्षया सान्तरमापद्यते, न चैतत्सूत्रे सान्तरमभिहितं, तस्माद्यत्किञ्चिदेतद् व्याख्यानमिति, तदयुक्तम्, ग्रहणं हि स्वतन्त्रं, प्रथमसमये निसर्गमन्तरेणापि तस्य भावात्, ततो नैवादस्तदपेक्षया सान्तरं, निसर्गस्तु ग्रहणपरतन्त्रं अगृहीतस्य निसर्गायोगादिति पूर्वपूर्वग्रहणसमयापेक्षया सान्तरव्यपदेशः, यद्येवं तत एतत्सूत्रं कथं नीयते–एकेन समयेन गृह्णाति एकेन निसृजतीति?, उच्यते, सान्तरं निसृजति नो निरन्तरमित्युक्तं, एतच्चावसीयते–यत् एकेन समयेन गृह्णाति एकेन समयेन निसृजति, किमुक्तं भवति?–यानि यानि यस्मिन् यस्मिन् समये गृहीतानि शब्दद्रव्याणि तानि तानि तत्तद्ग्रहणसमयानन्तरसमये सर्वाणि निसृजति, ततो ग्रहणापेक्षया सान्तरो नो निरन्तर इति, अथवा एकेन–आद्येन समयेन गृह्णाति 'सर्वे वाक्यं सावधारणमिष्टिमश्चावधारणविधि'रिति न्यायाद् गृह्णात्येव, न तु निसृजति, द्वितीयसमयादारभ्य निसर्गस्य प्रवृत्तेः, प्रथमसमये पूर्वगृहीतद्रव्यासम्भवात्, तथा एकेन–पर्यन्तवर्त्तिना समयेन निसृजति–निसृजत्येव, न तु गृह्णाति, भाष-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णादुपरमात्, अपान्तराळवर्त्तिषु समयेषु ग्रहणनिसर्गौ, स्थापना—

ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	०
०	नि	नि	नि	नि	नि

ननु ग्रहणनिसर्गप्रयत्नाभावात्मनः परस्परविरोधिनौ ततः कथमेकस्मिन् समये तौ युज्येते ?, नैष दोषः, एकस्मिन् समये कर्मादाननिसर्गक्रियावत् उत्पादव्ययक्रियावत् अङ्गुल्याकाशसंयोगविभागक्रियावच्च ग्रहणनिसर्गक्रियाद्वयस्यापि सद्भावोपपत्तेः, एकस्मिन् समये यथा जीवस्वाभाव्यात् द्वावुपयोगौ न भवतो 'जुगवं दो नत्थि उवओगा' इति वचनात्, क्रियास्तु बह्व्योऽपि घटन्त एव, कायवाङ्मनःक्रियाणामेकस्मिन्नपि समये युगपत्प्रवृत्तिदर्शनात्, आह च भाष्यकृत्—"गहणनिसग्गपयत्ता परोप्परविरोहिणो कहं समए?। समए दो उवओगा न होज्ज किरियाण को दोसो ? ॥१॥"(३४३वि.)

यदुक्तं 'गृह्णाति कायिकेन चे'त्यादि, तत्र कायिको योगः पञ्चप्रकारः—औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणभेदात्, तत् किं पञ्चप्रकारेणापि कायिकेन गृह्णाति आहोश्विदन्यथेत्याशङ्कासम्भवे तदपनोदार्थमिदमाह—

तिविहंमि सरीरंमी जीवपएसा हवंति जीवस्स । जेहि उ गेण्हइ गहणं तो भासइ भासतो भासं ॥ ८ ॥

'त्रिविधे' त्रिप्रकारे शीर्यत इति शरीरं 'कृशृपूजूभंजिकुटिपटिकंडिशोडिहिंसिभ्य ईर्' इति ईरः प्रत्ययः, तस्मिन् औदारिकवैक्रियाहारकाणामन्यतरस्मिन्नित्यर्थः, जीवति—प्राणान् धारयतीति जीवस्तस्य प्रदेशा जीवप्रदेशा भवन्ति, एतावत्युच्यमाने भिक्षोः पात्रमित्यादौ षष्ठ्या भेदेऽपि दर्शनान्मा भूद् भिन्नप्रदेशतया शिष्याणामप्रदेशात्मसम्प्रत्यय इत्यत आह—जीवस्य, जीवप्रदेशा जीवस्य भवन्ति—जीवस्यात्मभूता भवन्ति, अनेन निष्प्रदेशजीववादनिराकरणमाह, सति निष्प्रदेशत्वे करणचरणोरुग्रीवाद्यवयवसंसर्गाभावप्रसक्तेः भेदाभेदविकल्पाभ्यामयोगात्, तथाहि—करादिसम्बद्ध-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

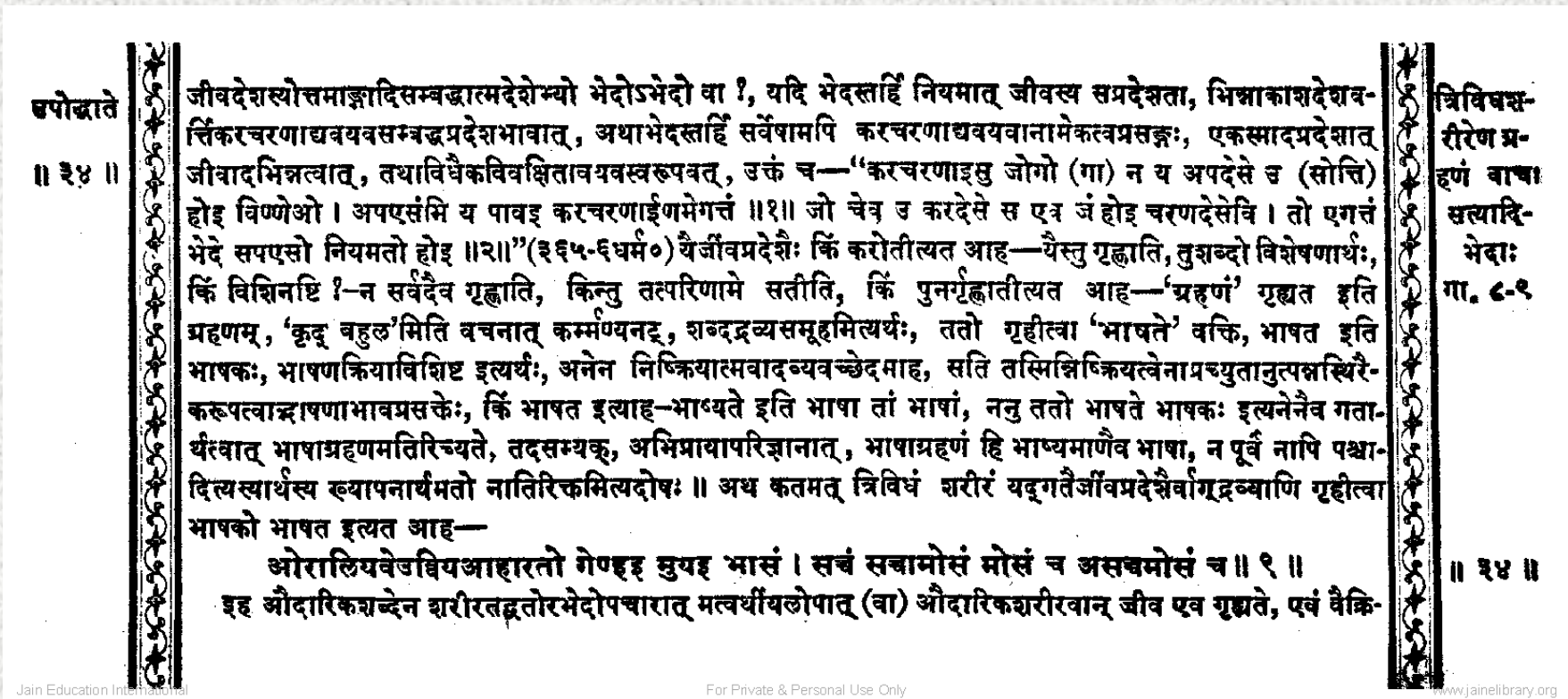

उपोद्घाते

॥ ३४ ॥

जीवदेशस्योत्तमाङ्गादिसम्बद्धात्मदेशेभ्यो भेदोऽभेदो वा ?, यदि भेदस्तर्हि नियमात् जीवस्य सप्रदेशता, भिन्नाकाशदेशवर्त्तिकरचरणाद्यवयवसम्बद्धप्रदेशभावात्, अथाभेदस्तर्हि सर्वेषामपि करचरणाद्यवयवानामेकत्वप्रसङ्गः, एकस्मादप्रदेशात् जीवादभिन्नत्वात्, तथाविधैकविवक्षितावयवस्वरूपवत्, उक्तं च—"करचरणाइसु जोगो (गा) न य अपदेसे उ (सोत्ति) होइ विण्णेओ। अपएसंमि य पावइ करचरणाईणमेगत्तं ॥१॥ जो चेव उ करदेसे स एव जं होइ चरणदेसेवि। तो एगत्तं भेदे सपएसो नियमतो होइ ॥२॥"(३६५-६धर्म०) यैर्जीवप्रदेशैः किं करोतीत्यत आह—यैस्तु गृह्णाति, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?—न सर्वदैव गृह्णाति, किन्तु तत्परिणामे सतीति, किं पुनर्गृह्णातीत्यत आह—'ग्रहणं' गृह्यत इति ग्रहणम्, 'कृद् बहुल'मिति वचनात् कर्म्मण्यनट्, शब्दद्रव्यसमूहमित्यर्थः, ततो गृहीत्वा 'भाषते' वक्ति, भाषत इति भाषकः, भाषणक्रियाविशिष्ट इत्यर्थः, अनेन निष्क्रियात्मवादव्यवच्छेदमाह, सति तस्मिन्निष्क्रियत्वेनाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वाद्भाषणाभावप्रसक्तेः, किं भाषत इत्याह—भाष्यते इति भाषा तां भाषां, ननु ततो भाषते भाषकः इत्यनेनैव गतार्थत्वात् भाषाग्रहणमतिरिच्यते, तदसम्यक्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, भाषाग्रहणं हि भाष्यमाणैव भाषा, न पूर्वं नापि पश्चादित्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थमतो नातिरिक्तमित्यदोषः ॥ अथ कतमत् त्रिविधं शरीरं यद्गतैर्जीवप्रदेशैर्वाग्द्रव्याणि गृहीत्वा भाषको भाषत इत्यत आह—

ओरालियवेउव्वियआहारतो गेण्हइ मुयइ भासं। सचं सचामोसं मोसं च असचमोसं च ॥ ९ ॥

इह औदारिकशब्देन शरीरतद्वतोरभेदोपचारात् मत्वर्थीयलोपात् (वा) औदारिकशरीरवान् जीव एव गृह्यते, एवं वैक्रि-

त्रिविधशरीरेण ग्रहणं वाचा सत्यादिभेदाः गा. ८-९

॥ ३४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

वान् वैक्रियः आहारकवान् आहारकः, असौ औदारिकादिर्गृह्णाति—आदत्ते शब्दप्रायोग्यानि द्रव्याणीति गम्यते, गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्य मुञ्चति–निसृजति भाष्यत इति भाषा तां–शब्दपरिणतद्रव्यसंहतिं, किंविशिष्टामित्याह—'सत्यां' इह सन्तो–मुनयस्तेषामेव मुक्तिमार्गप्रवृत्ततया तात्त्विकशिष्टत्वात् तेभ्यो हिता–निरवद्यानुष्ठानरूपतया मुक्तिमार्गानुकूलत्वादुपकारिणी सत्या, इह यत् यस्मै हितं तत्तत्र साध्विति साधुत्वविवक्षायां 'तत्र साधा'विति यः प्रत्ययः, अथवा सन्तो–मूलोत्तरगुणास्तेषामेव मुक्तिमार्गतया अतिप्रशस्यत्वात् तेभ्यो हिता तदाराधनात् पूर्ववत्साधुत्वविवक्षायां यः प्रत्ययः, यदिवा सन्तो–जीवादयः पदार्थास्तेभ्यो हिता यथावस्थिततत्स्वरूपप्रत्यायकत्वात् सत्या, अत्रापि पूर्ववत् यः प्रत्ययः, यथा अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपा, तद्विपरीताऽसत्या, यथा नास्ति जीवः एकान्तसद्रूपो वेत्यादिरूपा, तथा सत्यामृषा धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेष्वशोकवनमेवेदमित्यादिरूपा, अत्र हि कतिपयाशोकवृक्षाणां सद्भावात्सत्यता अन्येषामपि धवादीनां सद्भावान्मृषता, व्यवहारनयमतापेक्षयेदमुच्यते, परमार्थतः पुनरियमसत्येति, यथाऽभिहितार्थायोगात्, तथा या न सत्या नापि मृषा सा असत्यामृषा,इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतितिष्ठाशया सर्वज्ञमतानुसारेण या भाषा प्रोच्यते यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि सा किल सत्या परिभाविता, आराधकत्वात्, यया पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां सर्वज्ञमतोत्तीर्णमुच्यते यथा नास्ति जीव एकान्तनित्यो वेति साऽसत्या, विराधनीत्वात्, या पुनर्वस्तुप्रतितिष्ठासामन्तरेण स्वरूपमात्रप्रतिपादनपरा यथा हे देवदत्त ! घटमानय गां देहि मह्यमित्यादिरूपा सा असत्यामृषा, इयं हि स्वरूपमात्रप्रतिपादनफलत्वात् न यथोक्तलक्षणा सत्या नापि मृषा, ततः असत्या चासावमृषा च असत्यामृषेति, आसां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

च स्वरूपमुदाहरणयुक्तं प्रज्ञापनासूत्रादवसातव्यं ॥ नन्वौदारिकादिर्गृह्णाति मुञ्चति च भाषामित्युक्तं, ततः सा मुक्ता सती उत्कर्षतः कियत् क्षेत्रं व्याप्नोति ?, उच्यते, समस्तमेव लोकं, यद्येवं तर्हि—

"कइहिं समएहिं लोगो भासाए निरंतरं तु होइ फुडो । लोगस्स य कइभागे कइ भागो होइ भासाए ॥१०॥"

कतिभिः समयैर्लोक्यत इति लोकः, चतुर्दशरज्वात्मकः क्षेत्रलोकः परिगृह्यते, भाषया निरन्तरमेव भवति स्पृष्टो-व्याप्तः पूर्ण इत्यनर्थान्तरं, लोकस्य च कतिभागे कतिभागो भवति भाषायाः ? ॥ अत्रोच्यते—

"चउहिं समएहिं लोगो भासाए निरंतरं तु होइ फुडो । लोगस्स य चरिमंते चरिमंतो होइ भासाए ॥ ११ ॥"

चतुर्भिः समयैर्लोको भाषया निरन्तरमेव भवति स्पृष्टो–व्याप्तः, किं सर्वयैव भाषया उत विशिष्टया ?, उच्यते, विशिष्टया, तथाहि—इह कश्चिद्वक्ता मन्दप्रयत्नो भवति कश्चिन्महाप्रयत्नः, तत्र यो मन्दप्रयत्नो वक्ता स यथारूपाणि शब्दद्रव्याणि गृहीतवान् तथारूपाण्येवाभिन्नानि उपजातमन्दशब्दपरिणामानि निसृजति, तानि च तथा निसृष्टानि मन्दप्रयत्ननिसृष्टत्वात् परिस्थूराणि, अत एव तदन्यद्रव्यवासनोत्पादपाटवरहितान्यसङ्ख्येयखण्डशो भिद्यते, भिद्यमानानि च सङ्ख्येयानि योजनानि गत्वा शब्दपरिणामं विजहति [१७५०], यस्तु महाप्रयत्नो वक्ता, स खल्वादानप्रयत्नेनापि भित्त्वैव गृह्णाति, गृहीत्वा च शब्दपरिणाममपि तेषामत्युत्कटमुत्पादयति, उत्पाद्य च निसर्गप्रयत्नेन भूयो भित्त्वा निसृजति, तानि च तथा निसृष्टानि सूक्ष्मत्वादतिप्रभूतत्वादत्युत्कटशब्दपरिणामत्वाच्च तदन्यानि बहूनि द्रव्याणि वासयन्ति तदन्यद्रव्यवासकतया षट्स्वपि दिक्षु अनन्तगुणवृद्ध्या परिवर्द्धमानानि लोकान्तमाप्नुवन्ति, शेषं तु तत्पराघातवासितानि द्रव्याणि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

लोकमापूरयन्ति, आह च भाष्यकृत्—"कोई मंदपयत्तो निसिरइ सयलाइं सव्वदवाइं । अन्नो तिव्वपयत्तो निसिरइ सो भिंदिउं ताइं ॥१॥ गंतुमसंखेज्जाओ अवगाहणवग्गणा अभिन्नाइं । भिज्जंति धंसमिंति य संखेज्जे जोयणे गंतुं ॥२॥ भिन्नाइं सुहुमथाए अणंतगुणवड्ढियाइं लोगंतं । पावेंति पूरयंति(य) भासाए निरंतरं लोगं ॥३॥ (३८०-१-२)" अत्र 'असंखेज्जाओ अवगाहणवग्गणाओ' इति अवगाहना नाम एकैकस्य भाषाद्रव्यस्कन्धस्याधारभूता असङ्ख्येयप्रदेशात्मकक्षेत्रविभागरूपास्तासां वर्गणा अवगाहनावर्गणाः असङ्ख्येया—असङ्ख्येययोजनप्रमिताः, अत एव प्रागुक्तं असङ्ख्येयानि योजनानि गत्वेति, शेषं सुगमं, चतुःसमयग्रहणे त्रिपञ्चसमयग्रहणमपि प्रतिपत्तव्यं, तुलादीनां मध्यग्रहणे आद्यन्तग्रहणवत्, विचित्रा वा सूत्रगतिः, उक्तं च—"चउसमयमज्झगहणे तिपंचगहणं तुलाइमज्झस्स । जह गहणे पज्जंतगहणं चित्ता व सुत्तगई ॥१॥" (३८७वि.) अत्र कथं त्रिभिः समयैर्लोको भाषया निरन्तरमापूरितो भवति?, उच्यते, इह यदा लोकमध्यस्थो वक्ता भवति तदा तेन निसृष्टानि भाषापरिणतानि द्रव्याणि प्रथमसमय एव षट्सु दिक्षु लोकान्तमनुधावंति, जीवसूक्ष्मपुद्गलानामनुश्रेणिगमनात्, द्वितीयसमये तु त एव षट् दण्डाः चतुर्दिक्षु एकैकश्रोऽनुश्रेण्या वासितद्रव्यैः प्रसरन्तः षट् मन्थानो भवंति, तृतीयसमये तु पृथक् पृथक् तदन्तरालापूरणात् पूर्णो भवति लोकः, एवं त्रिभिः समयैर्भाषया लोकः स्पृष्टो भवति, यदा तु स्वयंभूरमणपरतटवर्त्तिनि लोकान्ते अलोकस्यात्यन्तनिकटीभूय भाषको वक्ति त्रसनाड्या वा बहिश्चतसृणां दिशामन्यतमस्यां दिशि तदा चतुर्भिः समयैरापूर्यते, कथं?, उच्यते, इह यदा त्रसनाड्या बहिर्व्यवस्थितो वक्ति तदा एकेन समयेनान्तर्नाडौ शब्दद्रव्याण्यनुप्रविशन्ति, शेषसमयभावना च पूर्ववत्, यदापि लोकान्ते स्वयम्भूरमणपरतटवर्त्तिनि चतसृणां दिशाम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** भाषाया: लोकपूरणस्य वर्णनं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

न्यतमस्यां दिशि व्यवस्थितो भाषकः तदा वामदक्षिणपृष्ठोर्द्ध्वाधोदिशामलोकेन स्खलितत्वात् भाषाद्रव्याणां प्रथमसमये लोकमध्ये प्रवेशः, शेषास्तु त्रयः समयास्तथैव, यदा तु त्रसनाड्या बहिर्विदिग्व्यवस्थितो भाषको वक्ति तदा पुद्गलानामनुश्रेणिगमनात् समयद्वयेन शब्दद्रव्याणामन्तर्नाडीप्रवेशस्तद्यथा–प्रथमसमये विदिशो दिशिगमनं द्वितीये त्वन्तर्नाडीप्रवेशः, शेषं समयत्रयं पूर्ववदित्येवं पञ्चभिः समयैः सकललोकापूरणं, उक्तं च–"पढमसमए च्चिय जतो मुक्काइं जंति छद्दिसिं ताइं । बीयसमयंमि तेच्चिय छद्दंडा हुंति छम्मंथा ॥ मंथंतरेहि तइए समए पुण्णेहिं पूरिओ लोगो । चउहिं समएहिं पूरइ, लोकंते भासमाणस्स ॥२॥ दिसिवट्टियस्स पढमो तिगमे ते चेव सेसया तिन्नि । विदिसिट्ठियस्स समया पंचाइगमंमि जं दोन्नि ॥३॥(३८४-५-६वि.)" अत्रातिगमः–प्रवेशः, शेषं प्रतीतं। अन्ये जैनसमुद्घातगत्या सकललोकापूरणमभिमन्यन्ते, तद्यथा–प्रथमसमये ऊर्द्ध्वाधोमात्रगमनात् दण्डो द्वितीयसमये कपाटः तृतीयसमये मन्थाश्चतुर्थसमयेऽपान्तरालापूरणमिति, उक्तं च–"जइणसमुग्घायगइएँ केई भासंति चउहिं समएहिं । पूरइ सयलो लोगो अण्णे पुण तीहिं समएहिं ॥१॥" इति, तदेतदयुक्तम्, तेषां ह्याद्यसमये भाषाद्रव्याणामूर्द्ध्वाधोगमनात् शेषदिक्षु तेषामभावस्तदभावाच्च पराघातवासितद्रव्याणामप्यसम्भवान्मिश्रशब्दश्रवणासम्भवः, अथ च–'भासासमसेढीतो सद्दं जं सुणइ मीसयं सुणइ ।' इत्यनेनाविशेषेण दिक्षु मिश्रशब्दश्रवणमुक्तमिति सूत्रविरोधः, अथ 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणते'तिवचनादूर्द्ध्वाधोदिग्द्वयवर्त्तिदण्ड एव मिश्रशब्दश्रवणमुक्तं द्रष्टव्यं, न शेषदिक्ष्विति,नन्वेवमपि त्रिभिः समयैर्लोकापूरणमापद्यते, न चतुःसमयसम्भवः, कथमिति चेत्, उच्यते, स खलु दण्ड ऊर्द्ध्वाधो गच्छन् अविशेषेण चतसृष्वपि दिक्षु शब्दप्रायोग्यद्रव्याणि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आ, सू. ७

पराहन्ति पराघाताच्च शब्दपरिणामं भजन्ते, ततो द्वितीयसमये तानि प्रसरमधिरोहन्ति मन्थानं साधयन्ति, तृतीयसमये तु तदन्तरालापूरणात् सकललोकमापूरयन्ति, उक्तं च—"न समुग्घायगईयॅ मीसयसवणं मयं च दंडंमि। जइ तोवि तीहिं पूरइ समएहिं जओ पराघातो ॥१॥ (३९२ वि०)" अथ जैनसमुद्घात इव चतुर्भिरेव समयैर्भाषयाऽपि लोकापूरणं भविष्यति, ततः को दोषः?, तदसमीचीनं, सम्यक्सिद्धान्तापरिज्ञानात्, जैनसमुद्घाते हि जीवप्रदेशा एव स्वरूपेण लोकमापूरयन्ति, न पुनस्तत्र कस्यापि पराघातोऽस्ति, ततो न तत्र द्वितीयसमये मन्थाः, किन्तु कपाट एव केवलः, अन्यच्च—केवली भवोपग्राहिकर्मणामुपघाताय केवलिसमुद्घातमारभते, स च केवलचक्षुषा परिभाव्यमान इत्थमेव क्रियमाणस्तेषां भवोपग्राहिकर्म्मणामुपघाताय प्रभवति, नान्यथा, यदिवा दण्डकपाटादिक्रमेणैव जीवप्रदेशैः सकललोकपूरणं भवति, नान्यथा, तथास्वाभाव्यादिति केवलिसमुद्घातस्य चतुःसमयता, भाषापुद्गलानां त्वनुश्रेणिगमनं पराघातेन द्रव्यान्तरवासकतास्वभावश्च सकललोकव्याप्तौ हेतुः, ततः प्रथमसमय एव ऊर्ध्वाधो दण्डे कृते द्वितीयसमये चतसृष्वपि दिक्षु अनुश्रेणिगमनात् पराघातेन तदन्यद्रव्यवासकत्वाच्च ते मन्थानं साधयन्ति, तृतीये तु समये त्वन्तरालापूरणतः समस्तलोकव्याप्तिरिति त्रिसमयतैवात्रापद्यते, न चतुःसमयतेति, अथ योऽसावचित्तमहास्कन्धः प्रज्ञापनादिषु वर्ण्यते स जीवप्रदेशापूरणात्मको न भवत्यचित्तमहास्कन्धत्वात्, किन्तु पुद्गलमयः, ततो यथाऽसौ पुद्गलमयोऽपि नियमाच्चतुःसामयिक एव, एवं भाषयाऽप्यापूरणं लोकस्य चतुःसामयिकमेव भविष्यति, न त्रिसामयिकमिति को दोषः?, तदयुक्तम्, अचित्तमहास्कन्धो हि विश्रसापरिणामेन भवति, विश्रसापरिणामश्च यद्यपि विचित्रस्तथापि स केवलचक्षुषा सर्वदैव तथास्वाभाव्यादित्थमे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घाते ॥ ३७ ॥

वोपजायमान उपलब्ध इत्यग्नेरुष्णत्वमिव न पर्यनुयोगमर्हति, अन्यच्च–नासौ पराघातेनान्यद्रव्याणामात्मपरिणाममुत्पादयति, किन्तु स्वपुद्गलैरेव लोकमापूरयति, ततोऽसौ चतुःसमय एव, यदि पुनस्तत्रापि पराघातो भवेत्तर्हि सोऽपि भाषया लोकापूरणमिव त्रिसामयिको भवेत्, न चतुःसामयिक इति, आह च भाष्यकृत्–"खंधोऽवि वीससाए न पराघाओ उ तेण चउसमयो । अह होज्ज पराघातो हविज्ज तो सोऽवि तिसमइओ ॥१॥(३९४वि०)" अन्ये त्वभिदधति–प्रथमसमये तावदूर्ध्वदिशि दण्डं करोति, द्वितीयसमये तत्र मन्थानमधो दिशि पुनर्दण्डं, तृतीयसमये ऊर्ध्वदिग्यन्तरालापूरणमधोदिशि तु मन्थानं, चतुर्थसमये तु तत्राप्यन्तरालापूरणात् समस्तमपि लोकं भाषाद्रव्यैरापूरयति इति, तदपि नागमक्षमं, क्वचिदप्यागम एवमश्रवणात्, नापि युक्तिमत्, काऽत्र खलु युक्तिर्यदनुश्रेणिगमनस्वभावानां पुद्गलानामेकयैव ऊर्ध्वदिशा गमनं नाधोदिशा नापि शेषाभिः पूर्वादिदिग्भिरिति यत्किञ्चिदेतत्, उक्तं च–"एगदिसमादिसमये दंडं काऊण चउहिं पूरेइ । अण्णे भणंति तंपि य नागमजुत्तिक्खमं होइ ॥१॥(३९५ वि०)" यदुक्तम्–'लोकस्य च कतिभागे कतिभागो भवति भाषाया' इति, तत्रोत्तरमाह–लोकस्य च क्षेत्रगणितमपेक्ष्य चरमान्ते असङ्ख्येयभागो भवति भाषाया समस्तलोकव्यापिन्याः, इयमत्र भावना–त्रिसमयव्यासौ चतुःसमयव्यासौ पञ्चसमयव्यासौ वा नियमेन प्रथमद्वितीयसमयोर्लोकासङ्ख्येयभागे भाषाया असङ्ख्येयो भागो भवति, तथाहि–त्रिसमयव्यासौ प्रथमसमये दण्डषट्कं भवति, द्वितीयसमये तु षट् मन्थानः, ते च दण्डादयो यद्यपि दैर्घ्येण लोकान्तस्पर्शिनस्तथापि वक्तृमुखविनिर्गतत्वात् तत्प्रमाणानुसारतो बाहल्येन चतुरङ्गुलादिमाना भवन्ति, चतुरादीनि चाङ्गुलानि लोकाकाशासङ्ख्येयभागवर्त्तीन्येवेति त्रिसमयव्यासौ प्रथमद्वितीयसमययोर्लोकासङ्ख्येयभागे

शब्द-द्रव्येण लोक-व्याप्तिः ॥ ३७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

भाषायाः असङ्ख्येयभागः, चतुःसमयव्याप्तावपि प्रथमसमये लोकमध्यमात्रप्रवेशो द्वितीयसमये तु दण्डसमुद्घवः, पञ्चसमयव्याप्तौ तु प्रथमसमये भाषाद्रव्याणां विदिशो दिशि गमनं द्वितीयसमये लोकमध्यमात्रप्रवेश इत्युभयत्रापि प्रथमसमये द्वितीयसमये च लोकासङ्ख्येयभागे भाषाया असङ्ख्येयो भागः, त्रिसमयव्याप्तौ तृतीये समये भाषायाः समस्तलोकव्याप्तिः, चतुःसमयव्याप्तौ तृतीयसमये लोकस्य सङ्ख्येये भाषायाः सङ्ख्येयो भागः, कथमिति चेत्, उच्यते, स्वयम्भूरमणपश्चिमपरतटवर्तिनि लोकान्ते त्रसनाड्या बहिर्वा पश्चिमदिशि स्थित्वा ब्रुवतो भाषकस्य प्रथमसमये चतुरङ्गुलादिबाहल्यो रज्जुदीर्घो दण्डः तिरश्चीनं गत्वा स्वयंभूरमणपूर्वपरतटवर्त्तिनि लोकान्ते लगति, ततो द्वितीयसमये तस्माद्दण्डादूर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जूच्छ्रितः पूर्वापरतिरश्चीनतया रज्जुविस्तृतः पराघातवासितद्रव्याणां दण्डो निर्गच्छति, लोकमध्ये तु पराघातवासितद्रव्याणामेव चतुरङ्गुलादिबाहल्यं रज्जुविस्तीर्णं दण्डद्वयं विनिर्गत्य स्वयम्भूरमणदक्षिणोत्तरवर्त्तिलोकान्तयोर्लगति, एवं च सति चतुरङ्गुलादिबाहल्यं सर्वतो रज्जुविस्तीर्णं लोकमध्ये वृत्तं छत्वरं सिद्धं भवति, तृतीयसमये तूर्ध्वाधोव्यवस्थितदण्डाच्चतुर्दिक्प्रसृतः पराघातवासितद्रव्यसमूहो मन्थानं साधयति, लोकमध्यव्यवस्थितसर्वतोरज्जुविस्तीर्णछत्वरादूर्ध्वाधः प्रसृतः पुनः स एव त्रसनाडीं समस्तामपि पूरयति, एवं च सति सर्वापि त्रसनाडी ऊर्ध्वाधोव्यवस्थितदण्डमथिभावेन तदधिकं च लोकस्य पूरितं भवति, एतावच्च क्षेत्रं लोकस्य सङ्ख्याततमो भागः, तथा च सति चतुःसामयिक्या व्याप्तेः तृतीयसमये लोकस्य सङ्ख्येयतमे भागे भाषाया अपि समस्तलोकव्यापिन्याः सङ्ख्याततमो भागः, पञ्चसामयिक्यास्तु व्याप्तेः तृतीयसमये लोकासङ्ख्येयतमे भागे भाषाया असङ्ख्येयतमो भागः, तस्यां तस्य दण्डसमयत्वात्, तत्र चोक्तप्रकारे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णासङ्ख्येयभागवर्त्तित्वस्य भावादिति, चतुर्थे समये चतुःसामयिक्यां व्याप्तौ मध्यान्तरालपूरणात् समस्तलोकव्याप्तिः, पञ्चसामयिक्यां तु व्याप्तौ चतुर्थसमये लोकस्य सङ्ख्येयभागे भाषायाः सङ्ख्येयो भागः, तस्यां तस्य मथितसमयत्वात्, तस्य च सङ्ख्येयभागवर्त्तित्वस्य प्रागेव भावितत्वात्, पञ्चमसमये तु पञ्चसामयिक्यां व्याप्तौ मध्यान्तरालपूरणात् समस्तलोकव्याप्तिः, एतच्च महाप्रयत्नवत्कृनिसृष्टद्रव्यापेक्षया द्रष्टव्यं, मन्दप्रयत्नवत्कृनिसृष्टानि तु लोकासङ्ख्येयभाग एव वर्त्तन्ते, दण्डादिक्रमेण तेषां लोकापूरणासम्भवात्, त्रिसमयव्याप्तौ चतुःसमयव्याप्तौ पञ्चसमयव्याप्तौ च व्यादिषु समयेष्वापूरिते लोके लोकस्य चरमान्ते भाषाया अपि चरमान्तो भवति, किमुक्तं भवति?–लोके निष्ठां गते भाषाऽपि निष्ठां यातीति, उक्तं च– "आपूरियंमि लोगे दोण्हवि लोगस्स तह य भासाए। चरमंते चरमंतो चरमसमयंमि सव्वत्थ ॥१॥ (३९१ वि०)" अस्याक्षरगमनिका– 'सर्वत्र' त्रिसामयिक्यां चतुःसामयिक्यां पञ्चसामयिक्यां च व्याप्तौ चरमे समये–व्यादिरूपे आपूरिते लोके द्वयोरपि, एतदेव व्याचष्टे–लोकस्य तथा भाषायाश्चरमान्ते चरमान्तो भवति, तत उक्तम्–"लोगस्स य चरमंते, चरमंतो होइ" भासाए इति, इह 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्या',तत्र तत्त्वतो भेदतश्च मतिज्ञानस्वरूपमुक्तम्, इदानीं नानादेशजविनेयगणसुखप्रतिपत्तये तत्पर्यायशब्दानभिधित्सुराह–

"ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा । सण्णा सई मई पण्णा, सव्वं आभिणिबोहियं ॥ १२ ॥"

'ईह चेष्टायां' ईहनमीहा–सतामर्थानामन्वयिनां व्यतिरेकिणां च पर्यालोचना, तथा अपोहनं अपोहो निश्चय इत्यर्थः, विमर्शनं विमर्शः, अपायात् पूर्वं ईहाया उत्तरः प्रायः शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्म्मा अत्र घटन्ते इति सम्प्रत्ययः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** आभिनिबोधकज्ञानस्य पर्यायानां वर्णनं

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

तथा अन्वयधर्मान्वेषणं मार्गणा, व्यतिरेकधर्मालोचनं गवेषणा, तथा संज्ञानं संज्ञा–व्यञ्जनार्थावग्रहोत्तरकालो मतिविशेषः, स्मरणं स्मृतिः–पूर्वानुभूतार्थालम्बनप्रत्ययः, मननं मतिः–कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मपर्यालोचनरूपा बुद्धिः, तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा–विशिष्टक्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा मतिः, सर्वमिदमाभिनिबोधिकं, मतिज्ञानमित्यर्थः, एवं किञ्चिद्भेदाभेदः प्रदर्शितः, परमार्थतस्तु सर्व एवैते मतिवाचकाः पर्यायशब्दाः। तदेवं तत्त्वभेदपर्यायैर्मतिज्ञानस्वरूपं व्याख्याय सम्प्रति नवभिरनुयोगद्वारैः पुनस्तद्रूपनिरूपणार्थमाह–

"संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य। कालो अ अंतर भागो भावे अप्पाबहुं चेव ॥ १३ ॥
गइ इंदिए य काए जोए वेए कसायलेसासु। सम्मत्तनाणदंसण संजय उवयोग आहारे ॥ १४ ॥
भासग–परित्त–पज्जत्त-सुहुम सन्नी य होइ भवचरिमे। आभिणिबोहियनाणं मग्गिज्जइ एसु ठाणेसु ॥ १५ ॥

सच्च तत्पदं च सत्पदं तस्य प्ररूपणं–गत्यादिद्वारेषु विचारणं सत्पदप्ररूपणं सत्पदप्ररूपणस्य भावः–सत्पदप्ररूपणशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं सत्पदप्ररूपणता, तदेव सत्पदप्ररूपणमिति भावः, किमुक्तं भवति ?– मतिज्ञानमिति यत्सत्पदं तस्य गत्यादिभिर्द्वारैः प्ररूपणमिति, अथवा सद्विषयं पदं सत्पदं–तदेव मतिज्ञानमितिरूपं पदं, मतिज्ञानस्य सत्त्वात् प्रक्रान्तत्वाच्च, शेषं पूर्ववत्, नन्वसत्पदस्यापि किं प्ररूपणा क्रियते येनेदमुच्यते–'सत्पदप्ररूपणे'ति ?, उच्यते, क्रियते खलु खरविषाणादेरप्यसत्पदस्य प्ररूपणा, ततः सङ्ग्रहणमिति, अथवा सन्ति च तानि पदानि च–स्थानानि सत्पदानि गत्यादीनि तैः प्ररूपणं मतेः सत्पदप्ररूपणं, शेषं पूर्ववत्, द्रव्यप्रमाणं जीवप्रमाणमिति वक्तव्यं, किमुक्तं भवति ?–एकस्मिन् समये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** सत्पदप्ररुपणा आदि द्वाराणाम् वर्णनं

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घाते ॥ ३९ ॥

मतिज्ञानं कियन्तः प्रतिपद्यन्ते ? इति, सर्वे वा कियन्तः ? इति, चशब्दः समुच्चये, तथा क्षेत्रं वक्तव्यं, कियति क्षेत्रे मतिज्ञानं सम्भवति ?, तथा स्पर्शना च वक्तव्या, यथा कियत् क्षेत्रं मतिज्ञानिनः स्पृशन्ति, अथ क्षेत्रस्य स्पर्शनायाश्च कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते, यत्रावगाहस्तत् क्षेत्रं, स्पर्शना तु तद्बाह्यतोऽपि भवति, तथा परमाणुमधिकृत्योक्तम्–"एगपएसोगाहो सत्तपएसा य से फुसणा (४३२ वि०)।" च शब्दः पूर्ववत्, कालः–स्थितिलक्षणो मतिज्ञानस्य वाच्यः, चशब्दः पूर्ववत्, अन्तरं च– एकदा प्रतिपद्य वियुक्तः कियता कालेन पुनरपि तत् प्रतिपद्यते इत्येवंरूपं तस्य वक्तव्यं, तथा मतिज्ञानिनः शेषज्ञानिनां कतिभागे वर्त्तन्ते इत्येवं भागो वक्तव्यः, तथा कस्मिन् भावे मतिज्ञानिनो वर्त्तन्ते इत्येवं भावो भणनीयः, तथा अल्पबहुत्वं वक्तव्यं, अथ भागद्वारादेवायमर्थोऽवगतस्ततः किमनेन द्वारेण ?, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, इह मतिज्ञानिनामेव पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकानां परस्परमल्पबहुत्वं वक्तव्यं, भागस्तु शेषज्ञानापेक्षया इति, एष गाथासमुदायार्थः। सम्प्रति प्रागुपन्यस्तगाथाद्वयेनाभिनिबोधिकज्ञानस्य सत्पदप्ररूपणताद्वारावयवार्थः प्रतिपाद्यते–आभिनिबोधिकज्ञानं किमस्ति नास्तीति ?, अस्ति, यद्यस्ति क्व तत् ?, तत्र गतिमङ्गीकृत्यालोच्यते, सा गतिश्चतुर्विधा, तद्यथा–नरकगतिस्तिर्यग्गतिः मनुष्यगतिर्देवगतिश्च, तत्र चतुष्प्रकारायामपि गतौ आभिनिबोधिकज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतो विद्यन्ते, प्रतिपद्यमानास्तु विवक्षितकाले भाज्याः–कदाचिद् भवन्ति कदाचिन्नेति, तत्र (ते) प्रतिपद्यमाना अभिधीयन्ते ये तत्प्रथमतया आभिनिबोधिकं प्रतिपद्यन्ते, ते प्रथमसमयवर्त्तिनः प्रतिपद्यमानाः, शेषेषु समयेषु तु पूर्वप्रतिपन्नाः, तथा 'इंदिए'त्ति इन्द्रियाण्यङ्गीकृत्य मृग्यते, तत्र पञ्चेन्द्रियाः पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानास्तु भाज्याः, द्वित्रिचतुरिन्द्रि-

सदादीति द्वाराणि गत्यादयो मार्गणाः गा. १३-१५

॥ ३९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

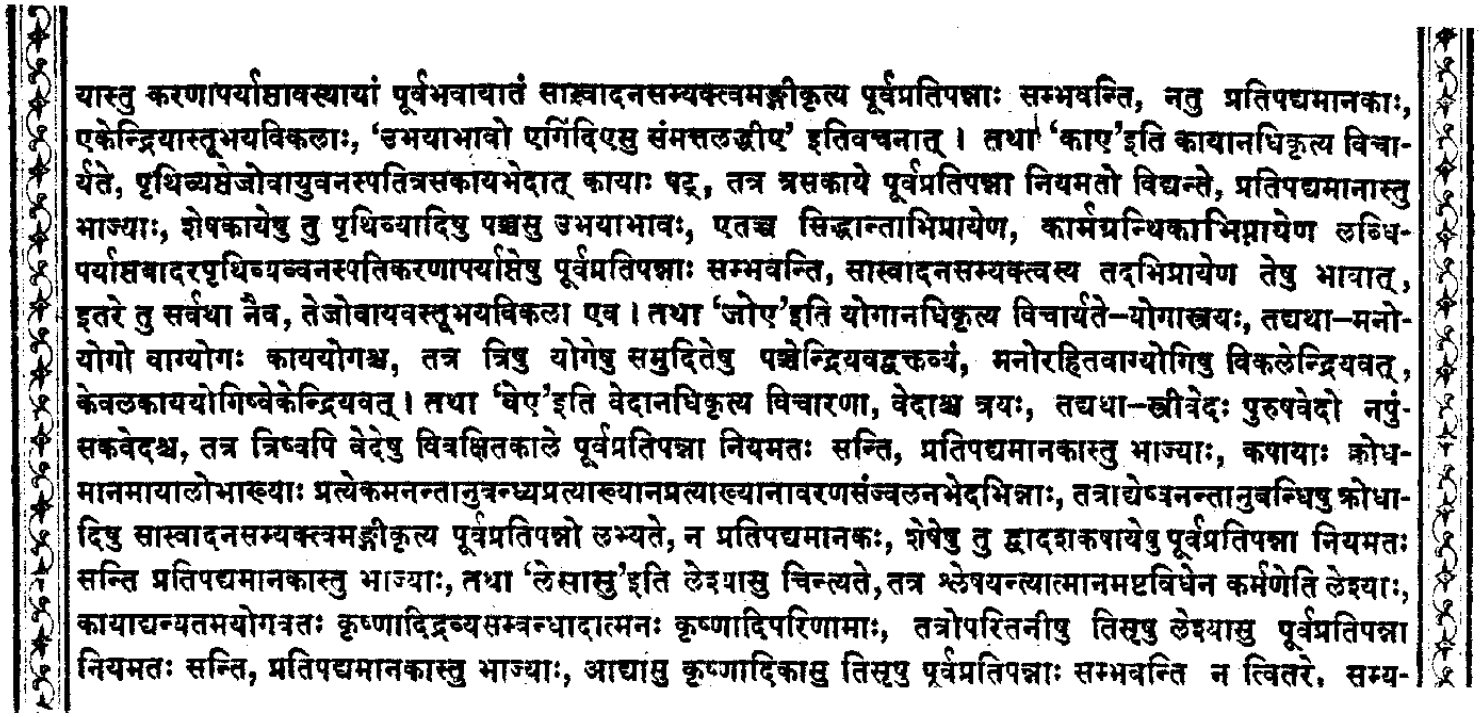

यास्तु करणापर्याप्तावस्थायां पूर्वभावाद्यातं सास्वादनसम्यक्त्वमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानकाः, एकेन्द्रियास्तूभयविकलाः, 'उभयाभावो एगिंदिएसु संमत्तलद्धीए' इतिवचनात् । तथा 'काए'इति कायानधिकृत्य विचार्यते, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् कायाः षट्, तत्र त्रसकाये पूर्वप्रतिपन्ना नियमतो विद्यन्ते, प्रतिपद्यमानास्तु भाज्याः, शेषकायेषु तु पृथिव्यादिषु पञ्चसु उभयाभावः, एतच्च सिद्धान्ताभिप्रायेण, कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण लब्धिपर्याप्तबादरपृथिव्यब्वनस्पतिकरणापर्याप्तेषु पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति, सास्वादनसम्यक्त्वस्य तदभिप्रायेण तेषु भावात्, इतरे तु सर्वथा नैव, तेजोवायवस्तूभयविकला एव । तथा 'जोए'इति योगानधिकृत्य विचार्यते—योगास्त्रयः, तद्यथा—मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्च, तत्र त्रिषु योगेषु समुदितेषु पञ्चेन्द्रियवद्वक्तव्यं, मनोरहितवाग्योगिषु विकलेन्द्रियवत्, केवलकाययोगिष्वेकेन्द्रियवत् । तथा 'वेए'इति वेदानधिकृत्य विचारणा, वेदाश्च त्रयः, तद्यथा—स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च, तत्र त्रिष्वपि वेदेषु विवक्षितकाले पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्याः, कषायाः क्रोधमानमायालोभाख्याः प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदभिन्नाः, तत्राद्येष्वनन्तानुबन्धिषु क्रोधादिषु सास्वादनसम्यक्त्वमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते, न प्रतिपद्यमानकः, शेषेषु तु द्वादशकषायेषु पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्याः, तथा 'लेसासु'इति लेश्यासु चिन्त्यते, तत्र श्लेषयन्त्यात्मानमष्टविधेन कर्मणेति लेश्याः, कायाद्यन्यतमयोगवतः कृष्णादिद्रव्यसम्बन्धादात्मनः कृष्णादिपरिणामाः, तत्रोपरितनीषु तिसृषु लेश्यासु पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्याः, आद्यासु कृष्णादिकासु तिसृषु पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति न त्वितरे, सम्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्त्वद्वारे निश्चयव्यवहारनयाभ्यां विचारः, तत्र व्यवहारनयो मन्यते–मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञानयोः प्रतिपद्यमानको भवति, न तु सम्यक्त्वज्ञानसहितः, निश्चयनयस्तु ब्रूते–सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते, न तु मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च, आह च भाष्यकृत्—"सम्मत्तनाणरहियस्स नाणमुप्पज्जइत्ति ववहारो। नेच्छइयनओ भासइ उप्पज्जइ तेहिं सहियस्स ॥ १ ॥ (४१४ वि०)" तत्र व्यवहारः परपक्षदूषणाय स्वपक्षसाधनाय च प्रत्यवतिष्ठते–यदि नाम सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते इत्यभ्युपगमस्ततस्तत्सम्यक्त्वं ज्ञानं च जातमसावुत्पादयति, न च जातं भूयो जायते, जातत्वादेव, निष्पन्नघटवत्, प्रयोगश्चात्र–यद्विद्यमानं तत्केनचिदपि कर्तुं न शक्यं, यथा पूर्वनिष्पन्नो घटः, विद्यमाने च सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वज्ञाने इति, विपक्षे बाधकं प्रमाणमनवस्थाप्रसङ्गः क्रियावैफल्यं च, तथाहि—यदि कृतमपि क्रियते तर्हि कृतत्वाविशेषात् भूयो भूयः करणप्रसङ्गः, पूर्वनिष्पन्नत्वेन क्रियायाः फलाभावान्नैष्फल्यमिति, अन्यच्च–प्रत्यक्षबाधा, तथाहि—सर्वमपि कार्यं घटादि पूर्वमभूतं भवत् दृश्यते, नतु भूतं, अथ क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदादेवमुच्यते सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वं ज्ञानं च प्रतिपद्यते इति, तदप्ययुक्तं, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदस्याभावात्, प्रत्यक्षत एव घटादिक्रियाकालस्य दीर्घतयोपलभ्यमानत्वात्, न खल्वारम्भ एव शिबकाद्यद्धायां वा घटादिकार्यं पश्यामः, किन्तु विवक्षितक्रियाकालपर्यन्ते, एवमत्रापि न श्रवणाद्यारम्भ एव ज्ञानं, किन्तु तदन्त इति मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञानयोः प्रतिपत्ता, न सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी चेति, उक्तं च—"ववहारमयं जायं न जायए भावतो कयघडोव। अहवा कयंपि किज्जइ किज्जउ निच्चं न य समत्ती ॥१॥ किरियावेफल्लंचिय पुव्वमभूयं च दीसए होंतं। दीसइ दीहो य जतो किरियाकालो घडादीणं ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

नारंभेच्चिय दीसइ न सिवादद्धाइ दीसइ तदंते। इय न सवणाइकाले नाणं जुत्तं तदंतंमि ॥ ३ ॥ (४१५-१-७ वि०) एवमुक्ते निश्चयनय आह–नाजातं खलु जायते किञ्चिदपि, अभावत्वात्, खपुष्पवद्, विपक्षे बाधकं प्रमाणं खरविषाणादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गोऽजातत्वाविशेषाद्, आह च भाष्यकृत्–"निच्छइओ नाजायं जायऽभावत्ततो खपुप्फं व। अह व अजायं जायइ जायउ तो खरविसाणंपि ॥१॥ (४१८ वि०)" योऽपि कृतत्वाविशेषात् सदाकरणप्रसङ्ग इति दोष आपादितः स इतरत्रापि समानः, तथाहि–यद्यसत् क्रियते तर्हि नित्यमेव क्रियतामसत्त्वाविशेषात्, न च वाच्यं कार्योत्पत्तौ विरमणभावात् सदाकरणाप्रसङ्ग इति, कार्यस्यैवोत्पत्त्ययोगात्, खरविषाणस्येवात्यन्तासत उत्पादयितुमशक्यत्वात्, तथा च सति क्रियाया अपि वैफल्यं, क्रियाफलस्य कार्योत्पादस्यासम्भवात्, यदप्युक्तं 'सर्वमपि कार्यं घटादि पूर्वमभूतं भवत् दृश्यते, नतु भूतमपि,' तदप्यसम्यक्, अभूतं हि यदि भवत् दृश्यते तर्हि खरविषाणमपि किं नोपलभ्यते ?, प्रागसत्त्वाविशेषात्, यदप्यवादीत् 'क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदस्याभावादि'ति, तदप्यश्लीलं, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदस्य व्यवस्थितत्वात्, अन्यथा कार्यकाले न क्रियाभाव इति क्रियाया अभावाविशेषात् पूर्ववत् कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः, एवं च यदुच्यते 'प्रत्यक्षत एव घटादिक्रियाकालस्य दीर्घतयोपलभ्यमानत्वा'दिति तद् बालिशजल्पितं, प्रतिसमयं ह्यन्यत् अन्यत् कार्यमुपजायते, तथाहि—शिवकोऽन्यत्कार्यमन्यतमत् स्थासोऽन्यत् कुशूल इत्यादि, ततो यदि परस्परविलक्षणानां प्रतिसमयान्यान्योत्पद्यमानकार्याणां दीर्घः क्रियाकालो दृश्यते ततो घटस्य किमायातं ?, नहि शेषकार्यक्रियाकालो घटकार्यक्रियाकालः, उक्तं च— "पइसमउप्पण्णाणं परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं। दीहो किरियाकालो जइ दीसइ किं च (श्र) कुंभस्स ?॥१॥(४२०वि०)" यद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घाते

॥ ४१ ॥

प्यवोचत–'न खल्वारम्भ एव शिविकाद्यद्धायां वा घटादिकार्यं पश्याम' इति, तदपि स्थूलमतितासूचकं, प्रथमसमये हि न घटादिकार्यमारब्धं, किन्तु चक्रमस्तकमृत्पिण्डारोपणादि, तच्च तस्मिन् समये दृश्यते, यत् नारब्धं घटादि तत्कथं दृश्यते ?, न खल्वन्यारम्भेऽन्यत् दृश्यते, यथा घटः पटारम्भे, शिवकादयोऽपि न घट इति तदद्धायामपि तस्य दर्शनाभावः, आह च—"अन्नारंभे अन्नं किह दीसउ जह घडो पडारंभे ?। सिवगादयो न घडओ किह दीसउ सो तदद्धाए ? ॥१॥ (४२१ वि०)" यच्चैतदुक्तम्–'किन्तु विवक्षितक्रियाकालपर्यन्ते' इति, तत्समीचीनमेव, विवक्षितकार्यनिमित्तभूतकार्यकोटिक्रियाकालपर्यन्त एव तस्यारब्धत्वात्, यस्तु लोको व्यवहरति–एतावान् घटस्य करणे कालो लग्न इति स घटार्थितया घटनिमित्तप्रतिसमयोत्पन्नकार्यक्रियाकालं घटे लगयति, न च विवेचयति स्थूलमतित्वात्, एवं भवानपि स्थूलमतितया लोकव्यवहारपतितः सन् न किमपि विचारयति, आह च—"पइसमयकज्जकोडीनिरविक्खो घडगयाभिलासोऽसि । पइसमयकज्जकालं थूलमइ ! घडंमि लाएसि ॥१॥ (४२३ वि०)" एवमत्रापि श्रवणादीनि प्रतिसमयभावीनि परस्परविलक्षणानि कार्याणि, ततो न तत्काले सम्यक्त्वोत्पादो ज्ञानोत्पादो वाऽन्यारम्भेऽन्यस्योत्पादाभावात्, यस्मिंस्तु समये सम्यक्त्वोत्पादारम्भो ज्ञानारम्भो वा तस्मिन् समये तदुत्पद्यत एवेति । सम्यक्त्वद्वारे व्यवहारनयमतेन सम्यग्दृष्टिराभिनिबोधिकज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्न एव, नतु प्रतिपद्यमानकः, सम्यक्त्वज्ञानयोर्युगपल्लाभात्, तत्काले च क्रियाया अभावात्, तदभावे च प्रतिपद्यमानकत्वायोगादिति, निश्चयनयमतेन तु सम्यग्दृष्टिराभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्यमानकश्च लभ्यते, क्रियायाः कार्यनिष्ठायाश्च युगपद्भावाद्, एतच्च प्रागेव समर्थितमिति, ज्ञानद्वारे मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात् पञ्चधा ज्ञानं,

निश्चयन व्यवहारान्त ज्ञानलाभः

॥ ४१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

तत्रापि **व्यवहारनिश्चयनयाभ्यां** विचारः, तत्र व्यवहारनयमतेन मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनः आभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्ना एव, नतु प्रतिपद्यमानकाः, न ह्येतन्मतेन ज्ञानी सन् मतिज्ञानं प्रतिपद्यते किन्त्वज्ञानी इति, केवली न तु पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, तस्य क्षायोपशमिकज्ञानातीतत्वात्, तथा मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानवन्तस्तु कदाचिद्विवक्षितकाले प्रतिपद्यमानका भवन्ति, न तु पूर्वप्रतिपन्नाः, निश्चयनयमतेन तु मतिश्रुतावधिज्ञानिनः पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानका अपि सम्भवन्ति, सम्यग्दर्शनलाभसमय एव मत्यादिलाभस्य सम्भवात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्चाभेदात्, मनःपर्यायज्ञानिनस्तु पूर्वप्रतिपन्ना एव, न प्रतिपद्यमानकाः, पूर्वं सम्यक्त्वलाभकाले प्रतिपन्नमतिज्ञानस्यैव पश्चात् सत्यवस्थायां मनःपर्यायज्ञानसद्भावात्, केवलिनां तूभयाभावः, मत्यादिज्ञानव्यवच्छेदेन केवलज्ञानभावात्, मत्याद्यज्ञानवन्तस्तु न पूर्वप्रतिपन्ना, नापि प्रतिपद्यमानकाः, प्रतिपत्तिक्रियाकाले मत्याद्यज्ञानाभावात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्, अज्ञानभावे च प्रतिपत्तिक्रियाया अभावात्, दर्शनद्वारे चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदात् दर्शनं चतुर्धा, तत्राद्यदर्शनत्रये लब्धिमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः प्राप्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः, तदुपयोगं त्वाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्ना एव, न तु प्रतिपद्यमानकाः, मतिज्ञानस्य लब्धित्वात्, लब्ध्युत्पत्तेश्च दर्शनोपयोगे निषिद्धत्वात्, 'सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स उववज्जंति' इति वचनात्, केवलदर्शनिनां तूभयाभावः, देशदर्शनव्यवच्छेदेन केवलज्ञानदर्शनभावात्, संयतद्वारे संयत आभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो नियमाल्लभ्यते, प्रतिपद्यमानको भजनया, ननु सम्यक्त्वलाभावस्थायामेव मतिज्ञानस्य प्रतिपन्नत्वात् संयतः कथं प्रतिपद्यमानकोऽवाप्यते ?, सत्यमेतत्, केवलं योऽतिवि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** निश्चय एवं व्यवहार-मतेन मति आदि ज्ञानानां लाभ-अलाभस्य वर्णनं

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घाते ॥ ४२ ॥

शुद्धत्वात् सम्यक्त्वं चारित्रं च युगपत्प्रतिपद्यते स तस्यामवस्थायां प्रतिपद्यमानस्य संयमस्याप्रतिपन्नत्वात् संयतः आभिनिबोधिकज्ञानस्य प्रतिपद्यमानको भवति, उक्तं चास्यैव मूलावश्यकचूर्णौ–'नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणं तु भणियव्वं' भजनामेवाह–'सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं च सम्मत्तं,' उपयोगद्वारे उपयोगो द्विधा–साकारोऽनाकारश्च, तत्र पञ्च ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि साकारः, चत्वारि दर्शनानि अनाकारः, तत्र साकारोपयोगे पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु विवक्षितकाले भाज्याः, अनाकारोपयोगे तु पूर्वप्रतिपन्ना एव, नतु प्रतिपद्यमानकाः, अनाकारोपयोगे लब्ध्युत्पत्तेरभावात्, आहारद्वारे आहारकाः पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानास्तु विकल्पनीयाः, विवक्षितकाले अनाहारका अपान्तरालगतौ पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु न भवन्त्येव, अधुना भाषकद्वारम्–तत्र भाषालब्धिसम्पन्ना भाषकाः, ते भाषमाणा अभाषमाणा वा पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु विवक्षितकाले भजनीयाः, भाषालब्धिशून्याश्चोभयविकलाः, ते ह्येकेन्द्रिया एव, तेषां चोभयाभावः प्राग्वत्। परीत्तद्वारे परीत्ताः–प्रत्येकशरीरिणः परीत्तीकृतसंसारा वा, परीत्तीकृतसंसारा नाम स्तोकावशेषसंसाराः, एते उभयेऽपि पूर्वप्रतिपन्नाः नियमतो लभ्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः, अपरीत्तास्तु साधारणशरीरिणोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तादप्युपरि संसारा वा, ते मिथ्यादृष्टित्वादुभयेऽप्युभयविकलाः। पर्याप्तकद्वारे षड्भिराहारादिभिः पर्याप्तिभिर्ये पर्याप्ताः ते पूर्वप्रतिपन्ना नियमतो विद्यन्ते, विवक्षितकाले प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः, अपर्याप्तकास्तु षट्पर्याप्त्यपेक्षया पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति, न त्वितरे। सूक्ष्मद्वारे सूक्ष्माः खलूभयविकलाः, बादरास्तु पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, इतरे तु विवक्षितकाले भाज्याः, अधुना संज्ञिद्वारं–तत्रेह

दर्शना दीति द्वाराणि

॥ ४२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

संज्ञिनो दीर्घकालिकोपदेशेन परिगृह्यन्ते, ते च पूर्वप्रतिपन्ना नियमतो लभ्यन्ते, इतरे तु भजनीयाः विवक्षिते काले, असंज्ञिनस्तु प्रतिपन्नाः सम्भवन्ति नत्वितरे इति । भव इति द्वारं, तत्र भवसिद्धिकाः संज्ञिवत्, अभवसिद्धिकास्तूभयशून्याः । चरमद्वारे चरमो भवो भविष्यति येषां ते अभेदोपचाराच्चरमाः, ते च पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु विवक्षितकाले भाज्याः, अचरमास्तूभयविकलाः, आभिनिबोधिकज्ञानमेतेषु गत्यादिमार्गणास्थानेषु मार्ग्यते, तच्च मार्गितमुक्तप्रकारेणेति ॥ साम्प्रतमाभिनिबोधिकजीवद्रव्यप्रमाणमुच्यते–तत्र प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य विवक्षितकाले कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्नेति, यदि भवन्ति तर्हि जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षतस्तु क्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणाः, पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतः क्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणाः उत्कर्षतस्तु तेभ्यो विशेषाधिकाः, उक्तं च– "खेत्तपलिओवमासंखभाग उक्कोसतो पवज्जेजा । पुव्वपवन्ना दोसुवि पलियासंखेज्जइमभागा ॥१॥" (वि०४२९) अत्र 'दोसुवि'त्ति द्वयोरपि पदयोर्जघन्यपदे उत्कृष्टपदे च, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकं द्रष्टव्यं, अन्यथोत्कृष्टपदत्वायोगात् ॥ इदानीं क्षेत्रद्वारम्–तत्र नानाजीवानङ्गीकृत्य सर्वेऽप्याभिनिबोधिकज्ञानिन एकत्र पिण्डिता लोकासङ्ख्येयभागमेव व्याप्नुवन्ति, आह च मूलटीकाकृत्–"सर्व एवाभिनिबोधिकज्ञानिनो लोकस्यासङ्ख्येयभागे वर्त्तते" इति, एकजीवस्त्विवलिकागत्या गच्छन्नूर्ध्वमनुत्तरसुरेषु सप्तसु चतुर्दशभागेषु रज्जुप्रमाणेषु वर्त्तते, तेभ्यो वाऽऽगच्छन्, अधस्तु षष्ठीं पृथिवीं गच्छन् ततो वा प्रत्यागच्छन् पञ्चसु चतुर्दशभागेषु, नातः परमधः क्षेत्रमस्ति, यस्मात् सम्यग्दृष्टेरधः सप्तमनरकगमनं प्रतिषिद्धं, षष्ठीमपि पृथिवीं यावत्सैद्धांतिकमतेन विराधितसम्यक्त्वो गृहीतेनापि क्षायोपशमिकेन सम्यक्त्वेन कश्चिदुत्पद्यते, तत उक्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

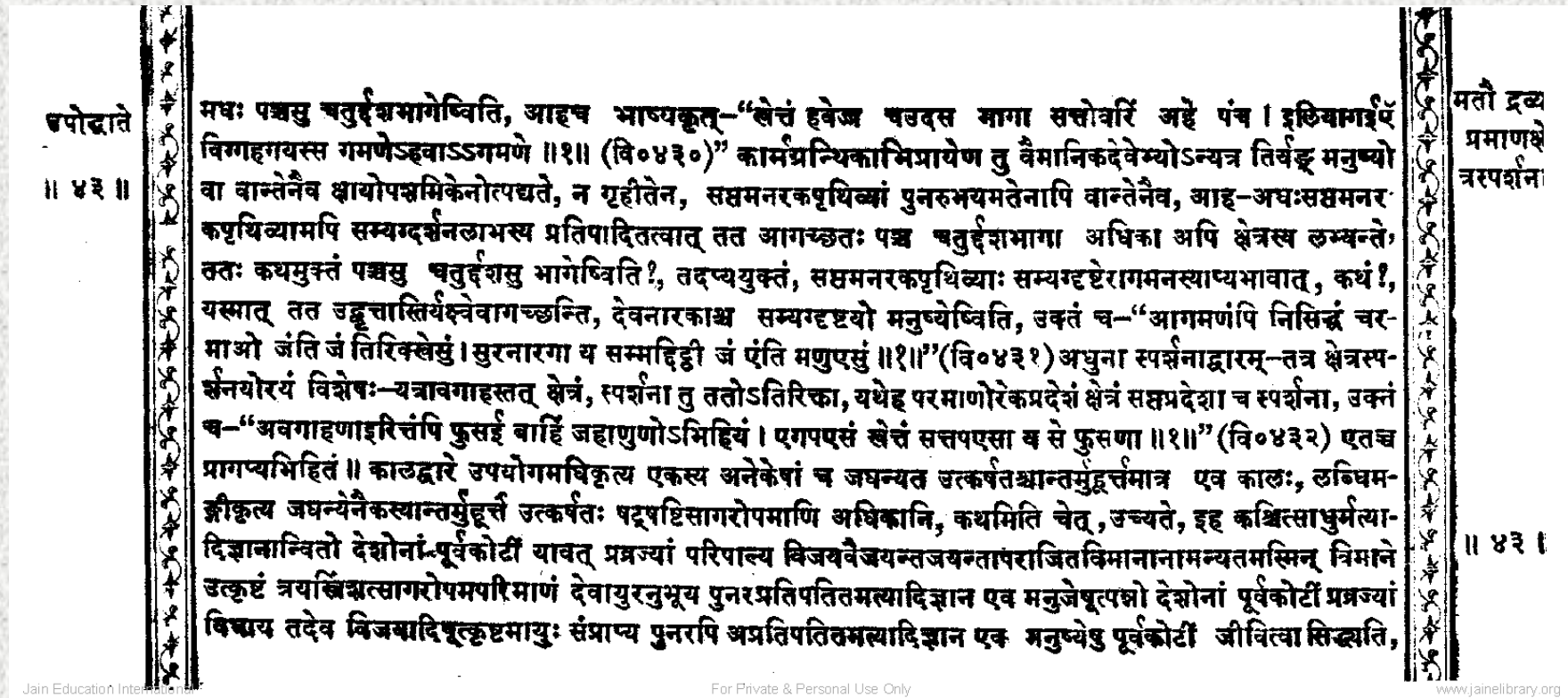

उपोद्घाते

॥ ४३ ॥

मध: पञ्चसु चतुर्दशभागेष्विति, आहच भाष्यकृत्–"खेत्तं हवेज्ज चउदस भागा सत्तोवरिं अहे पंच । इक्कियगईए विग्गहगयस्स गमणेऽहवाऽऽगमणे ॥१॥ (वि०४३०)" कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण तु वैमानिकदेवेभ्योऽन्यत्र तिर्यङ्मनुष्यो वा वान्तेनैव क्षायोपशमिकेनोत्पद्यते, न गृहीतेन, सप्तमनरकपृथिव्यां पुनरुभयमतेनापि वान्तेनैव, आह–अधःसप्तमनरकपृथिव्यामपि सम्यग्दर्शनलाभस्य प्रतिपादितत्वात् तत आगच्छतः पञ्च चतुर्दशभागा अधिका अपि क्षेत्रस्य लभ्यन्ते, ततः कथमुक्तं पञ्चसु चतुर्दशसु भागेष्विति?, तदप्ययुक्तं, सप्तमनरकपृथिव्याः सम्यग्दृष्टेरागमनस्याप्यभावात्, कथं?, यस्मात् तत उद्वृत्तास्तिर्यक्ष्वेवागच्छन्ति, देवनारकाश्च सम्यग्दृष्टयो मनुष्येष्विति, उक्तं च–"आगमणंपि निसिद्धं चरमाओ जंति जं तिरिक्खेसुं । सुरनारगा य सम्मद्दिट्ठी जं एंति मणुएसुं ॥१॥"(वि०४३१) अधुना स्पर्शनाद्वारम्–तत्र क्षेत्रस्पर्शनयोरयं विशेषः–यत्रावगाहस्तत् क्षेत्रं, स्पर्शना तु ततोऽतिरिक्ता, यथेह परमाणोरेकप्रदेशं क्षेत्रं सप्तप्रदेशा च स्पर्शना, उक्तं च–"अवगाहणाइरित्तंपि फुसई बाहिं जहाणुणोऽभिहियं । एगपएसं खेत्तं सत्तपएसा व से फुसणा ॥१॥" (वि०४३२) एतच्च प्रागप्यभिहितं ॥ कालद्वारे उपयोगमधिकृत्य एकस्य अनेकेषां च जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमात्र एव कालः, लब्धिमङ्गीकृत्य जघन्येनैकस्यान्तर्मुहूर्त्त उत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि अधिकानि, कथमिति चेत्, उच्यते, इह कश्चित्साधुर्मत्यादिज्ञानान्वितो देशोनां पूर्वकोटीं यावत् प्रव्रज्यां परिपाल्य विजयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानानामन्यतमस्मिन् विमाने उत्कृष्टं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिमाणं देवायुरनुभूय पुनरप्रतिपतितमत्यादिज्ञान एव मनुजेषूत्पन्नो देशोनां पूर्वकोटीं प्रव्रज्यां विधाय तदेव विजयादिषूत्कृष्टमायुः संप्राप्य पुनरपि अप्रतिपतितमत्यादिज्ञान एव मनुष्येषु पूर्वकोटीं जीवित्वा सिद्ध्यति,

मतौ द्रव्य प्रमाणक्षे त्रस्पर्शना

॥ ४३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

एवं विजयादिषु वारद्वयं मनुष्य, अथवा अच्युतदेवलोके द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकेषु देवेषु त्रीन् वारान् गतस्य तानि षट्षष्टिसागरोपमाणि अधिकानि भावनीयानि, अधिकं चेह नरभवसम्बन्धि पूर्वकोटित्रयं पूर्वकोटिचतुष्टयं वा द्रष्टव्यं, नानाजीवापेक्षया तु सर्वकालं, न खलु असौ कालोऽस्ति यत्राभिनिबोधिकलब्धिमत्शून्यो भवति लोक इति, उक्तं च-"लद्धीवि जहन्नेणं एगस्सेवं परा इमा होइ। अह सागरोवमाइं छासट्ठी साइरेगाइं ॥ १ ॥ दो वारे विजयाइसु गयस्स तिन्निऽच्चुए अहव ताइं। अइरेगं नरभवियं नाणाजीवाण सव्वद्धा॥२॥" (वि० ४३५-४३६) साम्प्रतमन्तरद्वारम्-तत्रैकजीवमधिकृत्याभिनिबोधिकज्ञानस्यान्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, कथमिति चेत्, उच्यते, इह यदा कश्चिज्जीवः सम्यक्त्वसहितं मतिज्ञानमवाप्य प्रतिपत्य चान्तर्मुहूर्त्तं मिथ्यात्वे स्थित्वा पुनरपि तदावरणकर्म्मक्षयोपशमात् सम्यक्त्वसहितं तदवाप्नोति तदा जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं मतिज्ञानस्य, उत्कर्षतस्त्वपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः, स चाशातनाप्रचुरस्यावसातव्यः, उक्तं च-"तित्थयरपवयणसुयं आयरियं गणहरं महड्ढियं। आसायंतो बहुसो अणंतसंसारिओ भणिओ॥१॥(वि०४३७)" नानाजीवानपेक्ष्यान्तराभावः, आभिनिबोधिकज्ञानिभिर्लोकस्य सर्वदैवाशून्यत्वात्, उक्तं च-"एगस्स जहन्नेणं अंतरमंतोमुहुत्तमुक्कोसं। पोग्गलपरियट्टं देसूणं दोसवहुलस्स ॥१॥ (वि०४३८) जमसुन्नं तेहिं ततो नाणाजीवाणमंतरं नत्थि।" भाग इति द्वारं, तत्र मतिज्ञानिनः शेषज्ञानिनामज्ञानिनां चानन्ततमे भागे वर्त्तते, शेषज्ञानिनो हि सिद्धकेवलिसहिता अज्ञानिनस्तु वनस्पतिसहिताः अनन्ताः, आभिनिबोधिकज्ञानिनस्तु सर्वलोकेऽप्यसङ्ख्याता एवेति, आह च-"मइनाणं सेसाणं जीवाणमणंतभागंमि"( ) ॥इति अथ भावद्वारं, तत्र मतिज्ञानिनः क्षायोपशमिके भावे वर्त्तन्ते, मत्यादिचतुष्टयस्य क्षायोपशमिकत्वात्॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घाते ॥ ४४ ॥

द्वारम्-तच्च आभिनिबोधिकज्ञानिनामेव पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानानां परस्परं द्रष्टव्यं, शेषज्ञान्यपेक्षया अल्पबहुत्वस्य भागद्वार एवान्तर्गतत्वात्, तत्र सद्भावे सति सर्वस्तोकाः प्रतिपद्यमानकाः तेभ्यः पूर्वप्रतिपन्ना जघन्यपदिनोऽसङ्खातगुणाः तेभ्योऽप्युत्कृष्टपदिनः पूर्वप्रतिपन्ना विशेषाधिका इति ॥ सम्प्रति यथाव्यावर्णितमतिभेदसङ्ख्याप्रदर्शनद्वारेणोपसंहरन्नाह-

आभिणिबोहियनाणे अट्ठावीसं हवंति पयडीओ ।

आभिनिबोधिकज्ञानेऽष्टाविंशतिर्भवन्ति प्रकृतयः, प्रकृतयो भेदाः इत्यनर्थान्तरं, कथमष्टाविंशतिः प्रकृतयो भवन्तीति चेत्, उच्यते, इह चतुर्द्धा व्यञ्जनावग्रहः, तस्य नयनमनोवर्जेन्द्रियसम्भवात्, अर्थावग्रहः षोढा, सर्वेन्द्रियमनस्सु तस्य सम्भवात्, एवं षोढा ईहा षोढा अपायः षोढा धारणा, सर्वसङ्कलनयाऽष्टाविंशतिर्भेदा, ननु प्रागेवावग्रहादिनिरूपणायां 'अत्थाणं ओग्गहण' मित्यादावेताः प्रकृतयः प्रदर्शिता एव किमर्थं पुनः प्रदर्श्यन्ते, नैष दोषः, तत्र हि सूत्रे न सङ्ख्यानियम उक्तः, इह तु सङ्ख्यानियमेन प्रतिपादनमित्यपौनरुक्त्यं ॥ इदं च मतिज्ञानं चतुर्विधम्, तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र च द्रव्यतः सामान्यादेशेन मतिज्ञानी सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति न विशेषादेशेन, किमुक्तं भवति?-सामान्यप्रकारेण असङ्ख्येयप्रदेशात्मको लोकव्यापी अमूर्त्तः प्राणिनां पुद्गलानां च गतिपरिणामपरिणतानां गत्युपष्टम्भहेतुर्धर्मास्तिकायः असङ्ख्येयप्रदेशात्मक एव लोकव्यापी अमूर्त्तः प्राणिपुद्गलानां स्थितिपरिणामपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भहेतुरधर्मास्तिकायः अनन्तप्रदेशात्मको लोकालोकव्यापी अमूर्त्तोऽवकाशदानहेतुराकाशास्तिकाय इत्यादिरूपेण षडपि द्रव्याण्यवबुध्यते न तु सर्वविशेषैः, सर्वपर्यायाणां केवलिगम्यत्वात्, उक्तं च-"तं पुण

गतौ कालान्तरभावाः ॥ ४४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ आभिनिबोधज्ञानस्य २८ प्रकृतय: वर्णनं

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

चउविहं नेयभेदतो तेण जं तदुवउत्तो। आएसेणं सव्वं दव्वाइ चउविहं मुणइ ॥ १ ॥ आएसोत्ति पगारो ओघादेसेण सव्वदव्वाइं। धम्मत्थियाइयाइं जाणइ न उ सव्वभेदेणं ॥ २ ॥" (वि०४०२-४०३) एवं सामान्यादेशेन मतिज्ञानी क्षेत्रतो लोकालोकं जानाति कालतः सर्वकालं, इह यद्यपि क्षेत्रकालौ सामान्येन द्रव्यान्तर्गतौ तथापि निवासमात्रपर्यायमधिकृत्य क्षेत्रं वर्त्तनादिरूपतामधिकृत्य कालो भेदेन रूढ इति पृथगुपादानम्, भावत औदयिकादीन् पञ्च भावान्, उक्तं च- "खेत्तं लोगालोगं, कालं सव्वद्धमहव तिविहंपि। पंचोदइयाईए भावे जं नेयमेवइयं ॥ १ ॥" (वि०४०४) तदेवमुक्तं मतिज्ञानम्, साम्प्रतमवसरप्राप्तं श्रुतज्ञानमतस्तत्प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

सुयणाणे पयडीओ वित्थरतो आवि वोच्छामि ॥ १६ ॥

श्रुतज्ञानं- पूर्वव्युत्पादितशब्दं तस्मिन् प्रकृतयो- भेदास्ताः 'विस्तरतः' प्रपञ्चेन चशब्दात् सङ्क्षेपतश्च, अपिशब्दः सम्भावने स चैतत् सम्भावयति-तदनन्तरं-अवधिप्रकृतीश्च वक्ष्ये-अभिधास्ये। सम्प्रति ता एव श्रुतप्रकृतीर्दर्शयति—

पत्तेयमक्खराइं अक्खरसंजोग जत्तिया लोए। एवइया सुयनाणे पयडीओ होंति नायव्वा ॥ १७ ॥

एकमेकं प्रति प्रत्येकमक्षराणि-अकारादीनि अनेकानेकभेदानि, तद्यथा-अकारः सानुनासिको निरनुनासिकश्च, पुनरेकैकस्त्रिधा-उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति षोढा अकारः, एवमाकारः प्लुतश्चत्येष्टादशावर्णभेदाः, एवमिवर्णादिष्वपि यथासम्भवं भेदजातमभिधानीयं, तथा अक्षराणां संयोगा अक्षरसंयोगा द्व्यादयो यावन्तो लोके यथा घटः पट इत्यादि व्याघ्रः स्त्री इत्यादि, एते चानन्ताः, ननु सङ्ख्येयानि अकारादीन्यक्षराणि ततस्तेषां संयोगा अपि सङ्ख्येया एव घटन्ते कथमनन्ता इति ?,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ श्रुतज्ञानस्य प्रकृतय: वर्णनं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उच्यते, इह पुद्गलास्तिकायादिकमभिधेयं, पुद्गलास्तिकायादिकं च परस्परविलक्षणमनन्तं च; तद्यथा—परमाणुर्द्विप्रदेशिकस्त्रिप्रदेशिको यावदनन्ताणुक इत्यादि, अभिधेयभेदे चाभिधानस्यापि भेदः, अभिधानभेदस्याभिधेयभेदहेतुकत्वात्, एकत्रापि चाभिधेयेऽभिधेयधर्मभेदतोऽनेकाभिधानप्रवृत्तिर्यथा परमाणुर्निरंशो निरवयवो निष्प्रदेशो निर्भेदः, तथा द्व्यणुको द्व्यंशो द्विप्रदेशो द्विभेदो द्व्यवयव इत्यादि, न चैते ध्वनयः सर्वथैकाभिधेयवाचकाः सर्वशब्दानां भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, एवं सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च यथायोगं भावनीयं, ततो भवन्त्यनन्ता अक्षरसंयोगाः, 'एतावत्यः'इयत्परिमाणाः प्रकृतयः श्रुतज्ञाने भवन्ति ज्ञातव्याः ॥ सम्प्रति सामान्यरूपतयोपदर्शितानामनन्तानां श्रुतज्ञानप्रकृतीनां यथावद्भेदेन प्रतिपादनसामर्थ्यमात्मनः खलु अपश्यन्नाह—[ग्रं० २०००]

"कत्तो मे वण्णेउं सत्ती सुयनाणसव्वपयडीओ। चोद्दसविहनिक्खेवं सुयनाणे आवि वोच्छामि ॥ १८ ॥"

कुतो मे—मम वर्णयितुं—प्रतिपादयितुं शक्तिः—सामर्थ्यं?, नैवेत्यर्थः, काः?—'श्रुतज्ञानसर्वप्रकृतीः' प्रकृतयो—भेदाः सर्वाश्च ताः प्रकृतयश्च सर्वप्रकृतयः श्रुतज्ञानस्य सर्वप्रकृतयः श्रुतज्ञानसर्वप्रकृतयस्ताः, कथं न शक्तिरिति चेत्, उच्यते, इह ये ग्रन्थानुसारिणो मतिविशेषास्तेऽपि श्रुतमिति प्रतिपादिताः, उक्तं च—'तेविय मईविसेसा सुयनाणब्भंतरे जाण।'( ) तांश्चोत्कृष्टश्रुतधरोऽप्यभिलाप्यानपि न सर्वान् भाषितुं समर्थः, तेषामनन्तत्वादायुषः परिमितत्वाद्वाचः क्रमवर्त्तित्वाच्च, आह च भाष्यकृत्—"जावंतो वयणपहा सुआणुसारेण केइ लब्भंति। ते सव्वे सुअनाणं भेआणंता मइविसेसा ॥ १॥(वि० २२६५) उक्कोसवसुअनाणी विजाणमाणोवि तेऽभिलप्पेऽवि। न तरइ सव्वे वोत्तुं न पहुप्पइ जेण कालो से ॥ २॥ (वि०१४२३)" ततोऽ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्तितस्माच्चतुर्दशविधनिक्षेपं, निक्षेपणं निक्षेपो–नामादिन्यासः चतुर्दशविधश्चासौ निक्षेपश्च चतुर्दशविधनिक्षेपः तं, 'श्रुतज्ञाने' श्रुतज्ञानविषयं, चशब्दात् श्रुताज्ञानविषयमपिशब्दादुभयविषयं च, तत् श्रुतज्ञानं–सम्यक्श्रुते श्रुताज्ञाने–असंज्ञिमिथ्याश्रुते उभयश्रुते–दर्शनविशेषपरिग्रहादक्षरानक्षरादिरूपे वक्ष्ये–अभिधास्ये, उक्तं च—"नाणंमि सुए चोद्दसविहं पसद्देण तहय अन्नाणे । अविसेसेणुभयंमिवि किंचि जहासंभवं वोच्छं ॥ १ ॥" (वि०४५३) सम्प्रति चतुर्दशविधश्रुतनिक्षेपस्वरूपोपदर्शनार्थमाह—

"अक्खर सण्णी सम्मं साईयं खलु सपज्जवसियं च । गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥ १९ ॥"

अक्षरादीनि सप्त द्वाराणि अनक्षरादिप्रतिपक्षसहितानि चतुर्दश भवन्ति, सर्वत्र च 'सूचनात् सूत्र'मितिकृत्वा श्रुतशब्दो द्रष्टव्यः, अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतमित्यादि, तत्र अक्षरमिति 'क्षर सञ्चलने' न क्षरतीत्यक्षरं, तच्च ज्ञानं–चेतना, न खल्विदमनुपयोगेऽपि प्रच्यवते ततोऽक्षरमिति भावः, इत्थंभूतभावाक्षरकारणत्वादकारादिकमप्यक्षरमभिधीयते, कारणे कार्योपचारात्, अथवा अर्थान् क्षरति न च क्षयमुपयातीत्यक्षरं, तच्च समासतस्त्रिविधं, तद्यथा—संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं लब्ध्यक्षरं चेति, तत्र संज्ञाक्षरमक्षराकारविशेषः, यथा घटिकासंस्थानो धकारः, कुरुटिसंस्थानश्चकार इत्यादि, तच्च ब्राह्मयादिलिपीविधानादनेकविधं, तथा व्यञ्जनाक्षरं–व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं, व्यञ्जनं च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरं, तच्चेह सर्वमेव भाष्यमाणमकारादि हकारान्तं, अर्थाभिव्यञ्जकत्वात्, तथा योऽक्षरोपलम्भस्तल्लब्ध्यक्षरं, तच्च इन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुतग्रन्थानुसारि ज्ञानं तदावरणक्षयोपशमो वा, तत्र संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं च द्रव्याक्षरं, श्रुतज्ञानाख्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

भावाक्षरकारणत्वात्, लब्ध्यक्षरं तु भावाक्षरं विज्ञानात्मकत्वात्, अक्षरं च तत् श्रुतं च अक्षरश्रुतं ॥ उक्तमक्षरश्रुतम् । इदानीमनक्षरश्रुतस्वरूपमभिधित्सुराह—

"ऊससियं नीससियं निच्छूढं खासियं च छीयं च । निस्सिंघियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं ॥ २० ॥"

उच्छ्वसनमुच्छ्वसितं, भावे क्तप्रत्ययः, तथा निःश्वसनं निःश्वसितं निष्ठीवनं निष्ठ्यूतं कासनं कासितं, चशब्दः समुच्चयार्थः, क्षवणं क्षुतं, चशब्दः समुच्चयार्थ एव, अस्य च व्यवहितः सम्बन्धः सेण्टितादि चानक्षरश्रुतमिति, निस्संघनं निस्सिंघितं, अनुस्वारवत् अनुस्वारं, 'अभ्रादिभ्य' इति मत्वर्थीयात्प्रत्ययविधानादनक्षरमपि यदनुस्वारवत् उच्चार्यते तदनक्षरमनुस्वारमिति भावार्थः, एतदुच्छ्वसिताद्यनक्षरं—अनक्षरश्रुतं, न केवलमेतत्, किन्तु सेण्टनं सिण्टितं एतदादि चानक्षरश्रुतमिति ॥ इह उच्छ्वसितादि द्रव्यश्रुतमात्रं, ध्वनिमात्रत्वात्, अथवा श्रुतविज्ञानोपयुक्तस्य जन्तोः सर्व एव व्यापारः श्रुतं, तस्य तद्भावेन परिणतत्वात्, यद्येवं तर्हि किमिति करचरणादिचेष्टापि श्रुतमिति न व्यवह्रियते ?, येनोच्छ्वसिताद्येवोक्तमिति, उच्यते, रूढिवशात्, तथाहि—उच्छ्वसिताद्येव श्रुतमिति व्यवहारमवतीर्णं, तस्य श्रूयमाणत्वात्, न करादिचेष्टा, तस्याः श्रवणपथातीतत्वात्, अनुस्वारादयस्त्वकारादिवर्णा इवार्थस्याधिगमका इति निर्विवादमेव ते श्रुतं, आह च भाष्यकृत्—"ऊससियाई दव्वसुयमेत्तमहवा सुतोवउत्तस्स । सद्दोच्चिय वावारो सुयमिह तो किं न चेट्ठावि ? ॥१॥ रूढीएँ तं सुयं सुवइत्ति चेट्ठा न सुवइ कयावि । अहिगमगा वण्णा इव जमणुस्सारादयो तेणं ॥२॥"(वि०५०२–५०३)

उक्तमनक्षरश्रुतद्वारं, इदानीं संज्ञिद्वारम्—अथ संज्ञीति कः शब्दार्थः ?, उच्यते, संज्ञानं संज्ञा, सा अस्यास्तीति संज्ञी, ननु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि संज्ञासम्बन्धमात्रेण संज्ञी तत एकेन्द्रिया अपि संज्ञिनः प्राप्नुवन्ति, तेषामप्याहारादिसंज्ञासद्भावात्, तथा च प्रज्ञापना-सूत्रम्—"एगिंदियाणं भंते ! कइविहा सण्णा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दसविहा पन्नत्ता, तंजहा—आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा कोहसण्णा माणसण्णा मायासण्णा लोभसण्णा ओहसण्णा लोगसण्णा" इति, सत्यमेतत्, केवलमेतासु संज्ञासु मध्ये या ओघसंज्ञा लोकसंज्ञा वा साऽतिस्तोका, ततो न तत्सम्बन्धमात्रेण संज्ञीति व्यपदेष्टुं शक्यः, न खलु कार्षापणधनमात्रेण लोके धनवानित्युच्यते, या त्वाहारभयपरिग्रहमैथुनादिका संज्ञा सा भूयस्यपि मोहनीयोदयप्रभवत्वेन न विशिष्टा, न चाविशिष्टया संज्ञया संज्ञीत्यभिधातुं शक्यं, न ह्यविशिष्टेन मूर्त्तिमात्रेण लोके रूपवानिति व्यवहारः, ततो या महती शोभना च ज्ञानावरणकर्म्मक्षयोपशमजन्या मनोज्ञानरूपा संज्ञा तयैव संज्ञीति व्यपदिश्यते, उक्तं च—"जइ सण्णासंबंधेण सण्णिणो तेण सण्णिणो सव्वे। एगिंदियाइयाणवि जं सण्णा दसविहा भणिया ॥ १ ॥ थोवा न सोहणावि य जं सा तो नाहिकीरए इहइं। करिसावणे न धणवं न रूववं मुत्तिमित्तेणं ॥ २ ॥ जह वहुदव्वो धणवं पसत्थरूवो य रूववं होइ। महतीए सोहणाए य तह सण्णी नाणसण्णाए ॥ ३॥" (वि०५०५–५०७) स च संज्ञी त्रिविधस्तद्यथा—दीर्घकालिकोपदेशेन हेतुवादोपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन च, तत्र यया संज्ञया सुदीर्घमपि कालमतीतमर्थं स्मरति एष्यन्तं च चिन्तयति, यथा—कथं नु नाम मया कर्त्तव्यमिति, स दीर्घकालिकोपदेशेन संज्ञी, दीर्घः कालो दीर्घकालः सोऽस्यास्तीति दीर्घकालिकः स चासावुपदेशश्च, उपदेशो भणनं, दीर्घकालिकोपदेशस्तेन, एष च दीर्घकालिकोपदेशेन संज्ञी मनोज्ञानावरणकर्म्मक्षयोपशमवशान्मनोलब्धिसम्पन्नोऽनन्तान् मनोयोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा मनस्त्वेन परिण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्य मन्यते चिन्तनीयं वस्तुजातं, तेनासौ गर्भजस्तिर्यग्मनुष्यो वा देवो नारको वा द्रष्टव्यो, न शेष एकेन्द्रियादिः, विशिष्टमनोलब्धिविकलत्वात्, तथा च सति दीर्घकालिकोपदेशेनासंज्ञी एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियादिश्च प्रतिपत्तव्यः, हेतुर्निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरं तस्य वदनं वादः तद्विषय उपदेशः—प्ररूपणं हेतुवादोपदेशस्तेन संज्ञी, यो बुद्धिपूर्वकं स्वदेहपरिपालनाय इष्टेष्वाहारादिषु प्रवर्त्तते अनिष्टेभ्यस्तु निवर्त्तते, स च द्वीन्द्रियादिरपि वेदितव्यः, तस्यापि मनःसञ्चिन्तनपूर्वकमिष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्, केवलमस्य मनसा चिन्तनं प्रायो वर्त्तमानकालविषयं, न भूतभविष्यद्विषयमल्पमनोलब्धिसम्पन्नत्वात्, ततो न दीर्घकालिकोपदेशेन संज्ञी लभ्यते, एतन्मतेनासंज्ञिन एकेन्द्रिया एव द्रष्टव्याः, उक्तं च—"जे पुण सचिंतेउं इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थुसुं। वत्तंति नियत्तंति य सदेहपरिपालणाहेउं ॥ १ ॥ पाएण संपइच्चिय कालंमि तया ण दीहकालण्णू। ते हेउवायसण्णी निच्चिट्ठा होंति उ असण्णी ॥२॥" (वि०५१५-५१६) तथा दृष्टिः दर्शनं—सम्यक्त्वादि तस्य वदनं वादः तद्विषय उपदेशः—प्ररूपणं तेन संज्ञी—सम्यग्दृष्टिस्तस्य संज्ञा ज्ञानावरणक्षयोपशमभावात्, असंज्ञी मिथ्यादृष्टिः, उक्तं च—"सम्मद्दिट्ठी सण्णी संते नाणे खओवसमियंमि। अस्सण्णी मिच्छत्तं दिट्ठीवायोवएसेणं ॥१॥(वि०५१७)" ततश्च संज्ञिनः श्रुतं संज्ञिश्रुतं, तथा असंज्ञिनः श्रुतमसंज्ञिश्रुतं, तथा सम्यक् श्रुतं—अङ्गानङ्गप्रविष्टमाचारावश्यकादि, तथा मिथ्याश्रुतं—पुराणरामायणभारतादि, सर्वमेव वा दर्शनपरिग्रहविशेषात्सम्यक्श्रुतं इतरद्वा; तथाहि—सम्यग्दृष्टौ सर्वमपि श्रुतं सम्यक्श्रुतं,हेयोपादेयशास्त्राणांहेयोपादेयतया परिज्ञानात्,मिथ्यादृष्टौ सर्वं मिथ्याश्रुतं विपर्ययात्॥ तथा सादिसपर्यवसितमनाद्यपर्यवसितं च नयानुसारतोऽवसेयं, तत्र द्रव्यास्तिकनयमतादेशेन अनाद्यपर्यवसितं धर्मास्तिका-

संज्ञिश्रुतादिभेदाः

॥ ४७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

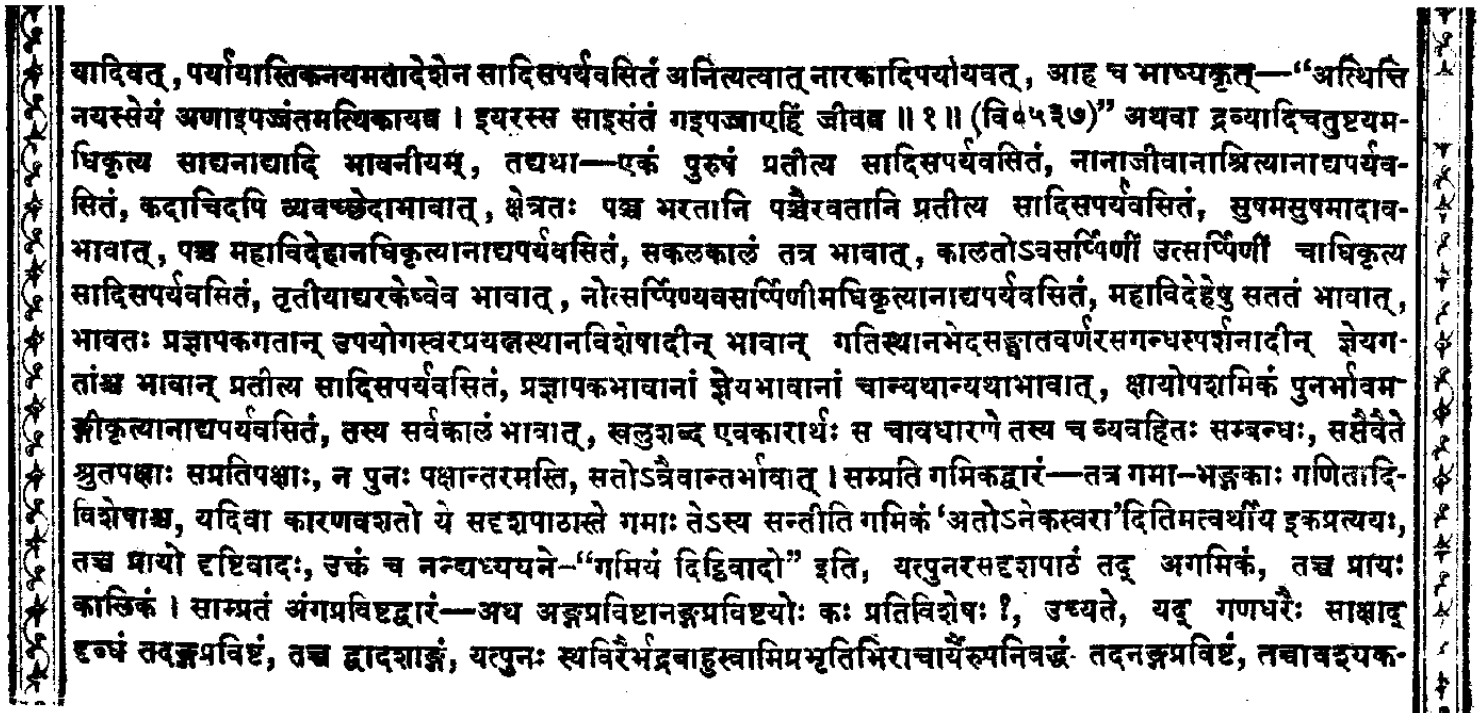

सादिवत्, पर्यायास्तिकनयमतादेशेन सादिसपर्यवसितं अनित्यत्वात् नारकादिपर्यायवत्, आह च भाष्यकृत्—"अत्थित्ति नयस्सेयं अणाइपज्जंतमत्थिकायव्व । इयरस्स साइसंतं गइपज्जाएहिं जीवव्व ॥ १ ॥ (वि०५३७)" अथवा द्रव्यादिचतुष्टयमधिकृत्य साद्यनाद्यादि भावनीयम्, तद्यथा—एकं पुरुषं प्रतीत्य सादिसपर्यवसितं, नानाजीवानाश्रित्यानाद्यपर्यवसितं, कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात्, क्षेत्रतः पञ्च भरतानि पञ्चैरवतानि प्रतीत्य सादिसपर्यवसितं, सुषमसुषमादिव्यवच्छेदाभावात्, पञ्च महाविदेहानधिकृत्यानाद्यपर्यवसितं, सकलकालं तत्र भावात्, कालतोऽवसर्पिणीं उत्सर्पिणीं चाधिकृत्य सादिसपर्यवसितं, तृतीयाद्यरकेष्वेव भावात्, नोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमधिकृत्यानाद्यपर्यवसितं, महाविदेहेषु सततं भावात्, भावतः प्रज्ञापकगतान् उपयोगस्वरप्रयत्नस्थानविशेषादीन् भावान् गतिस्थानभेदसङ्घातवर्णरसगन्धस्पर्शनादीन् ज्ञेयगतांश्च भावान् प्रतीत्य सादिसपर्यवसितं, प्रज्ञापकभावानां ज्ञेयभावानां चान्यथान्यथाभावात्, क्षायोपशमिकं पुनर्भावमङ्गीकृत्यानाद्यपर्यवसितं, तस्य सर्वकालं भावात्, खलुशब्द एवकारार्थः स चावधारणे तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः, सप्तैवैते श्रुतपक्षाः सम्प्रतिपक्षाः, न पुनः पक्षान्तरमस्ति, ततोऽत्रैवान्तर्भावात् । सम्प्रति गमिकद्वारं—तत्र गमा—भङ्गकाः गणितादिविशेषाश्च, यदिवा कारणवशतो ये सदृशपाठास्ते गमाः तेऽस्य सन्तीति गमिकं 'अतोऽनेकस्वरा'दितिमत्वर्थीय इकप्रत्ययः, तच्च प्रायो दृष्टिवादः, उक्तं च नन्द्यध्ययने—"गमियं दिट्ठिवाओ" इति, यत्पुनरसदृशपाठं तद् अगमिकं, तच्च प्रायः कालिकं । साम्प्रतं अंगप्रविष्टद्वारं—अथ अङ्गप्रविष्टानङ्गप्रविष्टयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते, यद् गणधरैः साक्षाद् दृब्धं तदङ्गप्रविष्टं, तच्च द्वादशाङ्गं, यत्पुनः स्थविरैर्भद्रबाहुस्वामिप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिबद्धं तदनङ्गप्रविष्टं, तच्चावश्यक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

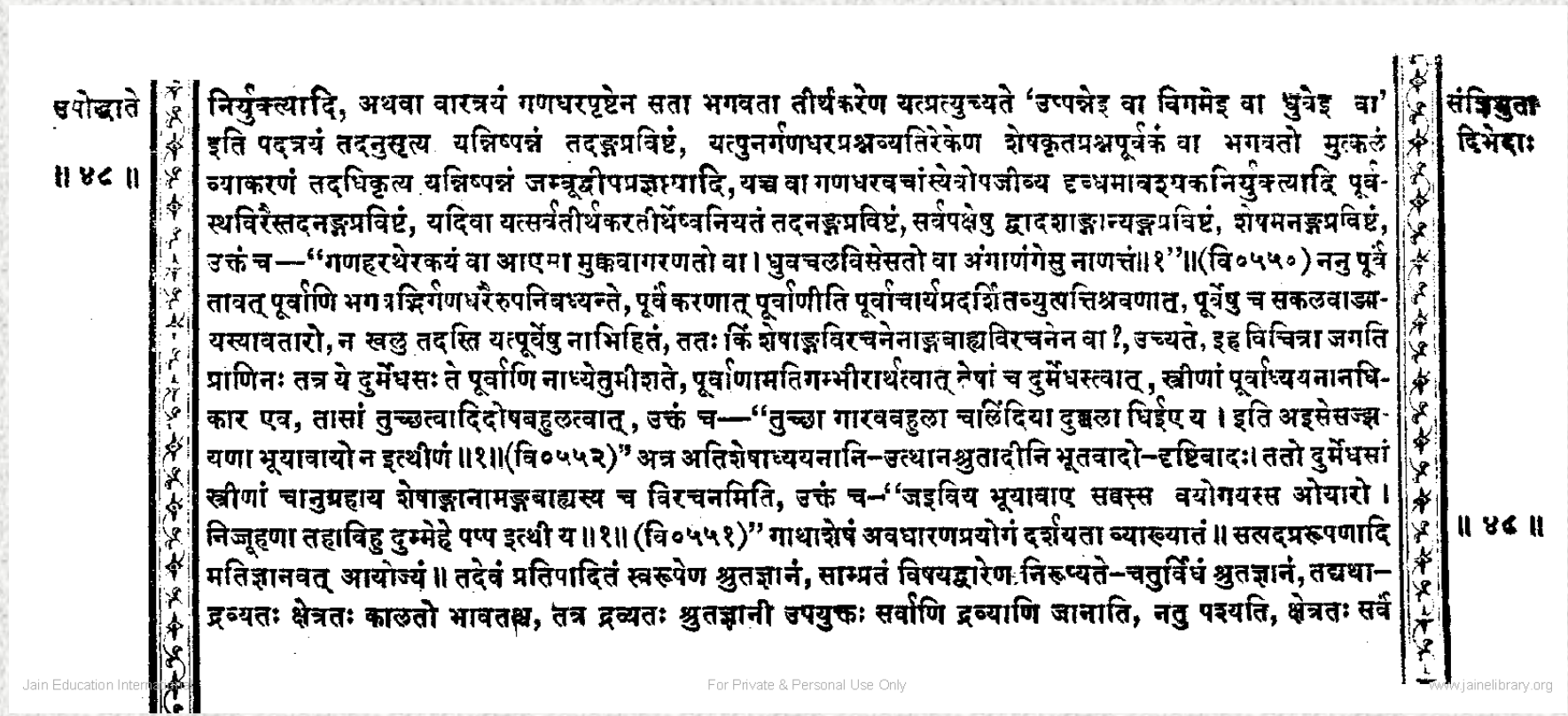

उपोद्घाते ॥ ४८ ॥

निर्युक्त्यादि, अथवा वारत्रयं गणधरपृष्टेन सता भगवता तीर्थकरेण यत्प्रत्युच्यते 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इति पदत्रयं तदनुसृत्य यन्निष्पन्नं तदङ्गप्रविष्टं, यत्पुनर्गणधरप्रश्नव्यतिरेकेण शेषकृतप्रश्नपूर्वकं वा भगवतो मुत्कलं व्याकरणं तदधिकृत्य यन्निष्पन्नं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादि, यच्च वा गणधरवचांस्येवोपजीव्य दृब्धमावश्यकनिर्युक्त्यादि पूर्वस्थविरैस्तदनङ्गप्रविष्टं, यदिवा यत्सर्वतीर्थकरतीर्थेष्वनियतं तदनङ्गप्रविष्टं, सर्वपक्षेषु द्वादशाङ्गान्यङ्गप्रविष्टं, शेषमनङ्गप्रविष्टं, उक्तं च—"गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणतो वा। ध्रुवचलविसेसतो वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥१"॥(वि०५५०) ननु पूर्वं तावत् पूर्वाणि भगवद्भिर्गणधरैरुपनिबध्यन्ते, पूर्वं करणात् पूर्वाणीति पूर्वाचार्यप्रदर्शितव्युत्पत्तिश्रवणात्, पूर्वेषु च सकलवाङ्मयस्यावतारो, न खलु तदस्ति यत्पूर्वेषु नाभिहितं, ततः किं शेषाङ्गविरचनेनाङ्गबाह्यविरचनेन वा?, उच्यते, इह विचित्रा जगति प्राणिनः तत्र ये दुर्मेधसः ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणामतिगम्भीरार्थत्वात् तेषां च दुर्मेधस्त्वात्, स्त्रीणां पूर्वाध्ययनानधिकार एव, तासां तुच्छत्वादिदोषबहुलत्वात्, उक्तं च—"तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए य। इति अइसेसज्झयणा भूयावाओ न इत्थीणं॥१॥(वि०५५२)" अत्र अतिशेषाध्ययनानि—उत्थानश्रुतादीनि भूतवादो—दृष्टिवादः। ततो दुर्मेधसां स्त्रीणां चानुग्रहाय शेषाङ्गानामङ्गबाह्यस्य च विरचनमिति, उक्तं च—"जइविय भूयावाए सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो। निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य॥१॥ (वि०५५१)" गाथाशेषं अवधारणप्रयोगं दर्शयता व्याख्यातं॥ सत्पदप्ररूपणादि मतिज्ञानवत् आयोज्यं॥ तदेवं प्रतिपादितं स्वरूपेण श्रुतज्ञानं, साम्प्रतं विषयद्वारेण निरूप्यते—चतुर्विधं श्रुतज्ञानं, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः श्रुतज्ञानी उपयुक्तः सर्वाणि द्रव्याणि जानाति, नतु पश्यति, क्षेत्रतः सर्व

संज्ञिश्रुतादिभेदाः ॥ ४८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आ. सू. ९

क्षेत्रं कालतः सर्वं कालं भावतः सर्वान् भावान्। इदं च श्रुतज्ञानं सर्वातिशयरत्नकल्पं प्रायो गुर्वधीनं च ततो विनेयजनानुग्रहार्थं यो यथा चास्य लाभस्तं तथाऽस्य दर्शयति—

"आगमसत्थग्गहणं जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं। बेंति सुयणाणलंभं तं पुव्वविसारया धीरा ॥ २१ ॥"

आ—अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणया गम्यंते—परिच्छिद्यंते अर्था येन स आगमः, 'पुंनाम्नी'तिकरणे घप्रत्ययः, स चैवंव्युत्पत्त्या अवधिकेवलादिरूपोऽपि प्राप्नोति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह—'शास्त्रे'ति शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रं आगमश्च तत् शास्त्रं च आगमशास्त्रं, आगमग्रहणेन षष्टितन्त्रादिकुशास्त्रव्यवच्छेदः, तेषां यथावस्थितार्थप्रकाशनाभावेनानागमत्वात्, आगमशास्त्रस्य ग्रहणमागमशास्त्रग्रहणं, यद् बुद्धिगुणैः वक्ष्यमाणैः करणभूतैरष्टभिर्दृष्टं तदेव ग्रहणं श्रुतज्ञानस्य लाभं ब्रुवते, पूर्वेषु विशारदाः पूर्वविशारदाः, विशारदा—विपश्चितः, धीराः—व्रतपालने स्थिराः, किमुक्तं भवति ?—यदेव जिनप्रणीतवचनार्थपरिज्ञानं तदेव परमार्थतः श्रुतज्ञानं, न शेषमिति ॥ बुद्धिगुणैरष्टभिरित्युक्तमतस्तानेव बुद्धिगुणानाह—

"सुस्सूसइ पडिपुच्छइ सुणेइ गिण्हइ य ईहए वावि। तत्तो अपोहए वा धारेइ करेइ वा सम्मं ॥ २२ ॥"

पूर्वं तावत् शुश्रूषते—विनययुक्तो गुरुवदनारविन्दान्निर्गच्छद्वचनं श्रोतुमिच्छति, ततः प्रतिपृच्छति यत्र शङ्कितं भवति तत्र भूयोऽपि विनयनम्रतया वचसा गुरुमनः प्रह्लादयन् पृच्छति, पृष्टे च सति यद्गुरुः कथयति तत् सम्यक्—व्याक्षेपपरिहारेण सावधानः शृणोति, श्रुत्वा चार्थरूपतया गृह्णाति, गृहीत्वा च ईहते—पूर्वापराविरोधेन पर्यालोचयति, चशब्दः समु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

क्षयार्थः, अपिशब्दः पर्यालोचयन् किञ्चित्स्वबुद्ध्याऽप्युत्प्रेक्षते इति सूचनार्थः, ततः—पर्यालोचनानन्तरमपोहते एवमेतत् यदादिष्टमाचार्येण नान्यथेत्यवधारयति, ततस्तमर्थं निश्चितं स्वचेतसि विस्मृत्यभावार्थं सम्यक् धारयति, करोति च सम्यक्—यथोक्तमनुष्ठानं, यथोक्तानुष्ठानमपि श्रुतज्ञानप्राप्तिहेतुः, तदावरणकर्मक्षयोपशमनिमित्तत्वात्, अथवा यद् यद् आज्ञापयति गुरुस्तत्तत्सम्यगनुग्रहं मन्यमानः श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते, पूर्वसन्दिष्टश्च सर्वकार्याणि कुर्वन् पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति, पुनरादिष्टः सम्यक् शृणोति, शेषं पूर्ववत् ॥ तदेवं व्याख्याता गुणाः, सम्प्रति यत् शुश्रूषते इत्युक्तं तत्र श्रवणविधिमाह—

"मूयं हुंकारं वा बाढक्कार पडिपुच्छ वीमंसा । तत्तो पसंग पारायणं च परिणिट्ठ सत्तमए ॥ २३ ॥"

'मूक'मिति प्रथमतो मूकं शृणुयात्, किमुक्तं भवति ?—प्रथमश्रवणे संयतगात्रस्तूष्णीमासीत, ततो द्वितीये श्रवणे हुङ्कारं दद्यात्, वन्दनं कुर्यादित्यर्थः, तृतीये बाढकारं कुर्यात्, बाढं—एवमेतत् नान्यथेति प्रशंसेदित्यर्थः, चतुर्थे श्रवणे गृहीतपूर्वापरसूत्राभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात्, कथमेतत् इति, पञ्चमे मीमांसां—प्रमाणजिज्ञासां कुर्यादिति भावः, षष्ठे श्रवणे तदुत्तरोत्तरगुणप्रसङ्गं पारगमनं चास्य भवति, ततो सप्तमे श्रवणे परिनिष्ठो, गुरुवदनुभाषते इत्यर्थः॥ एवं तावत् श्रवणविधिरुक्तः, सम्प्रति व्याख्यानविधिमभिधित्सुराह—

"सुत्तत्थो खलु पढमो बीओ निज्जुत्तिमीसितो भणितो । तइओ य निरवसेसो एस विही होइ अणुओगे २४"

प्रथमोऽनुयोगः सूत्रार्थः—सूत्रार्थप्रतिपादनपरः, खलु एवकारार्थः स चावधारणे, ततोऽयमर्थः—गुरुणा प्रथमोऽनु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगः सूत्राभिधानलक्षण एव कर्त्तव्यः, मा भूत् प्राथमिकविनेयानां मतिभेदः, द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिमिश्रितो भणितस्तीर्थकरगणधरैः, सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिसहितं द्वितीयमनुयोगं गुरुर्विदध्यादित्याख्यातं तीर्थकरगणधरैरिति भावः, तृतीयश्चानुयोगो निरवशेषः-प्रसक्तानुप्रसक्तप्रतिपादनलक्षण इति, 'एषः' उक्तलक्षणो विधिर्भवत्यनुयोगे-व्याख्यायां, आह-परिनिष्ठा सप्तमे इत्युक्तं त्रयश्चानुयोगप्रकारास्तदेतत्कथं ?, उच्यते, त्रयाणामनुयोगप्रकाराणामन्यतमेन केनचित्प्रकारेण भूयो भूयो भाव्यमानेन सप्तवारं श्रवणं कार्यते, ततो न कश्चिद्दोषः, अथवा कञ्चिन्मन्दमतिविनेयमधिकृत्य तदुक्तं द्रष्टव्यं, न पुनरेष एव सर्वत्र श्रवणविधिनियमः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृच्छ्रवणत एवाशेषग्रहणदर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन ॥ तदेवमुक्तं श्रुतज्ञानस्वरूपम्, सम्प्रति प्रागभिहितप्रस्तावमवधिज्ञानमुपदर्शयन्नाह—

"संखातीताओ खलु ओहीनाणस्स सव्वपयडीओ । काई भवपचइया खओवसमिया उ काओवि ॥ २५ ॥"

सङ्ख्यानं सङ्ख्या तामतीताः-अतिक्रान्ताः सङ्ख्यातीताः, असङ्ख्येया इत्यर्थः, तथा सङ्ख्यातीतमनन्तमपि भवति ततश्चानन्ता अपीति द्रष्टव्यं, तथा च खलुशब्दो विशेषणार्थः, स चैतत् विशिनष्टि-क्षेत्रकालाख्यप्रमेयापेक्षया सङ्ख्यातीता द्रव्यभावाख्यप्रमेयापेक्षया त्वनन्ता इति, अवधिज्ञानस्य-प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य प्रकृतयो-भेदाः सर्वाश्च ताः प्रकृतयश्च सर्वप्रकृतयः, इयमत्र भावना-इहावधेर्लोकक्षेत्रासङ्ख्येयभागादारभ्य प्रदेशवृद्ध्या असङ्ख्येयलोकपरिमाणमुत्कृष्टमालम्बनं तथा क्षेत्रमुक्तं, कालश्चावलिकाया असङ्ख्येयभागादारभ्य समयवृद्ध्या खल्वसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाण उक्तः, ज्ञेयभेदाच्च ज्ञानस्य भेद इति क्षेत्रकालावधिकृत्य संख्यातीतास्तत्प्रकृतयः, तथा तैजसवाग्द्रव्यापान्तरालवर्त्यनन्तप्रादेशिक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यादारभ्य विचित्रवृद्ध्या सर्वमूर्त्तद्रव्याण्युत्कृष्टं विषयपरिमाणं द्रव्यतः प्रतिवस्तुगतासङ्ख्येयपर्यायपरिमाणं विषयमानं भावतो, ज्ञेयभेदेनैव ज्ञानस्यापि भेद इति समस्तं पुद्गलास्तिकायं तत्पर्यायांश्चाङ्गीकृत्यानन्ता अवधेः प्रकृतयः, आसां च मध्ये काश्चनान्यतमाः प्रकृतयो 'भवप्रत्ययाः' भवन्ति कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो–नारकादिजन्म स पक्षिणां गगनगमनलब्धिरिवोत्पत्तौ प्रत्ययः–कारणं यासां ताः भवप्रत्ययाः, ताश्च नारकामराणामेव, काश्चन पुनरन्यतमाः 'गुणप्रत्ययाः' क्षयोपशमेन निर्वृत्ताः क्षायोपशमिकाः ताश्च तिर्यङ्मनुष्याणां, उक्तंच–"भवपच्चइया नारयसुराण पक्खीण वा नभोगमणं। गुणपरिणामनिमित्ता सेसाण खओवसमियाओ ॥१॥" (वि.५७२) ननु अवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे प्रतिपादितं, नारकादिभवस्त्वौदयिकः, ततः स कथं तासामवधिप्रकृतीनां प्रत्ययो भवितुमर्हति ?, नैष दोषः, तासामपि क्षयोपशमनिबन्धनत्वात्, केवलमसौ क्षयोपशमस्तस्मिन् नारकामरभवे सत्यवश्यंभावीति भवप्रत्यया उक्ता इत्युक्तं, आह च भाष्यकृत्–"ओही खओवसमिए भावे भणितो भवो तहोदइए । तो किह भवपच्चइओ वोत्तुं जुत्तोऽवही दोण्हं ? ॥ १ ॥ सोवि हु खओवसमिओ किं तु स एवक्खओवसमलाभो । तंमि सइ होअवस्सं भण्णइ भवपच्चओ तो सो ॥ २ ॥" (वि. ५७३–५७४) साम्प्रतं सामान्यरूपतयोद्दिष्टानामवधिप्रकृतीनां वाचः क्रमवर्त्तित्वादायुषश्चाल्पत्वात् यथावद्भेदेन तत्प्रतिपादनसामर्थ्यमात्मनोऽपश्यन्निर्युक्तिकृदाह—

"कत्तो मे वण्णेउं सत्ती ओहिस्स सव्वपयडीओ । चोद्दसविहनिक्खेवं इड्ढीपत्ते य वोच्छामि ॥ २६ ॥"

कुतो 'मे' मम वर्णयितुं शक्तिरवधेः सर्वप्रकृतीः?, नैव शक्तिरित्यर्थः, आयुषः परिमितत्वाद्वाचः क्रमवर्त्तित्वाच्च,

॥ ५० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

तथापि विनेयजनानुग्रहाय चतुर्दशविधनिक्षेपं अवधेः सम्बन्धिनमामर्षौषध्यादिलक्षणं ऋद्धिं प्राप्ताः ऋद्धिप्राप्तास्तांश्च, चशब्दः समुच्चये, वक्ष्ये–अभिधास्ये ॥ तत्र चतुर्दशविधनिक्षेपप्रतिपिपादयिषुस्तद्द्वारगाथाद्वयमाह—

"ओही खेत्त परिमाणे, संठाणे आणुगामिए । अवट्ठिए चले तिव्व–मंदपडिवाउप्पया इय ॥ २७ ॥
नाणदंसणविब्भंगे, देसे खित्ते गई इय । इड्ढीपत्ताणुओगे य, एमेया पडिवत्तीओ ॥ २८ ॥"

इह अवध्यादीनि गतिपर्यन्तानि चतुर्दश द्वाराणि, ऋद्धिस्तु चशब्दसमुच्चितत्वात् पञ्चदशं द्वारम्, तच्च चतुर्दशविधनिक्षेपवक्तव्यतानन्तरं पश्चाद्वक्ष्यते, अन्ये त्वाचार्या अवधिरित्येतत्पदं परित्यज्य आनुगामिकमनानुगामिकसहितमर्थतोऽभिगृह्य चतुर्दश द्वाराणि व्याचक्षते, वदन्ति च–यस्मान्नावधिः प्रकृतिः, किन्तु प्रकृतिमान्, प्रकृतीनां च चतुर्दशधा निक्षेप इति, पक्षद्वयेऽप्यविरोधः, तत्रावधिरिति अवधेर्नामादिभेदभिन्नस्य स्वरूपमभिधातव्यं, अवधिशब्दो द्विरावर्त्यते, अर्थवशाच्च विभक्तिपरिणाम इति १, जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नमवधेः क्षेत्रपरिमाणं वक्तव्यं २, तथा संस्थानमवधेर्वक्तव्यं ३, तथा अनुगमनशील आनुगामिकोऽवधिः सप्रतिपक्षो वक्तव्यः, एकारान्तता सर्वत्रापि प्रथमान्तस्य प्राकृतत्वात्, यथा–'कयरे आगच्छइ दित्तरूवे' इत्यादि ४, तथा द्रव्यादिषु कियन्तं कालमप्रतिपतितः सन् उपयोगतो लब्धितश्चावतिष्ठते इत्यवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः५, तथा वर्द्धमानतया क्षीयमाणतया च चलः–अनवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः ६, तथा तीव्रो मन्दो मध्यमश्चावधिर्वक्तव्यः, तत्र तीव्रो–विशुद्धः मन्दः–अविशुद्धः तीव्रमन्दस्तूभयप्रकृतिरिति ७, तथा द्रव्याद्यपेक्षया एककाले प्रतिपातोत्पादौ वक्तव्यौ ८, तथा ज्ञानदर्शनविभङ्गा वाच्याः, किमुक्तं भवति ?–किमत्र ज्ञानं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ अवधिज्ञानस्य प्रकृतय: वर्णनं क्रियते

उपोद्घाते ॥ ५१ ॥

किं वा दर्शनं को वा विभङ्गः?, परस्परतश्चामीषामल्पबहुत्वं च चिन्तनीयमिति ज्ञानदर्शनविभङ्गैर्द्वारत्रयमवसातव्यं ११, तथा 'देस'त्ति कस्य देशविषयः सर्वविषयो वाऽवधिर्भवतीति वक्तव्यं १२, तथा 'खेत्त'त्ति सम्बद्धासम्बद्धसङ्ख्येयासङ्ख्येयान्तरालक्षेत्रद्वारेण क्षेत्रविषयोऽवधिर्वक्तव्यः १३, 'गतिरिति चे'त्यत्र इतिशब्दो गणसंसूचको द्रष्टव्यः, 'इत्यादिबहुवचनानि गणस्य संसूचकानि भवन्ती'ति वचनात्, ततो 'गइ इंदिए य काए' इत्यादिद्वारकलापोऽवधेर्द्रष्टव्यः इत्युक्तं वेदितव्यं १४, तथा ऋद्धिप्राप्तानुयोगश्च वक्तव्यः, अनुयोगं–अन्वाख्यानं, एवं अनेन प्रकारेण एता–अनन्तरोक्ताः 'प्रतिपत्तयः' प्रतिपदनं प्रतिपत्तिः परिच्छित्तिरित्यर्थः अवधेः प्रकृतय एव प्रतिपत्तिहेतुत्वात् प्रतिपत्तय इत्युच्यते, अथवा प्रतिपद्यते—यथावदवगम्यते अवधिराभिः प्रकृतिभिरिति प्रतिपत्तयः, 'लाभादिभ्य'इति करणे क्तिप्रत्ययः ॥ साम्प्रतमनन्तरद्वारगाथाद्वयव्याचिख्यासया इदमाह—

"नामंठवणादविए खेत्ते काले भवे य भावे य। एसो खलु ओहिस्सा निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥ २९ ॥"

यस्य जीवस्याजीवस्य वाऽवधिरिति नाम क्रियते स नाम्ना नाममात्रेणावधिर्नामावधिः, यथा लोके मर्यादा अवधिरिति, स्थापनावधिरक्षादिः अवधिरेष इति न्यस्यमानः, अथवा अवधेरेव यदभिधानमवधिरिति तन्नामावधिर्नाम च तदवधिश्च नामावधिरिति व्युत्पत्तेः, स्थापनावधिर्यः खलु अवधेरालम्बनस्य द्रव्यस्य क्षेत्रस्य यदिवा स्वामिनः आकारविशेषः, स हि विषयविषयिणोरभेदोपचारादवधेः सम्बन्धी, आकारश्च स्थापना, 'स्थापनाऽऽकारविशेष' इति वचनात्, उक्तं च–"अहवा नामं तस्सेव जमभिहाणं सपज्जतस्सेव। ठवणाऽऽगारविसेसो तद्दवक्खेत्तसामीणं ॥१॥"(वि.५८३)अथ द्रव्यावधिरित्युच्यते–

क्षेत्रादीनि द्वाराणि निक्षेपाः २७–२९

॥ ५१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स द्विविधः-आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतोऽवधिपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तः, 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, नोआगमतस्त्रिविधस्तद्यथा-ज्ञशरीरद्रव्यावधिः भव्यशरीरद्रव्यावधिः ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यावधिश्च, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्रतीते, तृतीयस्तु साक्षात्सूत्रेणैवोपात्तः 'दविए'इति द्रव्यावधिर्द्रव्यालम्बन इत्यर्थः, अथवा सूत्रे प्रथमान्तस्याप्येकारान्तता, जिनवचनस्य च सर्वस्याप्यर्द्धमागधभाषात्वात्, ततो द्रव्यमेवावधिर्द्रव्यावधिः, कारणं द्रव्यमिति भावः, यदिवा उत्पद्यमानस्यावधेर्यदुपकारकं शरीरादि तदवधिकारणत्वात् द्रव्यावधिः, आह च-दव्वोही उप्पज्जइ जत्थ ततो जं च पासए तेण। जं वोवयारि दव्वं देहाइ तदुब्भवे होइ ॥१॥" (वि.५८४) तथा क्षेत्रेऽवधिः क्षेत्रावधिः, किमुक्तं भवति ?- यत्र क्षेत्रेऽवस्थितस्यावधिरुत्पद्यते यत्र वा क्षेत्रेऽवधिः प्रज्ञापकेन प्रकाश्यते यत्र वा क्षेत्रे स्वयोग्यानि द्रव्याण्यवधिः परिच्छिनत्ति स क्षेत्रस्याधारत्वेन प्राधान्यविवक्षया क्षेत्रे व्यपदिश्यते इति क्षेत्रेऽवधिः क्षेत्रावधिरित्युच्यते, एवं यत्र प्रथमपौरुष्यादौ कालेऽवधिरुत्पद्यते यत्र वा प्रज्ञापकेन प्ररूप्यते यस्मिन् वा काले स्वयोग्यानि द्रव्याणि परिच्छिनत्ति स कालस्य प्राधान्यविवक्षया कालेन व्यपदिश्यते, कालेनावधिः कालावधिः, अथ किमिति क्षेत्रकालावस्थितानि द्रव्याणि पश्यत्यसावित्युच्यते, न पुनः क्षेत्रकालावेव साक्षात्पश्यतीति ?, उच्यते, क्षेत्रकालयोरमूर्त्तत्वेन तदविषयत्वाद्, आह च भाष्यकृत्-"खेत्ते जत्थुप्पज्जइ कहिज्जए पेच्छए व दव्वाइं। एवं चेव य काले नउ पेच्छइ खेत्तकाले से ॥१॥"(वि.५८५) तथा भवन्ति तत्तत्कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः-नारकादिलक्षणः, 'तुदादिभ्यो नक्ष'वित्यधिकारे 'अकितौ चे'ति अप्रत्ययः, तस्मिन् भवे उत्पद्यते वर्त्तते प्रेक्षते वा योऽवधिः स भवावधिः, भावः-क्षायोपशमिकः द्रव्यपर्यायो वा तस्मिन्नवधिर्भा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

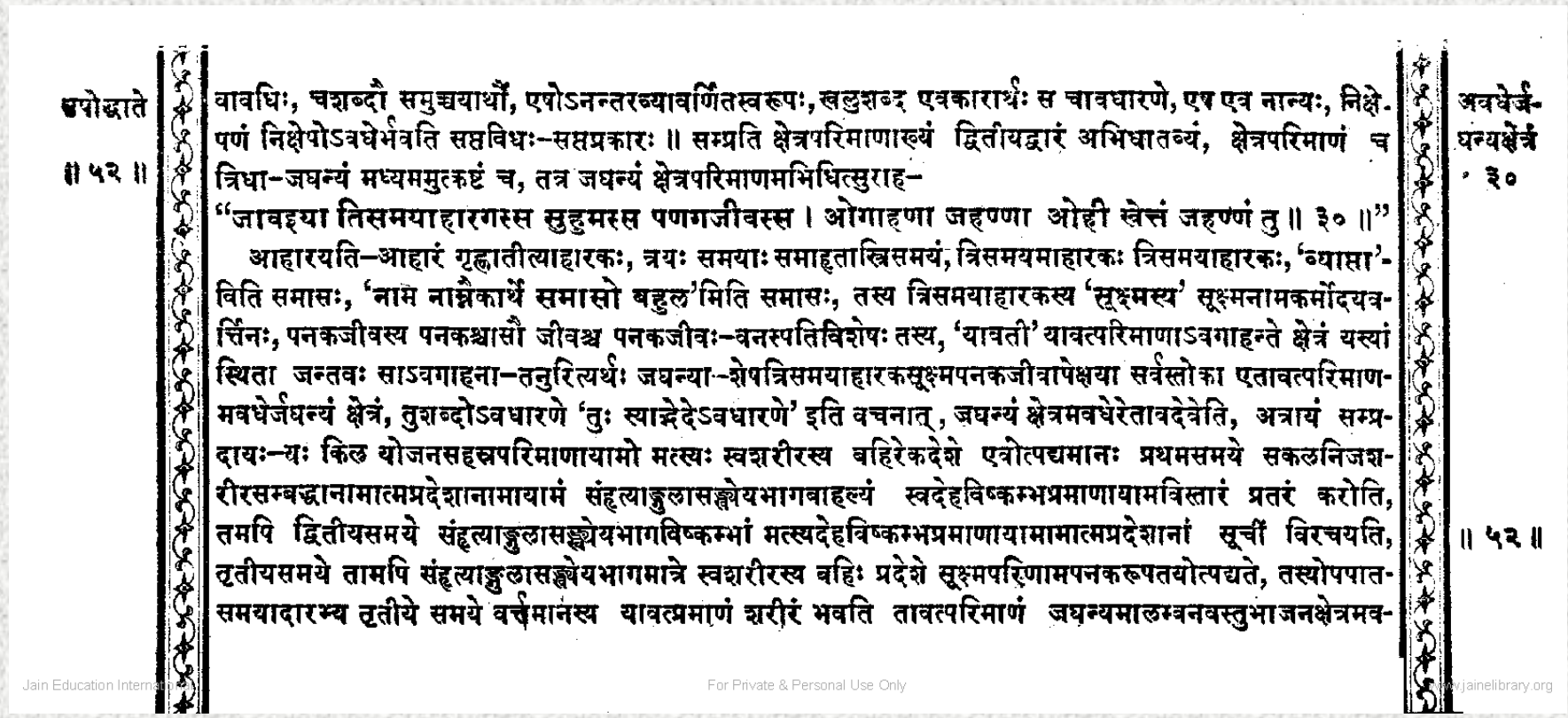

उपोद्घाते ॥ ५२ ॥

वावधिः, चशब्दौ समुच्चयार्थौ, एषोऽनन्तरव्यावर्णितस्वरूपः, खलुशब्द एवकारार्थः स चावधारणे, एष एव नान्यः, निक्षेपणं निक्षेपोऽवधेर्भवति सप्तविधः–सप्तप्रकारः ॥ सम्प्रति क्षेत्रपरिमाणाख्यं द्वितीयद्वारं अभिधातव्यं, क्षेत्रपरिमाणं च त्रिधा–जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च, तत्र जघन्यं क्षेत्रपरिमाणमभिधित्सुराह–

"जावइया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स । ओगाहणा जहण्णा ओही खेत्तं जहण्णं तु ॥ ३० ॥"

आहारयति–आहारं गृह्णातीत्याहारकः, त्रयः समयाः समाहृतास्त्रिसमयं, त्रिसमयमाहारकः त्रिसमयाहारकः, 'व्याप्ता'-वितिसमासः, 'नाम नाम्नैकार्थे समासो बहुल'मिति समासः, तस्य त्रिसमयाहारकस्य 'सूक्ष्मस्य' सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिनः, पनकजीवस्य पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवः–वनस्पतिविशेषः तस्य, 'यावती' यावत्परिमाणाऽवगाहन्ते क्षेत्रं यस्यां स्थिता जन्तवः साऽवगाहना–तनुरित्यर्थः जघन्या–शेषत्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकजीवापेक्षया सर्वस्तोका एतावत्परिमाणमवधेर्जघन्यं क्षेत्रं, तुशब्दोऽवधारणे 'तुः स्याद्भेदेऽवधारणे' इति वचनात्, जघन्यं क्षेत्रमवधेरेतावदेवेति, अत्रायं सम्प्रदायः–यः किल योजनसहस्रपरिमाणायामो मत्स्यः स्वशरीरस्य बहिरेकदेशे एवोत्पद्यमानः प्रथमसमये सकलनिजशरीरसम्बद्धानामात्मप्रदेशानामायामं संहृत्याङ्गुलासङ्ख्येयभागबाहल्यं स्वदेहविष्कम्भप्रमाणायामविस्तारं प्रतरं करोति, तमपि द्वितीयसमये संहृत्याङ्गुलासङ्ख्येयभागविष्कम्भां मत्स्यदेहविष्कम्भप्रमाणायामामात्मप्रदेशानां सूचीं विरचयति, तृतीयसमये तामपि संहृत्याङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रे स्वशरीरस्य बहिः प्रदेशे सूक्ष्मपरिणामपनकरूपतयोत्पद्यते, तस्योपपातसमयादारभ्य तृतीये समये वर्त्तमानस्य यावत्प्रमाणं शरीरं भवति तावत्परिमाणं जघन्यमालम्बनवस्तुभाजनक्षेत्रमव-

अवधेर्जघन्यक्षेत्रं ३०

॥ ५२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातव्यं, उक्तं च—योजनसहस्रमानो मत्स्यो मृत्वा स्वकायदेशे यः । उत्पद्यते हि पनकः सूक्ष्मत्वेनेह स ग्राह्यः ॥ १ ॥ संहृत्य चाद्यसमये स ह्यायामं करोति च प्रतरम् । सङ्ख्यातीताख्याङ्गुलविभागबाहल्यमानं तु ॥ २ ॥ स्वतनु (क) पृथुत्वमात्रां दीर्घत्वेनापि जीवसामर्थ्यात् । तमपि द्वितीयसमये संहृत्य करोत्यसौ सूचिम् ॥ ३ ॥ सङ्ख्यातीताख्याङ्गुलविभागविष्कम्भमाननिर्दिष्टाम् । निजतनुपृथुत्वदैर्घ्यां तृतीयसमये तु संहृत्य ॥ ४ ॥ उत्पद्यते च पनकः स्वदेहदेशे स सूक्ष्मपरिणामः । समयत्रयेण तस्यावगाहना यावती भवति ॥ ५ ॥ तावज्जघन्यमवधेरालम्बनवस्तुभाजनं क्षेत्रम् । इदमित्थमेव मुनिगणसुसम्प्रदायात् समवसेयम् ॥ ६ ॥" अत्र कश्चिदाह—किमिति योजनसहस्रायामो मत्स्यः?, किं वा तस्य तृतीयसमये स्वदेहदेशे सूक्ष्मत्वेनोत्पादः? किं वा त्रिसमयाहारकत्वं परिगृह्यते ?, उच्यते, इह योजनसहस्रमानो मत्स्यः स किल त्रिभिः समयैः आत्मानं सङ्क्षिपति महतः प्रयत्नविशेषात्, महाप्रयत्नविशेषाधिरूढश्चोत्पत्तिदेशेऽवगाहनामारभमाणो अतीव सूक्ष्मामारभते, ततो महामत्स्यस्य ग्रहणं, सूक्ष्मपनकश्चान्यजीवापेक्षया सूक्ष्मावगाहनो भवति, ततः सूक्ष्मपनकग्रहणं, तथा उत्पत्तिसमये द्वितीये समये चातिसूक्ष्मो भवति चतुर्थादिषु तु समयेष्वतिस्थूरस्त्रिसमयाहारकस्तु योग्यस्ततस्त्रिसमयाहारकग्रहणं, उक्तं च—"मच्छो महल्लकाओ संखित्तो जो उ तीहिं समएहिं । स किर पयत्तविसेसेण सहुमोगाहणं कुणइ ॥ १ ॥ सण्हयरा सण्हयरो सुहुमो पणगो जहण्णदेहो य । सुबहुविसेसविसिट्ठो सण्हयरो सव्वदेहेसु ॥ २ ॥ पढमबीएऽतिसण्हो जमइत्थूलो चउत्थयादीसु । तइयसमयंमि जोग्गो गहियो तो तिसमयहारो ॥ ३ ॥ (वि.५९३-५९४)" अन्ये तु व्याचक्षते—त्रिसमयाहारकस्येति, आयामप्रतरसंहरणे समयद्वयं तृतीयश्च समयः सूचीसंहरणोत्पत्तिदेशागमविषयः, एवं त्रयः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

समयाः, विग्रहगत्यभावाच्चैतेषु त्रिष्वपि समयेष्वाहारकस्तत उत्पादसमय एव त्रिसमयाहारकः सूक्ष्मपनकजीवो, जघन्यावगाहनश्चासौ, ततस्तच्छरीरमानं जघन्यमवधिक्षेत्रं, तच्चायुक्तं, यतस्त्रिसमयाहारकस्येति विशेषणं पनकस्य, न तु मत्स्यस्य, नच मत्स्यायामप्रतरसंहरणसमयौ पनकभवस्य सम्बन्धिनौ, किन्तु मत्स्यभवस्य, तत उत्पादसमयादारभ्य त्रिसमयाहारकस्येति द्रष्टव्यं नान्यथा, एतावत्प्रमाणजघन्यक्षेत्रस्यावधिः तैजसभाषाप्रायोग्यवर्गणापान्तरालवर्त्तिं द्रव्यमालम्बते, 'तेयाभासादव्वाणमंतरा एत्थ लहइ पट्ठवतो' इतिवक्ष्यमाणवचनात् ॥ तदेवं जघन्यमवधेः क्षेत्रमुक्तम्, साम्प्रतमुत्कृष्टमभिधातुकाम आह—

"सव्वबहुअगणिजीवा निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु । खेत्तं सव्वदिसागं परमोही खेत्त निद्दिट्ठो ॥ ३१ ॥"

'सव्वबहु' इति, यत ऊर्द्ध्वमन्य एकोऽपि जीवो न कदाचनापि प्राप्यते ते सर्वबहवः, सर्वबहवश्च तेऽग्निजीवाः-सूक्ष्मबादररूपाः सर्वबह्वग्निजीवाः, कदा सर्वबह्वग्निजीवा इति चेत्, उच्यते, यदा सर्वासु कर्मभूमिषु निर्व्याघातं अग्निकायसमारम्भकाः सर्वबहवो मनुष्याः, ते च प्रायोऽजितस्वामितीर्थकरकाले प्राप्यन्ते, यदा चोत्कृष्टपदवर्तिनः सूक्ष्मानलजीवास्तदा सर्वबह्वग्निजीवपरिमाणं, उक्तं च—अवाघाए सव्वासु कम्मभूमीसु जं तदारंभा । सव्वबहवो मणुस्सा, होन्तऽजियजिणिंदकालंमि ॥ १ ॥ उक्कोसया य सुहुमा जया तया सव्वबहुगमगणीणं । परिमाण"मिति, (वि.५९९—६००) 'निरन्तर'मिति क्रियाविशेषणं, यावद्—यावत्परिमाणं क्षेत्रं 'भृतवन्तो' व्याप्तवन्तः, किमुक्तं भवति?—नैरन्तर्येण विशिष्टसूचीरचनया यावद्व्याप्तवन्तः, व्याप्तवन्त इति भूतकालनिर्देशः अजितस्वामिकाल एव च प्रायः सर्वबहवोऽनलजीवा अस्यामवसर्पिण्यां भवन्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्येति ख्यापनार्थः, इदं चानन्तरोदितविशेषणं क्षेत्रमेकदिक्कमपि भवति तत आह–सर्वदिक्कं,अनेन सूचीभ्रमणप्रमितत्वं क्षेत्रस्य सूचयति, परमश्चासाववधिश्च परमावधिः, एतावद् अनन्तरोदितं सर्वबहुनलसूचीपरिक्षेपप्रमितं क्षेत्रमङ्गीकृत्य 'निर्दिष्टः' प्रतिपादितो गणधरादिभिः क्षेत्रनिर्दिष्टः, किमुक्तं भवति ?–सर्वबहुग्निजीवा निरन्तरं यावत् क्षेत्रं सूचीभ्रमणेन सर्वदिक्कं भृतवन्तः एतावति क्षेत्रे यान्यवस्थितानि द्रव्याणि तत्परिच्छेदसामर्थ्ययुक्तः परमावधिः क्षेत्रमधिकृत्य निर्दिष्टो गणधरादिभिः । अयमिह सम्प्रदायः–सर्वबहुग्निजीवादयः प्रायोऽजितस्वामितीर्थकाले प्राप्यन्ते, तदारम्भकमनुष्यबाहुल्यभावात्, सूक्ष्माश्चोत्कृष्टपदवर्त्तिनः तत्रैव विवक्ष्यंते, ततश्च ते सर्वबहवोऽनलजीवा भवन्ति, तेषां स्वबुद्ध्या षोढा अवस्थानं कल्प्यते–एकैकक्षेत्रप्रदेशे एकैकजीवावगाहनया सर्वतश्चतुरस्रो घन इति प्रथमं, स एव घनो जीवैः स्वावगाहनाभिरिति द्वितीयं, एवं प्रतरोऽपि द्विभेदः, श्रेणिरपि द्विधा, तत्राद्याः पञ्च प्रकारा अनादेशाः, तेषु क्षेत्रस्याल्पीयस्तया प्राप्यमाणत्वात्, षष्ठस्तु प्रकारः सूत्रादेशः, उक्तं च–"एक्केकागासपएस जीवरयणा य सावगाहे य । चउरंस घणं पयरं सेढी छट्ठो सुयादेसो ॥१॥" (वि.६०१) ततश्चासौ श्रेणिः स्वावगाहनासंस्थापितसकलानलजीवावलिरूपा अवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु शरीरपर्यन्तेन भ्राम्यते, सा च भ्राम्यमाणा असङ्ख्येयान् लोकमात्रान् क्षेत्रविभागान् अलोके प्राप्नोति, एतावत्क्षेत्रमवधिरुत्कृष्टः, उक्तं च–नियगावगाहणागणिजीवसरीरावलीभमंतेण । भामिज्जइ ओहिनाणीदेहपज्जंततो सा य ॥ १ ॥ अइगंतूणमलोगे लोगागासप्पमाणमेत्ताइं । ठाइ असंखेज्जाइं इदमोहीखेत्तमुक्कोस ॥ २ ॥(वि.६०३–६०४)" इदं च सामर्थ्यमात्रमुपवर्ण्यते, एतावति क्षेत्रे यदि द्रष्टव्यं भवति तर्हि पश्यति, यावताऽलोके तन्न विद्यते, अलोके रूपिद्रव्याणामसंभवात्, रूपिद्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

उद्घोद्घाते

॥ ५४ ॥

व्यविषयश्चावधिः, केवलमयं विशेषो–यावदद्यापि परिपूर्णमपि लोकं पश्यति तावदिह स्कन्धानेव जानाति, यदा पुनः अलोके प्रसरमवधिरधिरोहति तदा यथा २ अभिवृद्धिमासादयति तथा तथा लोके सूक्ष्मान् सूक्ष्मतरान् स्कन्धान् पश्यति, यावदन्ते परमाणुमपि, उक्तञ्च–"सामत्थमेत्तमुत्तं दट्ठवं जइ हवेज्ज पेच्छेज्जा । न उ तं तत्थत्थि जतो सो रूविनिबंधणो भणिओ ॥ १ ॥ वहंतो पुण बाहिं लोगत्थं चेव पासई दवं । सुहुमयरं सुहुमयरं परमोही जाव परमाणू ॥ २ ॥ (वि.६०५–६०६)" एवं तावत् जघन्यमुत्कृष्टं चावधिक्षेत्रमुक्तं, सम्प्रति मध्यमं प्रतिपिपादयिषुरेतावत्क्षेत्रोपलभे एतावत्कालोपलम्भः एतावत्कालोपलंभे च एतावत् क्षेत्रोपलम्भ इत्यस्यार्थस्य प्रकटनार्थं गाथाचतुष्टयमाह—

"अंगुलमावलियाणं भागमसंखेज्ज दोसु संखेज्जा । अंगुलमावलियंतो आवलिया अंगुलपुहुत्तं ॥ ३२ ॥
हत्थंमि मुहुत्तंतो दिवसंतो गाउयम्मि बोद्धव्वो । जोयण दिवसपुहुत्तं पक्खंतो पण्णवीसाओ ॥ ३३ ॥
भरहंमि अद्धमासो जंबुद्दीवम्मि साहितो मासो । वासं च मणुयलोए वासपुहुत्तं च रुयगंमि ॥ ३४ ॥
संखिज्जंमि उ काले दीवसमुद्दा य हुंति संखेज्जा । कालम्मि असंखेज्जे दीवसमुद्दा य भइयव्वा ॥ ३५ ॥"

अङ्गुलमिह क्षेत्राधिकारात् प्रमाणाङ्गुलमभिगृह्यते, अन्ये त्वाहुः–अवध्यधिकारादुच्छ्रयाङ्गुलमिति, आवलिका असङ्ख्येयसमयात्मिका, जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकप्रमाणसमयसमुदायात्मिका इति भावः, अंगुलं च आवलिका च अंगुलावलिके तयोर्भागं–अंशमसंख्येयं पश्यत्यवधिज्ञानी, किमुक्तं भवति–क्षेत्रतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रं पश्यन् कालत आवलिकाया असङ्ख्येयमेव भागमतीतमनागतं च पश्यति, उक्तं च–"खेत्तमसंखेज्जंगुल पासं पासं तमेव कालेणं । आवलियाए भागं नी-

॥ ५४ ॥

अवधेः क्षेत्रकाल-प्रतिबंधः ३२–३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

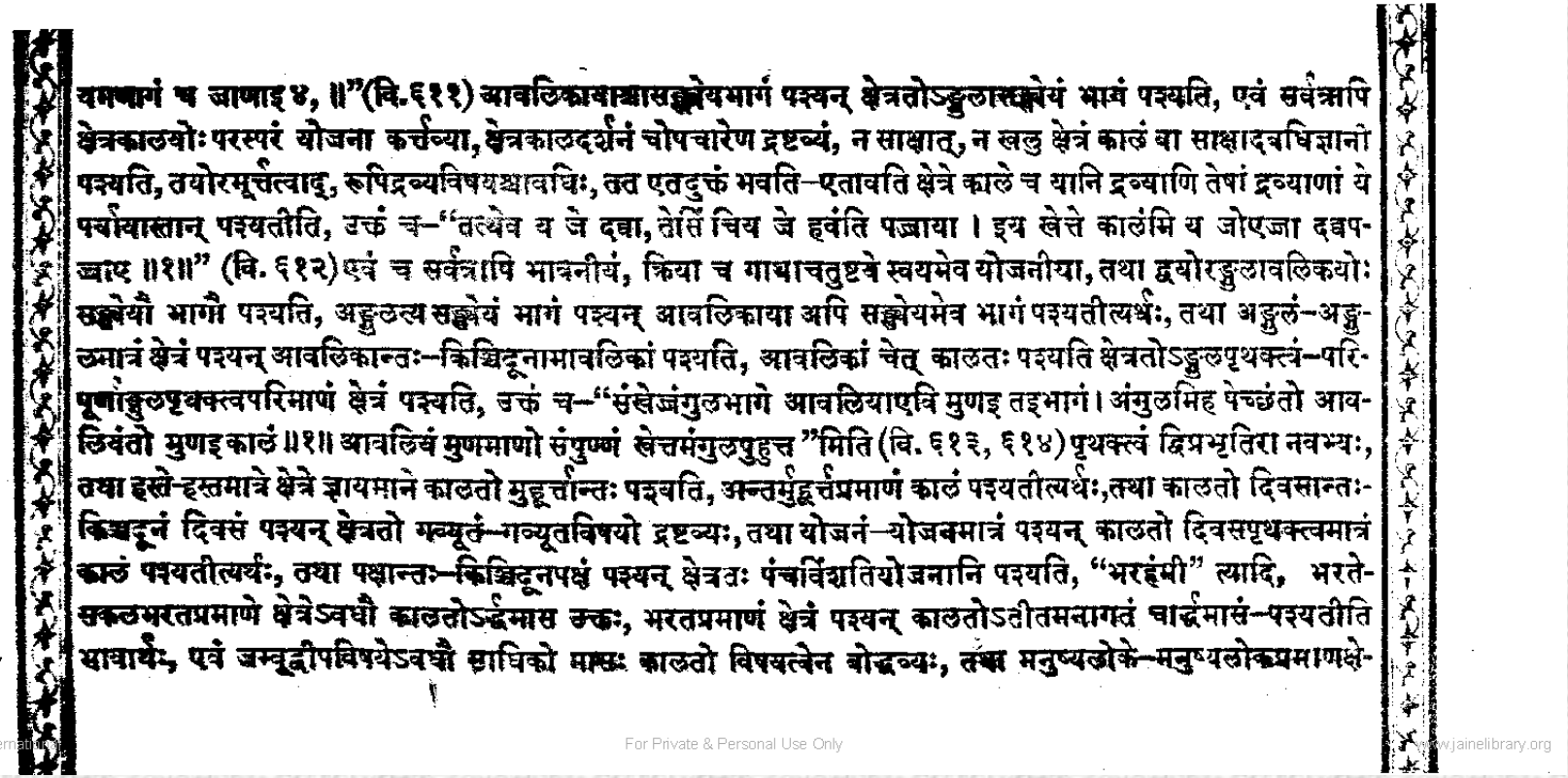

यमणागं च जाणाइ ४, ॥"(वि.६११) आवलिकायाश्चासङ्ख्येयभागं पश्यन् क्षेत्रतोऽङ्गुलासङ्ख्येयं भागं पश्यति, एवं सर्वत्रापि क्षेत्रकालयोः परस्परं योजना कर्त्तव्या, क्षेत्रकालदर्शनं चोपचारेण द्रष्टव्यं, न साक्षात्, न खलु क्षेत्रं कालं वा साक्षादवधिज्ञानी पश्यति, तयोरमूर्त्तत्वाद्, रूपिद्रव्यविषयश्चावधिः, तत एतदुक्तं भवति–एतावति क्षेत्रे काले च यानि द्रव्याणि तेषां द्रव्याणां ये पर्यायास्तान् पश्यतीति, उक्तं च–"तत्थेव य जे दव्वा, तेसिं चिय जे हवंति पज्जाया । इय खेत्ते कालंमि य जोएजा दव्वपज्जाए ॥१॥" (वि. ६१२) एवं च सर्वत्रापि भावनीयं, क्रिया च गाथाचतुष्टये स्वयमेव योजनीया, तथा द्वयोरङ्गुलावलिकयोः सङ्ख्येयौ भागौ पश्यति, अङ्गुलस्य सङ्ख्येयं भागं पश्यन् आवलिकाया अपि सङ्ख्येयमेव भागं पश्यतीत्यर्थः, तथा अङ्गुलं–अङ्गुलमात्रं क्षेत्रं पश्यन् आवलिकान्तः–किञ्चिदूनामावलिकां पश्यति, आवलिकां चेत् कालतः पश्यति क्षेत्रतोऽङ्गुलपृथक्त्वं–परिपूर्णाङ्गुलपृथक्त्वपरिमाणं क्षेत्रं पश्यति, उक्तं च–"संखेज्जंगुलभागे आवलियाएवि मुणइ तइभागं । अंगुलमिह पेच्छंतो आवलियंतो मुणइ कालं ॥१॥ आवलियं मुणमाणो संपुण्णं खेत्तमंगुलपुहुत्त"मिति (वि. ६१३, ६१४) पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरा नवभ्यः, तथा हस्ते-हस्तमात्रे क्षेत्रे ज्ञायमाने कालतो मुहूर्त्तान्तः पश्यति, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं कालं पश्यतीत्यर्थः,तथा कालतो दिवसान्तः-किञ्चिदूनं दिवसं पश्यन् क्षेत्रतो गव्यूतं–गव्यूतविषयो द्रष्टव्यः, तथा योजनं–योजनमात्रं पश्यन् कालतो दिवसपृथक्त्वमात्रं कालं पश्यतीत्यर्थः, तथा पक्षान्तः–किञ्चिदूनपक्षं पश्यन् क्षेत्रतः पंचविंशतियोजनानि पश्यति, "भरहंमी" त्यादि, भरतेसकलभरतप्रमाणे क्षेत्रेऽवधौ कालतोऽर्द्धमास उक्तः, भरतप्रमाणं क्षेत्रं पश्यन् कालतोऽतीतमनागतं चार्द्धमासं–पश्यतीति भावार्थः, एवं जम्बूद्वीपविषयेऽवधौ साधिको मासः कालतो विषयत्वेन बोद्धव्यः, तथा मनुष्यलोके–मनुष्यलोकप्रमाणक्षे-

जा.द. १०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

त्रविषयोऽवधिर्वर्ष–संवत्सरमतीतमनागतं च पश्यति, तथा रुचके–रुचकाख्यबाह्यद्वीपप्रमाणक्षेत्रविषयोऽवधिर्वर्षपृथक्त्वं पश्यति। 'संखे' त्यादि, संख्यायते इति सङ्ख्येयः, स च संवत्सरलक्षणोऽपि भवति, ततश्चशब्दो विशेषणार्थ उपात्तः, स चैतद्विशिनष्टि–सङ्ख्येयः कालो वर्षसहस्रात्परो वेदितव्यः, तस्मिन् सङ्ख्येये कालेऽवधिगोचरे सति क्षेत्रतस्तस्यैवावधेर्गोचरतया द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीपसमुद्रास्तेऽपि भवन्ति सङ्ख्येयाः, अपिशब्दान्महानेकोऽपि महत एकदेशोऽपि, किमुक्तं भवति ?–सङ्ख्येये कालेऽवधिना परिच्छिद्यमाने क्षेत्रमपि संख्येयद्वीपसमुद्रपरिमाणं परिच्छेद्यं भवति, तत्र यदि नाम अत्रत्यस्यावधिरुत्पद्यते ततो जम्बूद्वीपादारभ्य सङ्ख्येया द्वीपसमुद्रास्तस्य परिच्छेद्याः, अथ बाह्ये द्वीपे समुद्रे वा सङ्ख्येययोजनविस्तृते कस्यापि तिरश्चः सङ्ख्येयकालविषयोऽवधिरुत्पद्यते तदा यथोक्तक्षेत्रपरिमाणं तमेवैकं द्वीपं समुद्रं वा पश्यति, यदि पुनरसङ्ख्येययोजनविस्तृते स्वयंभूरमणादिके द्वीपे समुद्रे वा सङ्ख्येयकालविषयोऽवधिः कस्याप्युपजायते तदानीं स प्रागुक्तपरिमाणं तस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा एकदेशं पश्यति, यदिवा इहत्यतिर्यङ्मनुष्यबाह्यावधिरेकद्वीपविषयो द्वीपैकदेशविषयो वा वेदितव्यः। तथा कालेऽसङ्ख्येये–पल्योपमादिलक्षणेऽवधिविषये सति तस्यैवासङ्ख्येयकालपरिच्छेदकस्यावधेः क्षेत्रतया परिच्छेद्या द्वीपसमुद्रास्तु भाज्याः–विकल्पयितव्याः, कस्यचिदसङ्ख्येया एव कस्यचित्सङ्ख्येयाः कस्यचिन्महानेकः कस्यचिदेकदेश इत्यर्थः, तत्र इह यदा मनुष्यस्यासङ्ख्येयकालविषयोऽभ्यन्तरावधिरुत्पद्यते तदानीमसङ्ख्येया द्वीपाः समुद्राश्चास्य विषयः, यदा पुनर्बहिर्द्वीपे समुद्रे वा वर्त्तमानस्य कस्यचित्तिरश्चोऽसङ्ख्येयकालविषय उपजायते तदा तस्य सङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः, अथवा यस्य मनुष्यस्यासङ्ख्येयकालविषयो बाह्यद्वीपसमुद्रालम्बनो बाह्यावधिरुत्पद्यते तस्य सङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः, एवमेकद्वीपविषयोऽपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

भावनीयः, यदा पुनः स्वयंभूरमणे द्वीपे समुद्रे वा कस्यचित्तिरश्चोऽवधिरसङ्ख्येयकालविषयो जायते तदा तस्य स्वयंभूरमणस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा एकदेशो विषयः, स्वयम्भूरमणविषयमनुष्यबाह्यावधिर्वा तदेकदेशो विषयः, क्षेत्रपरिमाणं पुनः सर्वत्रापि योजनापेक्षया संख्येयाख्यं असङ्ख्येयाख्यं वा, तदेवं यथा क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिः कालवृद्धौ च यथा क्षेत्रवृद्धिस्तथा परिस्थूरन्यायमङ्गीकृत्य प्रतिपादितं । सम्प्रति द्रव्यक्षेत्रकालभावानां मध्ये यद्वृद्धौ यस्य वृद्धिरुपजायते यस्य च न तदभिधित्सुराह—

काले चउण्ह वुड्ढी, कालो भइयव्वु खेत्तवुड्ढीए । वुड्ढीए दवपज्जव भइयव्वा खित्तकाला उ ॥ १ ॥

काले—अवधिगोचरे वर्द्धमाने चतुर्णा—द्रव्यक्षेत्रकालभावानां वृद्धिर्भवति, तथा क्षेत्रस्य वृद्धिः क्षेत्रवृद्धिस्तस्यां सत्यां कालो भजनीयो—विकल्पनीयः, कदाचिद्वर्द्धते कदाचिन्न, क्षेत्रं ह्यत्यंतसूक्ष्मं कालस्तु तदपेक्षया परिस्थूरः, ततो यदि प्रभूता क्षेत्रवृद्धिस्ततो वर्द्धते शेषकालं नेति । द्रव्यपर्यायौ तु नियमतो वर्द्धेते, यत उक्तम्—"काले पवड्ढमाणे सव्वे दव्वादयो पवड्ढंति। खित्ते कालो भइओ वड्ढंति उ दवपज्जाया"॥ १ ॥ (वि. ६१८) तथा द्रव्यं च पर्यायश्च द्रव्यपर्यायौ तयोर्वृद्धौ सत्यां, सूत्रे विभक्तिलोपः प्राकृतत्वाद्, भजनीयावेव क्षेत्रकालौ, तुशब्द एवकारार्थः स च भिन्नक्रमः तथैव च योजितः, भजना चैवं—कदाचित्तयोर्वृद्धिर्भवति कदाचिन्न, यतो द्रव्यं क्षेत्रादपि सूक्ष्मं, एकस्मिन्नपि नभःप्रदेशेऽनन्तस्कन्धावगाहतः, द्रव्यादपि सूक्ष्मः पर्यायः, एकस्मिन्नपि द्रव्येऽनन्तपर्यायसम्भवात्, ततो द्रव्यपर्यायवृद्धौ क्षेत्रकालौ भजनीयावेव भवतः, द्रव्ये च वर्द्धमाने पर्याया नियमतो वर्द्धन्ते, प्रतिद्रव्यं सङ्ख्येयानामसङ्ख्येयानां वा पर्यायाणामवधिना परिच्छेदसम्भवात्, पर्याये तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** *अत्र निर्युक्ति: ३६ एव वर्तते किन्तु मूल संपादने गाथा ॥१॥ इति मुद्रितं

वर्द्धमाने द्रव्यं भाज्यम्, एकस्मिन्नपि द्रव्ये पर्यायविषयावधिवृद्ध्यवृद्धिसम्भवात्, आह च भाष्यकृत्–"भयणा य खेत्तकाले परिवड्ढंतेसु दव्वभावेसुं । दव्वे वड्ढइ भावो भावे दव्वं तु भयणिज्जं ॥१॥"(वि. ६१९)आह–ननु जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नयो-रवधिज्ञानसम्बन्धिनोः क्षेत्रकालयोः अङ्गुलावलिकासङ्ख्येयभागादिरूपयोः परस्परं प्रदेशसमयसङ्ख्यया तुल्यत्वमुत हीना-धिकत्वं ?, उच्यते, हीनाधिकत्वं, तथाहि–आवलिकाया असंख्येये भागे जघन्यावधिविषये यावन्तः समयास्तदपेक्षया अङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागे जघन्यावधिविषये एव ये नभःप्रदेशास्ते असङ्ख्येयगुणाः, एवं सर्वत्राप्यवधिविषयात् कालादसङ्ख्ये-यगुणत्वमवधिविषयस्य क्षेत्रस्यावगन्तव्यं, उक्तं च–"सव्वमसंखेज्जगुणं कालाओ खित्तमोहिविसयंमि । अवरोप्परसंबद्धं समयपएसप्पमाणेणं ॥१॥" (वि. ६२४) अथ क्षेत्रस्येत्थं कालादसङ्ख्येयगुणता कथमवसीयते ?, उच्यते, सूत्रप्रामाण्यात्, तदेव सूत्रमुपदर्शयति–

सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरयं हवइ खेत्तं । अंगुलसेढीमित्ते, ओस्सप्पिणिओ असंखेज्जा ॥३६॥

'सूक्ष्मश्च' श्लक्ष्णश्च भवति कालः, चशब्दो वाक्यभेदक्रमोपदर्शनार्थः, यथा सूक्ष्मस्तावत्कालो भवति, यस्मादुत्पलप-त्रशतभेदे प्रतिपत्रमसङ्ख्येयाः समयाः प्रतिपद्यन्ते, ततः सूक्ष्मः कालः, तस्मादपि कालात् सूक्ष्मतरं क्षेत्रं भवति, यस्मादङ्गु-लश्रेणिमात्रे क्षेत्रे–प्रमाणाङ्गुलैकमात्रे श्रेणिरूपे नभःखण्डे प्रतिप्रदेशं समयगणनया असङ्ख्येया अवसर्पिण्यस्तीर्थकृ-द्भिरास्थाताः, इदमुक्तं भवति–प्रमाणाङ्गुलैकमात्रे एकैकप्रदेशश्रेणिरूपे नभःखण्डे यावन्तोऽसङ्ख्येयास्त्वसर्पिणीषु समया-स्तावत्प्रमाणा (:प्रदेशा) वर्त्तन्ते, ततः सर्वत्रापि कालादसङ्ख्येयगुणं क्षेत्रं, क्षेत्रादपि चानन्तगुणं द्रव्यं, द्रव्यादपि चावधिविषयः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** **अत्र निर्युक्ति: ३७ एव वर्तते किन्तु मूल संपादने गाथा ॥३६॥ इति मुद्रितं

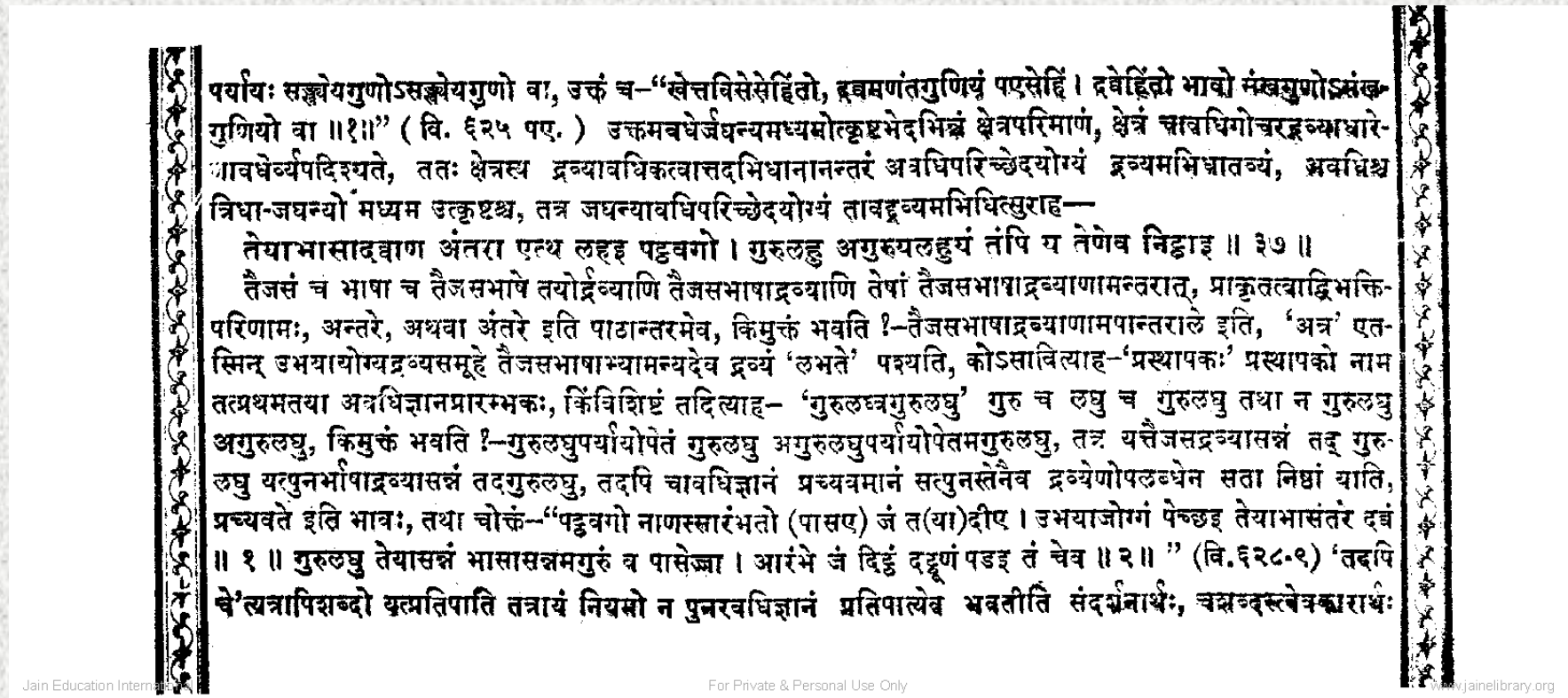

पर्यायः सङ्ख्येयगुणोऽसङ्ख्येयगुणो वा, उक्तं च–"खेत्तविसेसेहिंतो, दव्वमणंतगुणियं पएसेहिं । दव्वेहिंतो भावो संखगुणोऽसंखगुणियो वा ॥१॥" (वि. ६२५ पए.) उक्तमवधेर्जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नं क्षेत्रपरिमाणं, क्षेत्रं चावधिगोचरद्रव्याधारे-त्यावधेर्व्यपदिश्यते, ततः क्षेत्रस्य द्रव्याधिकरत्वात्तदभिधानानन्तरं अवधिपरिच्छेदयोग्यं द्रव्यमभिधातव्यं, अवधिश्च त्रिधा-जघन्यो मध्यम उत्कृष्टश्च, तत्र जघन्यावधिपरिच्छेदयोग्यं तावद्द्रव्यमभिधित्सुराह—

तेयाभासादव्वाण अंतरा एत्थ लहइ पट्ठवगो । गुरुलहु अगुरुयलहुयं तंपि य तेणेव निट्ठाइ ॥ ३७ ॥

तैजसं च भाषा च तैजसभाषे तयोर्द्रव्याणि तैजसभाषाद्रव्याणि तेषां तैजसभाषाद्रव्याणामन्तरात्, प्राकृतत्वाद्विभक्ति-परिणामः, अन्तरे, अथवा अंतरे इति पाठान्तरमेव, किमुक्तं भवति ?–तैजसभाषाद्रव्याणामपान्तराले इति, 'अत्र' एत-स्मिन् उभयायोग्यद्रव्यसमूहे तैजसभाषाभ्यामन्यदेव द्रव्यं 'लभते' पश्यति, कोऽसावित्याह–'प्रस्थापकः' प्रस्थापको नाम तत्प्रथमतया अवधिज्ञानप्रारम्भकः, किंविशिष्टं तदित्याह– 'गुरुलघ्वगुरुलघु' गुरु च लघु च गुरुलघु तथा न गुरुलघु अगुरुलघु, किमुक्तं भवति ?–गुरुलघुपर्यायोपेतं गुरुलघु अगुरुलघुपर्यायोपेतमगुरुलघु, तत्र यत्तैजसद्रव्यासन्नं तद् गुरु-लघु यत्पुनर्भाषाद्रव्यासन्नं तदगुरुलघु, तदपि चावधिज्ञानं प्रच्यवमानं सत्पुनस्तेनैव द्रव्येणोपलब्धेन सता निष्ठां याति, प्रच्यवते इति भावः, तथा चोक्तं–"पट्ठवगो नाणस्सारंभतो (पासए) जं त(या)दीए । उभयाजोग्गं पेच्छइ तेयाभासंतरं दव्वं ॥ १ ॥ गुरुलघु तेयासन्नं भासासन्नमगुरुं व पासेज्जा । आरंभे जं दिट्ठं दट्ठूणं पडइ तं चेव ॥ २ ॥ " (वि.६२८-९) 'तदपि चे'त्यत्रापिशब्दो यत्प्रतिपाति तत्रायं नियमो न पुनरवधिज्ञानं प्रतिपात्येव भवतीति संदर्शनार्थः, चशब्दस्त्वेवकारार्थः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** **अत्र निर्युक्ति: ३८ एव वर्तते किन्तु मूल संपादने गाथा ॥३७॥ इति मुद्रितं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

स चावधारणे, तस्य चैवं प्रयोगः–अवधिज्ञानमेवैवं प्रच्यवते, न शेषज्ञानानीति, अथ कियत्प्रदेशं तत् द्रव्यं यत्तैजसभाषाद्रव्याणामपान्तरालवर्त्ति जघन्यावधिप्रेमयमित्याशङ्क्य, तत्किल परमाण्वादिक्रमोपचयादौदारिकादिवर्गणानुक्रमतः प्रतिपादयितुं शक्यं, अतस्तत्स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुर्गाथाद्वयमाह–

ओरालविउव्वाहारतेयभासाणपाणमणकम्मे । अह दव्ववग्गणाणं कमो विवज्जासतो खेत्ते ॥ ३९ ॥
कम्मोवरिं धुवेयर सुन्नेअरवग्गणा अणंताओ । चउधुवणंतरतणुवग्गणा य मीसो तहाऽचित्तो ॥४०॥

आह–किमर्थमौदारिकादिशरीरप्रायोग्याप्रायोग्यद्रव्यवर्गणाः प्ररूप्यन्ते?, उच्यते–विनेयानामसंमोहार्थं, तथा चात्रोदाहरणम्–इह भरतक्षेत्रे मगधाजनपदे प्रभूतगोमण्डलस्वामी कुक्षिकर्णो नाम गृहपतिरासीत्, स च तासां गवामतिप्रभूतत्वात् सहस्रादिपरिमितानां पृथक् पृथगनुपालनार्थं प्रभूतान् गोपालान् चक्रे, ते च तासु परस्परं मिलितासु गोपा आत्मीयाः२ सम्यगजानन्तः सन्तोऽनवरतं कलहमकार्षुः, तांश्च तथा परस्परं विवदमानान् उपलभ्यासौ तेषामव्यामोहार्थं कलहव्यवच्छित्तये च शुक्लकृष्णरक्तकर्बुरादिभेदभिन्नानां गवां प्रतिगोपालं सजातीयगोसमुदायरूपा भिन्ना वर्गणा व्यवस्थापितवान्, एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः–इह गोपालप्रभुकल्पो भगवांस्तीर्थकरः गोपकल्पेभ्यः शिष्येभ्यो गोसमूहसमानपुद्गलास्तिकायं तदसम्मोहाय परमाण्वादिवर्गणाविभागेन निरूपितवान् इति, कृतं प्रसङ्गेन, पदार्थः प्रतिपाद्यते, तत्र औदारिकग्रहणादौदारिकशरीरप्रायोग्या वर्गणाः परिगृहीताः, इह वर्गणाः सामान्यतश्चतुर्विधा भवन्ति, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यत एकपरमाण्वादीनां यावदनन्तपरमाणूनां क्षेत्रत एकप्रदेशावगाढानां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यावत् असंख्यप्रदेशावगाढानां, कालत एकसमयस्थितीनां सर्वेषां परमाणूनां स्कन्धानां च एका वर्गणा द्विसमयस्थितीनां सर्वेषां द्वितीया वर्गणा त्रिसमयस्थितीनां सर्वेषां तृतीया वर्गणा एवमेकैकसमयवृद्ध्या संख्येयसमयस्थितीनां परमाण्वादीनां सङ्ख्येया वर्गणाः असङ्ख्येयसमयस्थितीनां त्वसङ्ख्येया वर्गणाः, भावत एकगुणकृष्णानां परमाणूनां स्कन्धानां च सर्वेषामेका वर्गणा कृष्णवर्णगुणद्वययुक्तानां परमाण्वादीनां द्वितीया वर्गणा एवमेकैकगुणवृद्ध्या सङ्ख्येयकृष्णवर्णगुणानां सङ्ख्येया वर्गणाः असङ्ख्येयकृष्णवर्णगुणानामसङ्ख्येया अनन्तकृष्णवर्णगुणानामनन्ताः, एवं नीललोहितहारिद्रशुक्लेषु ४ सुरभीतरयोर्गन्धयोः ६ तिक्तकटुकषायाम्लमधुरेषु पञ्चसु रसेषु ११ कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षेषु अष्टासु स्पर्शेषु १९ सर्वसङ्ख्या एकोनविंशतिस्थानेषु प्रत्येकमेकादीनां सङ्ख्येयगुणानां सङ्ख्येयाः असङ्ख्येयगुणानामसङ्ख्येयाः अनन्तगुणानामनन्ता वर्गणा वाच्याः, तथा लघुगुरुपर्यायाणां बादरपरिणामान्वितवस्तूनामेका वर्गणा, अगुरुलघुपर्यायाणां तु सूक्ष्मपरिणामपरिणतवस्तूनामेका वर्गणा, एवमेते द्वे वर्गणे भवतः, तत्र समस्तलोकाकाशप्रदेशवर्त्तिनामेकाकिपरमाणूनां समुदाय एका वर्गणा, ततः समस्तलोकवर्त्तिनां द्विप्रदेशिकस्कन्धानां द्वितीया वर्गणा, ततः समस्तानामपि त्रिप्रदेशिकस्कन्धानां तृतीया वर्गणा, चतुष्प्रदेशिकस्कन्धानां चतुर्थी, एवमेकोत्तरवृद्ध्या तावन्नेयं यावत् सङ्ख्यातप्रदेशिकस्कन्धानां सङ्ख्येया वर्गणाः असङ्ख्येयप्रदेशिकानामसङ्ख्येयाः अनन्तप्रदेशिकानामनन्ताः स्वल्वग्रहणप्रायोग्या वर्गणा विलङ्घ्य विशिष्ट परिणामयुक्ता औदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्या अनन्तवर्गणा भवन्ति, ततो एकोत्तरप्रदेशवृद्ध्या वर्द्धमानाः प्रचुरद्रव्यत्वात्सूक्ष्मतरपरिणामत्वाच्चौदारिकस्याग्रहणप्रायोग्या अनंता वर्गणा भवंति, ताश्च स्वल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वाद्बादरपरि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

णामयुक्तत्वाच्च वैक्रियस्याप्यग्रहणप्रायोग्याः, केवलमौदारिकवर्गणानामासन्नत्वेन तदाभासत्वात् तदग्रहणयोग्या इति व्यवहियन्ते, तासामौदारिकाग्रहणप्रायोग्यवर्गणानामुपरि एकैकप्रदेशवृद्ध्या वर्धमानाः स्वल्पद्रव्यनिष्पन्नत्वाद् बादरपरिणामत्वाच्च वैक्रियशरीरस्याग्रहणप्रायोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति, ताश्च प्रचुरद्रव्यनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्चौदारिकस्याप्यग्रहणप्रायोग्याः परं वैक्रियवर्गणाप्रत्यासन्नतया तदाभासत्वाद्वैक्रियशरीराग्रहणप्रायोग्या इति व्यपदिष्टाः, तत एवमेकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमानाः प्रचुरद्रव्यनिर्वृत्तत्वात्तथाविधसूक्ष्मपरिणामत्वाच्च वैक्रियशरीरस्य ग्रहणप्रायोग्या अनन्ता वर्गणा भवन्ति, तत ऊर्ध्वमेकोत्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानाः प्रचुरद्रव्यारब्धत्वात्सूक्ष्मतरपरिणामत्वाच्च वैक्रियस्याग्रहणप्रायोग्या अनन्ता वर्गणाः, तासां च वैक्रियाग्रहणप्रायोग्यवर्गणानामुपर्येकोत्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानाः स्वल्पद्रव्यनिष्पन्नत्वाद्बादरपरिणामत्वाच्चाहारकशरीरस्याग्रहणप्रायोग्या अनन्ता वर्गणाः, तदनन्तरमेकोत्तरवृद्ध्या वर्धमानाः प्रचुरद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् तथाविधसूक्ष्मपरिणामपरिणतत्वाच्चाहारकशरीरस्य ग्रहणप्रायोग्या अनन्ता वर्गणाः, ततोऽप्येकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमाना बहुतमद्रव्यनिष्पन्नत्वादतिसूक्ष्मपरिणामत्वाच्चाहारकशरीरस्याग्रहणप्रायोग्याः अनन्ता वर्गणाः, एवं तैजसस्य ४ भाषायाः ५ आनप्राणयोः ६ मनसः ७ कर्मणश्च ८ यथोत्तरमेकोत्तरवृद्ध्युपेतानां प्रत्येकमनन्तानामयोग्यानां योग्यानां पुनरयोग्यानां वर्गणानां पृथक् त्रयं वक्तव्यं, आह च भाष्यकृत्–"एगा परमाणूणं, एगुत्तरवड्ढितो ततो कमसो। संखेज्जपएसाणं संखेज्जा वग्गणा होंति ॥ १ ॥ तत्तो संखातीता संखातीतप्पएसमाणाणं। तत्तो पुणो अणंताणंतपएसाण गंतूणं ॥ २ ॥ ओरालियस्स गहणप्पायोग्गा वग्गणा अणंताओ। अग्गहणप्पायोग्गा, तस्सेव ततो अणंताओ ॥३॥ एवमजोग्गा जोग्गा, पुणो अजोग्ग य वग्ग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णाणंता। वेउव्वियाइयाणं, नेयं तिविगप्पमेक्केकं ॥४॥ (वि.६३३-६३६) आह-कथं पुनरेकैकस्यौदारिकादेः त्रयं त्रयं गम्यते?, उच्यते, तैजसभाषाद्रव्यान्तरालवर्त्युभयायोग्यद्रव्यावधिगोचराविधानात्, उक्तं च-"एक्केकस्सादीए पज्जन्तंमि हवंतऽजोग्गाइं। उभयाजोग्गाइं जतो तेयाभासंतरे पढइ ॥१॥" (वि. ६३७) 'अहे' त्यादि, अथ एष द्रव्यवर्गणानां क्रमः-परिपाटी, वर्गणा वर्गा राशिरिति पर्यायाः, तथा 'विपर्यासतो' विपर्यासेन 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयो वर्गणाक्रमो वेदितव्यः, तद्यथा-परमाण्वां द्व्यणुकाद्यनन्ताणुकपर्यन्तस्कन्धानां च एकैकाकाशप्रदेशावगाहिनां सर्वेषामेका वर्गणा, द्व्यणुकाद्यनन्ताणुकपर्यन्तस्कन्धानां द्विप्रदेशावगाहिनां स्कन्धानां द्वितीया वर्गणा, त्र्यणुकाद्यनन्ताणुपर्यन्तस्कन्धानां त्रिप्रदेशावगाहिनां तृतीया वर्गणा, एवमेकैकाकाशप्रदेशवृद्ध्या सङ्ख्येयप्रदेशावगाहिनां स्कन्धानां सङ्ख्येया वर्गणाः, ततोऽसङ्ख्येयप्रदेशावगाहिनां स्कन्धानामसङ्ख्येयाः, ताश्च एकैकाकाशप्रदेशवृद्ध्या वर्द्धमानाः खलु असङ्ख्येया वर्गणा विलङ्घ्य कर्मणः प्रायोग्या असङ्ख्येया वर्गणा भवन्ति, ततोऽनन्तरमल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वाद् बादरपरिमाणत्वेन बह्वाकाशप्रदेशावगाहित्वाच्च तस्यैव कर्मणोऽग्रहणप्रायोग्या एकैकाकाशप्रदेशवृद्ध्या असङ्ख्येया वर्गणाः १ एवमेकैकाकाशप्रदेशवृद्ध्या वर्द्धमाना मनसोऽप्यसङ्ख्येया अग्रहणवर्गणाः, पुनरेतावत्य एव तस्य ग्रहणवर्गणाः, पुनरेतावत्प्रमाणा एव तस्यैवाग्रहणप्रायोग्या वर्गणाः, एवमानप्राणयोर्भाषायास्तैजसस्याहारकस्य वैक्रियस्यौदारिकस्य चायोग्ययोग्यायोग्यवर्गणानां क्षेत्रतोऽपि प्रतिलोमं त्रयं त्रयं प्रत्येकमायोजनीयम् "परं परं सूक्ष्मं। प्रदेशतोऽसङ्ख्येयगुणं"मिति (तत्त्वा.२-३८-३९) वचनात्, भाष्यकारोऽप्याह-"एगपएसोगाढाण वग्गणेगा पएसवुड्ढीए। संखेज्जोगाढाणं, संखेज्जा वग्गणा तत्तो ॥१॥ (वि.६७५) तत्तो संखातीता संखातीत एसमाणाणं। गंतुमसंखेज्जातो जोग्गातो कम्मुणो भणिया ॥२॥ तत्तो संखातीया तस्सेव पुणो हवंतऽजोग्गातोत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

माणसदवाईणवि, एवं तिविकप्पमेकेकं ॥ ३ ॥" (वि. ६४८, ६४९) अधुना द्वितीयगाथाव्याख्या–तत्रानन्तरगाथायां कर्मद्रव्यवर्गणाः प्रतिपादिताः, सम्प्रति प्रदेशोत्तरवृद्ध्या तदग्रहणप्रायोग्याः प्रदर्श्यन्ते–क्रियते–मिथ्यात्वादिसचिवैर्जीवैर्निर्वर्त्त्यते इति कर्म्म कर्म्मण उपरि कर्म्मोपरि, 'नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुल'मिति समासः, षष्ठीतत्पुरुषस्तु न प्राप्नोति, 'अव्ययं'ति प्रतिषेधात्, कर्म्माग्रहणप्रायोग्यवर्गणानामुपरीतिभावः, 'ध्रुवे'ति ध्रुववर्गणा अनन्ता भवन्ति, तद्यथा–कर्म्मग्रहणप्रायोग्यवर्गणानामुपरि एकाधिकपरमाणूपचितातिसूक्ष्मपरिणामाऽनन्तपरमाण्वात्मिका प्रथमा ध्रुववर्गणा भवति, तत एकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमानाः एता अपि ध्रुववर्गणा अनन्ता वेदितव्याः, ध्रुवा–नित्याः लोकव्यापितया सर्वकालावस्थायिन्य इति भावः, अन्तदीपकं चेदं, ततश्चैतासां ध्रुवत्वभणनेन प्रागुक्ता अपि कर्म्मवर्गणान्ताः सर्वा एव वर्गणा ध्रुवा इत्यवगन्तव्यम्, तासामपि सर्वत्र लोके सदैवाव्यवच्छेदात्, अन्यच्च–एता ध्रुववर्गणा वक्ष्यमाणाश्चाध्रुवाद्याः सर्वा अपि ग्रहणाप्रायोग्यवर्गणाः अतिबहुद्रव्योपचित्वेनातिसूक्ष्मपरिणामत्वेन च सर्वजीवैरौदारिकादिभावेनाग्रहणात्, तदनन्तरमित्थमेवैकोत्तरवृद्ध्या वर्द्धमाना ध्रुववर्गणाभ्य इतरा अध्रुववर्गणा अनन्ता भवन्ति, एताश्च तथाविधपुद्गलपरिणामवैचित्र्यात् कदाचिल्लोके न भवन्त्यपि, तत एता अध्रुवा इति व्यपदिश्यन्ते, अध्रुवा–अशाश्वत्यः, कदाचिन्न सन्त्यपीति भावः, ततः 'सुन्ना' इति 'सूचनात् सूत्र'मिति न्यायात् शून्यान्तरवर्गणाः परिगृह्यन्ते एकोत्तरवृद्ध्या, कदाचिच्छून्यानि–व्यवहितानि अन्तराणि यासां ताः शून्यान्तराः ताश्च ता वर्गणाश्च शून्यान्तरवर्गणाः, किमुक्तं भवति ?–एता एकोत्तरवृद्ध्या निरन्तरमनन्ताः सदैव प्राप्यन्ते, परं कदाचिदेतास्वेकोत्तरवृद्धिरन्तरान्तरा भ्रश्यति, तत एताः शून्यान्तरवर्गणाः, एता अप्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

नन्ता एव, ' इयर'इति इतरग्रहणादशून्यान्तरवर्गणा गृह्यन्ते, एकोत्तरवृद्ध्या सर्वदैवाशून्यानि अन्तराणि यासां ता अशून्यान्तराः ताश्च ता वर्गणाश्च अशून्यान्तरवर्गणाः, एता ह्येकोत्तरवृद्ध्या निरन्तरमेव लोके सर्वदैव प्राप्यन्ते, न पुनरेकोत्तरवृद्धिहानिरपान्तराले, तत एता अशून्यान्तरवर्गणाः, ता अपि च प्रदेशोत्तरवृद्ध्या खल्वनन्ताः, ' चउधुवखंतर' इति, ततोऽशून्यान्तरवर्गणानामुपरि ध्रुवानन्तराणि चत्वारि वर्गणाद्रव्याणि भवन्ति, ध्रुवाणि च सर्वकालभावित्वादनन्तराणि च निरन्तरैकोत्तरवृद्धिभावत्वात् ध्रुवानन्तराणि, किमुक्तं भवति?–आद्या ध्रुवाऽनन्तरवर्गणाः प्रथमतोऽनन्ता भवन्ति, तदनन्तरमेतावत्यो द्वितीयास्ततस्तृतीयाः ततश्चतुर्थ्यो वाच्याः, ध्रुववर्गणाः प्रागप्युक्ताः परं ताभ्य एता भिन्ना एव, न पुनस्तास्वन्तर्भवन्ति, अतिसूक्ष्मपरिणामत्वाद्बहुद्रव्योपचितत्वाच्च, एतासां चतसृणामपि ध्रुववर्गणानां प्रत्येकमपान्तराले एकोत्तरवृद्धिहानिरवसातव्या, अन्यथा निरन्तरमेकोत्तरवृद्धिसम्भवे चातुर्विध्यासम्भवात्, एवं तनुवर्गणानामपि भावनीयम्, एतासां चतसृणां ध्रुववर्गणानामुपरि प्रत्येकमेकोत्तरवृद्धियुक्तानन्तवर्गणात्मिकाश्चतस्रस्तनुवर्गणा भवंति, तनूनाम्–औदारिकादिशरीराणां भेदाभेदपरिणामाभ्यां योग्यत्वाभिमुखा वर्गणास्तनुवर्गणाः, अथवा वक्ष्यमाणमिश्रस्कन्धाच्चस्कन्धद्वयस्य तनुः-देहः शरीरं मूर्तिरितियावत्, तद्योग्यत्वाभिमुखा वर्गणास्तनुवर्गणाः, आह च भाष्यकृत्– " ध्रुवणंतराइ चत्तारि, जं धुवाइं अणंतराइं च । भेयपरिणामतो जा सरीरजोग्गत्तणाभिमुहा ॥ १ ॥ खंधदुगदेहजोग्गत्तणेण वा देहवग्गणातोत्ति (वि. ६४१-६४२) । 'मीसो' इति, तदनन्तरं मिश्रस्कंधो भवति, सूक्ष्म एव सन् ईषद्बादरपरिणामाभिमुखः सूक्ष्मत्वबादरत्वपरिणाममिश्रणात् मिश्रस्कन्धः, आह च भाष्यकृत्– "सुहुमो दरगयबायरपरिणामो मीसगो खंधो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

आवश्यके उपोद्घाते

॥ ६० ॥

(वि. ६४२) 'तहा अचित्तो" इति, तथेत्यानन्तर्ये अचित्त इति 'पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्' अचित्तमहास्कन्धः, स च विश्रसापरिणामवैचित्र्यात् केवलिसमुद्घातगत्या चतुर्भिः समयैः सकललोकमापूरयति, चतुर्भिरेव च समयैस्तस्य संहरणमिति, आहच भाष्यकृत्–जइणसमुग्घायगई चउहिं समएहिं पूरणं कुणइ। लोगस्स तेहिं चेव य, संहरणं तस्स पडिलोमं ॥ १ ॥ (वि.३८३) आह–अचित्तत्वाव्यभिचारादचित्तविशेषणमनर्थकमिति, न, केवलिसमुद्घातसचित्तकर्मपुद्गललोकव्यापि (ता)व्यवच्छेदपरतया विशेषणस्य सार्थकत्वात्, एष एव सर्वोत्कृष्टप्रदेशोऽचित्तमहास्कन्ध इति केचिद् व्याचक्षते, तदसम्यक्, यस्मात्प्रज्ञापनायामवगाहनास्थितिभ्यामसङ्ख्येयभागहीनादिभेदाच्चतुःस्थानपतिता उक्ताः उत्कृष्टप्रादेशिकाः स्कन्धाः, तथा च तत्सूत्रम्– "उक्कोसपएसियाणं भंते ! खंधाणं केवइया पज्जवा पन्नत्ता ?, गोयमा ! अणंता, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?, गोयमा ! उक्कोसपएसिए खंधे उक्कोसपएसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, एकैकद्रव्यत्वात्, पएसट्ठयाए तुल्ले, उत्कृष्टप्रदेशस्य चिन्त्यमानत्वात्, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, तंजहा–असंखेज्जभागहीणे वा संखेज्जभागहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा संखिज्जगुणहीणो वा, अह अब्भहिए असंखेज्जभागअब्भहिए वा संखेज्जभागअब्भहिए वा संखिज्जगुणअब्भहिए वा असंखिज्जगुणअब्भहिए वा, एवं ठिइएवि चउट्ठाणवडिए, वण्णरसगंधफासेहिं छट्ठाणवडिए"इति, एषः पुनरचित्तमहास्कन्धोऽचित्तमहास्कन्धान्तरेण सहावगाहनास्थितिभ्यां तुल्य एव, अन्यच्च सामान्य उत्कृष्टप्रादेशिकस्कन्धोऽष्टस्पर्शो गीयते, अचित्तमहास्कन्धः पुनश्चतुःस्पर्शः, ततोऽन्येऽपि उत्कृष्टप्रादेशिकाः स्कन्धाः सन्तीति नियमतः प्रतिपत्तव्यम्, तथा चोक्तं–सव्वुक्कोसपएसो एसो केई न चायमेमंतो। उक्कोसपएसो जमवगाहठिईओ चउट्ठाणो ॥१॥ (वि.६४५)

उत्कृष्टाचित्तस्कन्धयोर्नानात्वम्

॥ ६० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

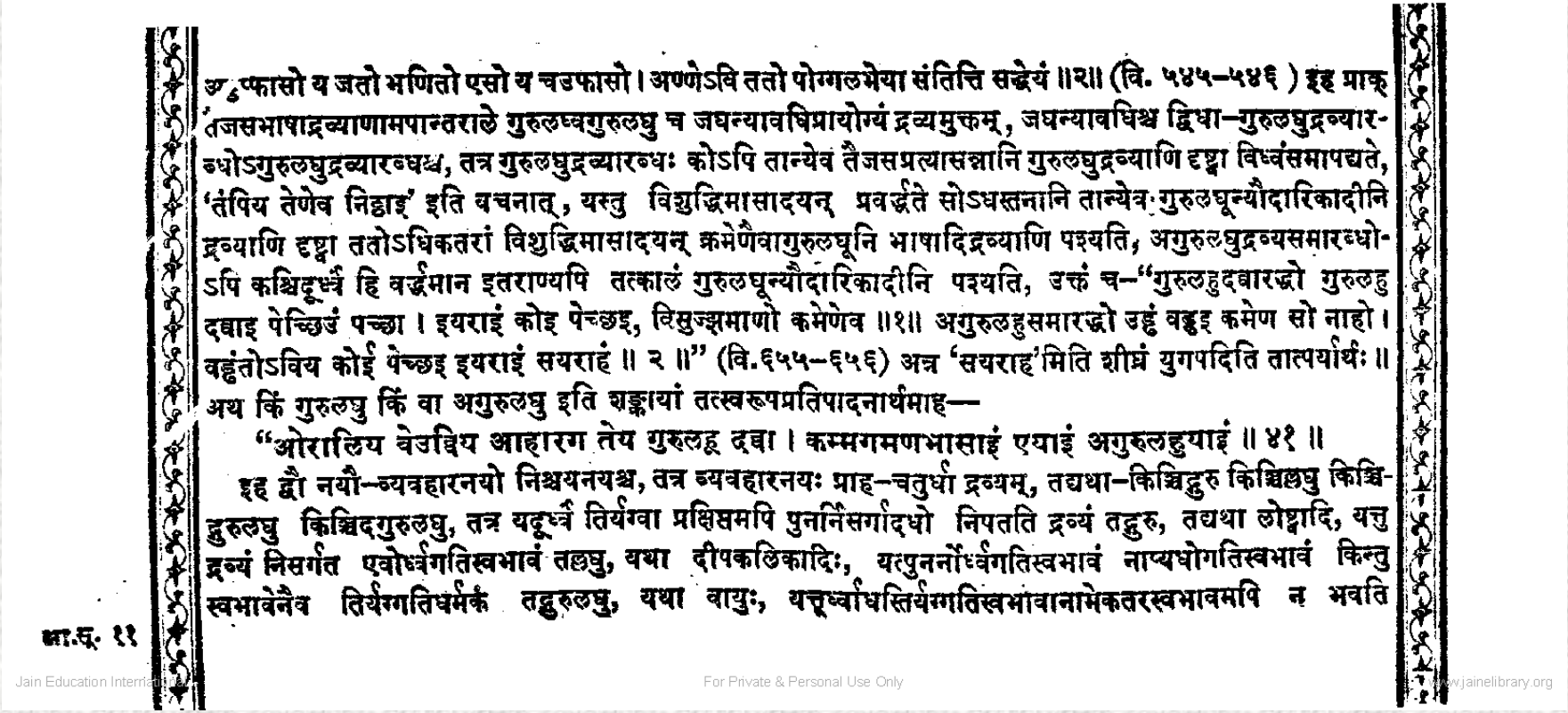

ॐ ष्फासो य जतो भणितो एसो य चउफासो। अण्णेऽवि ततो पोग्गलभेया संतित्ति सद्धेयं ॥२॥ (वि. ५४५-५४६) इह प्राक् तैजसभाषाद्रव्याणामपान्तराले गुरुलघ्वगुरुलघु च जघन्यावधिप्रायोग्यं द्रव्यमुक्तम्, जघन्यावधिश्च द्विधा-गुरुलघुद्रव्यारब्धोऽगुरुलघुद्रव्यारब्धश्च, तत्र गुरुलघुद्रव्यारब्धः कोऽपि तान्येव तैजसप्रत्यासन्नानि गुरुलघुद्रव्याणि दृष्ट्वा विध्वंसमापद्यते, 'तंपिय तेणेव निट्ठाइ' इति वचनात्, यस्तु विशुद्धिमासादयन् प्रवर्द्धते सोऽधस्तनानि तान्येव गुरुलघून्यौदारिकादीनि द्रव्याणि दृष्ट्वा ततोऽधिकतरां विशुद्धिमासादयन् क्रमेणैवागुरुलघूनि भाषादिद्रव्याणि पश्यति, अगुरुलघुद्रव्यसमारब्धोऽपि कश्चिदूर्ध्वं हि वर्द्धमान इतराण्यपि तत्कालं गुरुलघून्यौदारिकादीनि पश्यति, उक्तं च-"गुरुलहुदव्वारद्धो गुरुलहुदव्वाइ पेच्छिउं पच्छा। इयराइं कोइ पेच्छइ, विसुज्झमाणो कमेणेव ॥१॥ अगुरुलहुसमारद्धो उड्ढं वड्ढइ कमेण सो नाहो। वड्ढंतोऽविय कोई पेच्छइ इयराइं सयराहं ॥ २ ॥" (वि.६५५-६५६) अत्र 'सयराह'मिति शीघ्रं युगपदिति तात्पर्यार्थः ॥ अथ किं गुरुलघु किं वा अगुरुलघु इति शङ्कायां तत्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

"ओरालिय वेउविय आहारग तेय गुरुलहू दव्वा। कम्मगमणभासाइं एयाइं अगुरुलहुयाइं ॥ ४१ ॥

इह द्वौ नयौ-व्यवहारनयो निश्चयनयश्च, तत्र व्यवहारनयः प्राह-चतुर्धा द्रव्यम्, तद्यथा-किञ्चिद्गुरु किञ्चिल्लघु किञ्चिद्गुरुलघु किञ्चिदगुरुलघु, तत्र यदूर्ध्वं तिर्यग्वा प्रक्षिप्तमपि पुनर्निसर्गादधो निपतति द्रव्यं तद्गुरु, तद्यथा लोष्ठादि, यत्तु द्रव्यं निसर्गत एवोर्ध्वगतिस्वभावं तल्लघु, यथा दीपकलिकादिः, यत्पुनर्नोर्ध्वगतिस्वभावं नाप्यधोगतिस्वभावं किन्तु स्वभावेनैव तिर्यग्गतिधर्मकं तद्गुरुलघु, यथा वायुः, यत्तूर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावानामेकतरस्वभावमपि न भवति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

सर्वत्र वा गच्छति तदगुरुलघु, यथा व्योमपरमाण्वादि, उक्तं च-"गुरुयं लहुयं उभयं नोभयमिति वावहारियनयस्स । दव्वं लेट्ठुं दीवो वाऊ वोमं जहासंखं ॥१॥" (वि.६५८) निश्चयनयः पुनरिदमाह-न सर्वगुर्वेकांतेन किमपि वस्त्वस्ति, गुरोरपि लोष्ट्रादेः प्रयोगादूर्ध्वादिगमनदर्शनात्, नाप्येकान्तेन सर्वलघ्वप्यस्ति, अतिलघोरपि वाय्वादेः करताडनादिना अधोगमनादिदर्शनतः, तस्माद् द्विविधमेव वस्तु, तद्यथा-गुरुलघु अगुरुलघु च, तत्र यद् बादरं भूभूधरादिकं तत्सर्वं गुरुलघु, शेषं तु भाषाप्राणापानमनोवर्गणादिकं परमाणुद्व्यणुकव्योमादिकं च सर्वमगुरुलघु, उक्तं च-"निच्छयतो सव्वगुरुं सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं । ववहारमिह गुरुलहुयं अगुरुलहुं सेसयं दव्वं ॥१॥" (वि. ६५९) तत्रेयं गाथा निश्चयनयमतेन, पदार्थव्याख्या त्वेवम्—औदारिकवैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि अपराण्यपि तैजसद्रव्यप्रत्यासन्नानि तदाभासानि बादररूपत्वाद् 'गुरुलघूनि' गुरुलघुस्वभावानि, कार्म्मणमनोभाषाद्रव्याणि तु आदिशब्दात् प्राणापानद्रव्याणि भाषाद्रव्यावाग्वर्त्तीनि भाषाभासानि अपराण्यपि च परमाणुद्व्यणुकादीनि व्योमादीनि च एतानि 'अगुरुलघूनि' अगुरुलघुस्वभावानि ॥ वक्ष्यमाणगाथाद्वयसम्बन्ध एवं-पूर्वं किल क्षेत्रकालसम्बन्धिनोः केवलयोरङ्गुलावलिकासङ्ख्येयादिविभागकल्पनया परस्परोपनिबन्ध उक्तः, सम्प्रति तयोरेवोत्कलक्षणेन द्रव्येण सह परस्परोपनिबन्ध उपदर्श्यते—

संखेज्ज मणोदव्वे, भागो लोगपलियस्स बोद्धव्वो । संखेज्ज कम्मदव्वे, लोगे थोवूणयं पलियं ॥ ४२ ॥
तेयाकम्मसरीरे तेयादव्वे य भासदव्वे य । बोद्धव्वमसंखेज्जा दीवसमुद्दा य कालो य ॥ ४३ ॥

मनोवर्गणागतं मनःपरिणामयोग्यं मनोद्रव्यं तस्मिन् मनोद्रव्ये-मनोद्रव्यविषये अत्रधौ 'संखेज्जत्ति' सङ्ख्येयतमो

Jain Education Intern... For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागो लोकपल्योपमयोः, सूत्रे चैकत्वं समाहारद्वन्द्वविवक्षणात्, विषयत्वेन बोद्धव्यः, किमुक्तं भवति?–मनोवर्गणागतं द्रव्यं पश्यन् अवधिः क्षेत्रतो लोकस्य सङ्ख्याततमं भागं कालतस्तु पल्योपमस्य सङ्ख्याततमं भागं पश्यति, 'संखेज्ज कम्मदव्वे' इति कर्म्मवर्गणागतं कर्मपरिणामयोग्यं कर्मद्रव्यं तद्विषयेऽवधौ सङ्ख्येया लोकपल्योपमयोर्भागा विषयत्वेन विज्ञेयाः, इदमुक्तं भवति–कर्म्मवर्गणाद्रव्यं पश्यन् अवधिः क्षेत्रतो लोकस्य सङ्ख्येयान् भागान् पश्यति, कालतस्तु पल्योपमस्य सङ्ख्येयान् भागान्, उक्तं च–"लोगपलियाण भागं संखइमं मुणइ जो मणोदवं। संखेज्जे पुण भागे, पासइ जो कम्मुणो जोग्गं ॥१॥"(वि.६७०)'लोए थोऊणयं पलियं' ति लोके–चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकविषयेऽवधौ कालतः स्तोकोनं पल्योपमं विषयतया विज्ञेयम्, किमुक्तं भवति?–क्षेत्रतः समस्तं लोकं पश्यन्नवधिः कालतः स्तोकोनं पल्योपमं पश्यतीति, द्रव्येण सह क्षेत्रकालयोरुपनिबन्धे प्रस्तुते केवलयोरुपनिबन्धप्ररूपणमसमीचीनं, विस्मरणशीलतासूचकत्वादिति चेत्, नैष दोषः, द्रव्योपनिबन्धस्यात्रापि सामर्थ्यप्रापितत्वात्, तथाहि–पूर्वं 'काले चउण्ह वुड्ढी' इत्युक्तम्, कालवृद्धिश्चात्र अनन्तरोक्तकर्म्मद्रव्यदर्शकापेक्षया प्रतिपादिता, ततोऽस्य समस्तलोकस्तोकोनपल्योपमदर्शिनः सामर्थ्यात्कर्म्मद्रव्योपरि यत् किमपि ध्रुववर्गणादि तद्विषयत्वेन द्रष्टव्यम्, अत एव तदुपर्युपरि द्रव्याणि पश्यतः क्षेत्रकालवृद्धिक्रमेण परमावधिसम्भवोऽप्यनुमेयः, द्वितीयगाथाव्याख्या–शरीरशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तैजसशरीरे कार्मणशरीरे च–एतद्विषयेऽवधाविति भावः, तथा तैजसवर्गणाद्रव्यविषयेऽवधौ भाषाद्रव्यवर्गणाविषये चावधौ क्षेत्रतः प्रत्येकमसङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः कालश्चासङ्ख्येयः–पल्योपमासङ्ख्येयभागरूपो विषयत्वेनावसातव्यः, इह यद्यप्यविशेषेणोक्तं तथापि तैजसशरीरात् कार्मणशरीरस्य सूक्ष्मत्वात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तद्दर्शिन इदमेव द्वीपसमुद्रकालासङ्ख्येयत्वं बृहद् द्रष्टव्यम्, कार्मणशरीरादप्यबद्धानां तैजसवर्गणाद्रव्याणां सूक्ष्मत्वाद् बृहत्तरं, तेभ्योऽपि भाषाद्रव्याणामतिसूक्ष्मत्वाद् बृहत्तममिति, ननु पूर्वं कर्म्मद्रव्यदर्शिनः प्रत्येकं लोकपल्योपमभागाः सङ्ख्येया विषयत्वेनोक्ताः, अत्र तु कार्म्मणशरीरद्रव्यदर्शिनः किमतिस्तोकावेव क्षेत्रकालौ विषयत्वेनाभिहिताविति, उच्यते–पूर्वं कर्म्मद्रव्याणि कर्म्मवर्गणागतानि जीवेन शरीरतया अवद्धानि उक्तानि, अत्र तु शरीरतया बद्धानि, बद्धानि चाबद्धेभ्यो बादराणि भवन्ति, अव्यूततन्तुभ्यो व्यूततन्तुषु तथादर्शनात्, ततः कार्मणशरीरदर्शिनः स्तोकौ क्षेत्रकालावुक्ताविति, अपरस्त्वाह–ननु यदि तैजसद्रव्याणि पश्यतोऽसङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः कालश्चासङ्ख्येयो विषयः, तर्हि यत्प्रागुक्तम्-तैजसभाषापान्तरालद्रव्यदर्शिनोऽङ्गुलावलिकासङ्ख्येयभागादि क्षेत्रकालप्रमाणं तद्विरुध्यते, अपान्तरालद्रव्याणि हि तैजसेभ्योऽपि परत्वात्सूक्ष्माणि, तत्र तैजसद्रव्योपलब्धावसङ्ख्येयक्षेत्रकालाभिधानं तैजसद्रव्येभ्योऽपि परसूक्ष्मद्रव्योपलब्धौ त्वङ्गुलावलिकाऽसङ्ख्येयभागादिक्षेत्रकालाभिधानमिति कथं न विरोधः ?, नैष दोषः, इह विचित्रा वस्तुशक्तयः, ततोऽपान्तरालद्रव्याणि प्रारम्भकस्यावधेर्विषयः, तैजसानि त्वसङ्ख्येयद्वीपसमुद्रासङ्ख्येयकालविषयस्येति न कश्चिद्दोषः, यदिवा अल्पद्रव्याण्यधिकृत्य तत् अङ्गुलावलिकासङ्ख्येयभागादिक्षेत्रकालप्रमाणमुक्तमिदं तु प्रचुरतैजसद्रव्याण्यधिकृत्यासङ्ख्येयद्वीपसमुद्रासङ्ख्येयकालाभिधानमित्यविरोधः ॥ ननु जघन्यावधिप्रमेयं प्रतिपादयता गुरुलघ्वगुरुलघु च द्रव्यं पश्यतीत्युक्तं, न सर्वमेव, विमध्यमावधिप्रमेयमपि च अङ्गुलावलिकासङ्ख्येयभागाद्यभिधानान्न सर्वद्रव्यरूपं, तत्रस्थानामेव दर्शनात्, तत उत्कृष्टावधेरपि किमसर्वद्रव्यरूपमालम्बनमाहोश्चित् सर्वद्रव्यमालम्बनमिति संशयः, ततस्तदपनोदार्थमाह—

॥ ६२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

"एगपएसोगाढं, परमोही लहइ कम्मगसरीरं । लहइ अ अगुरुअलहुअं तेअसरीरे भवपुहुत्तं" ॥ ४४ ॥

प्रकृष्टो देशः प्रदेशः एकश्चासौ प्रदेशश्च एकप्रदेशः तस्मिन्नवगाढं-व्यवस्थितं एकप्रदेशावगाढं-परमाणुद्व्यणुकादि द्रव्यं, परमश्चासावविधिश्च परमावधिः उत्कृष्टावधिरित्यर्थः, लभते पश्यति, अवध्यवधिमतोरभेदोपचारादवधिः पश्यतीत्युक्तम्, तथा कार्मणशरीरं च लभते, आह-परमाणुद्व्यणुकादिकं द्रव्यमनुक्तं कथं लभ्यते ?, यावता एकप्रदेशावगाढं कार्मणशरीरमित्युपात्तमेव कस्मान्न योज्यते ?, तदसम्यक्, कार्मणशरीरस्य जीवप्रदेशानुसारितया सङ्ख्यातीतप्रदेशावगाहित्वेनैकप्रदेशावगाढत्वायोगात्, लभते चागुरुलघु चशब्दाद् गुरुलघु च जात्यपेक्षया सर्वमे(त्रै)कवचनम्, ततः सर्वाण्यप्येकप्रदेशावगाढानि कार्मणशरीराणि अगुरुलघूनि गुरुलघूनि च द्रव्याण्यसौ पश्यतीति प्रतिपत्तव्यमिति, तथा तैजसशरीरविषयेऽवधौ कालतो भवपृथक्त्वं तेनासङ्ख्येयेन कालेन विशिष्यते, भवपृथक्त्वमध्य एव स पल्योपमासङ्ख्येयभागः कालो नाधिकः, एतन्मध्ये एव च भवपृथक्त्वं न तदतिक्रमेऽपीति । आह—नन्वेकप्रदेशागाढस्य परमाण्वादेरतिसूक्ष्मत्वात् तदुपलम्भे बादराणां कार्मणशरीरादीनामुपलम्भो गम्यते एव, ततः किमर्थं तेषां पृथगुपन्यासो ?, व्यर्थत्वात्, अथवा एकप्रदेशावगाढमित्यपि न वक्तव्यम्, 'रूपगतं लभते सर्व'मित्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्, तदयुक्तं, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, तथाहि-यः सूक्ष्मं परमाण्वादि पश्यति तेन बादरं कार्म्मणशरीरादिकमवश्यं द्रष्टव्यम् यो वा बादरं पश्यति तेन सूक्ष्ममप्यवश्यं ज्ञातव्यमिति न कोऽपि नियमः, यतः-'तेयाभासादव्वाणमंतरा' इत्यादिवचनात् प्रथमोत्पत्तावगुरुलघुद्रव्यं पश्यन्नप्यवधिर्न गुरुलघूपलभते, अन्यद्वा अतिस्थूरमपि घटादिकं, तथा मनःपर्यायज्ञानी मनोद्रव्याणि सूक्ष्माण्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्यति, चिन्तनीयं तु घटादिकं स्थूरमपि न पश्यति, तत एवं विज्ञानविषयवैचित्र्यसम्भवे सति संशयव्यवच्छेदार्थमेक-प्रदेशावगाढग्रहणे सत्यपि शेषविशेषणोपादानमदुष्टमेव, यदप्युक्तम्–अथवा एकप्रदेशावगाढमित्यपि न वक्तव्यमित्यादि, तदप्यश्लीलं, तस्यैव वक्ष्यमाणस्य प्रपञ्चायास्य प्रवृत्तत्वात्, लभते रूपगतं सर्वं, यत एकप्रदेशावगाढादिकं पश्यतीति, यदिवा एकप्रदेशावगाढग्रहणेन परमाण्वादि द्रव्यं गृहीतम्, शेषं तु कर्मवर्गणापर्यन्तं कार्मणशरीरग्रहणेनोपलक्षितं, कर्म्मवर्गणोपरितनं तु सर्वमपि द्रव्यमगुरुलघुग्रहणेन गृहीतं, चशब्दसूचितगुरुलघुग्रहणेन तु घटपटभूभूधरादिकमतः समस्तपुद्गलास्तिकायविषयत्वं परमावधेरनेन सूत्रेणाविष्कृतं, तथा च सति रूपगतं लभते सर्वमित्येतद् वक्ष्यमाणमस्यैव नियमाय प्रतिपत्तव्यम्, 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय भवती'ति न्यायात्, एतदेव रूपगतं सर्वं लभते, नान्यदित्यलं विस्तरेण ॥ तदेवं परमावधेर्द्रव्यरूपो विषय उक्तः, अधुना क्षेत्रकालौ तद्विषयतया प्रतिपिपादयिषुराह—

"परमोहि असंखेज्जा लोगमेत्ता समा असंखेज्जा । रूवगयं लहइ सव्वं खेत्तोवमियं अगणिजीवा ॥ ४५ ॥"

परमश्चासाववधिश्च परमावधिः, क्षेत्रतोऽसङ्ख्येयानि लोकमात्राणि, खण्डानि इति गम्यते, लभते इति सम्बन्धः, कालतस्तु समा–उत्सर्पिण्यवसर्पिणीरसङ्ख्येया एव लभते, तथा द्रव्यतो रूपगतं–मूर्त्तद्रव्यजातं 'लभते' पश्यति 'सर्वं' समस्तं, किमुक्तं भवति?–परमाण्वादिभेदभिन्नं समस्तं पुद्गलास्तिकायं पश्यतीति, भावतस्तु प्रतिद्रव्यं सङ्ख्येयानसङ्ख्येयान् वा पर्यायानिति । यदुक्तमसङ्ख्येयानि लोकमात्राणि खण्डानि परमावधिः पश्यतीति, तदसङ्ख्येयकमूनमधिकं च कोऽपि सङ्कल्प-येदतो नियतपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह–उपमीयतेऽनेन उपमितं, बाहुलकात् करणे निष्ठाप्रत्ययः, क्षेत्रस्योपमितं क्षेत्रोपमितं,

परमावधे-र्विषयः गा. ४४–४५

॥ ६३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

क्षेत्रप्रमाणकारिणः प्रागभिहिता एवाग्निजीवाः, इदमुक्तं भवति–उत्कृष्टावधेर्विषयत्वेन क्षेत्रतो येऽसङ्ख्येया लोकाः प्रोक्तास्ते प्रागभिहितस्वागताहनाव्यवस्थापितोत्कृष्टासङ्ख्येयसूक्ष्मबादराग्निजीवसूच्या परमावधिमतो जीवस्य सर्वतो भ्रम्यमाणया यत्प्रमाणं क्षेत्रं व्याप्यते तत्प्रमाणाः समवसेया इति, ननु रूपगतं लभते सर्वमित्येतदनन्तरगाथायामर्थतोऽभिहितमेव ततः किमर्थं पुनरत्राभिहितम् ?, तदयुक्तम्, अत्रार्थे परिहारस्य प्रागेवोक्तत्वाद्, अथवा अनन्तरगाथायामेकप्रदेशावगाढमित्यादि परमावधेः द्रव्यपरिमाणमुक्तम्, इह तु रूपगतं लभते सर्वमिति क्षेत्रकालयोर्विशेषणं, तच्चैवम्–क्षेत्रकालद्वयं लोकमात्रासङ्ख्येयखण्डासङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणं यदि रूपिद्रव्यानुगतं भवति ततः समस्तं लभते, न केवलं, तस्यारूपित्वाद्-अवधिज्ञानस्य च रूपिद्रव्यनिबन्धनत्वात्, इत्थंभूतपरमावधिकलितश्च नियमादन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण केवलालोकलक्ष्मीमासादयति, उक्तं च–'परमोहिस्सणविदो केवलमंतोमुहुत्तमेत्तेण' (वि.६८९) ॥ तदेवं मनुष्यानधिकृत्य क्षायोपशमिकः खल्वनेकप्रकारोऽवधिरुक्तः, सम्प्रति तिरश्चोऽधिकृत्य तं प्रतिपिपादयिषुराह—

"आहारतेयलंभो, उक्कोसेणं तिरिक्खजोणीसु । गाउय जहण्णमोही नरएसु य जोयणुक्कोसो ॥ ४६ ॥"

आहारश्च तेजश्च आहारतेजसी तयोर्लाभः प्राप्तिः परिच्छित्तिरित्येकोऽर्थः आहारतेजोलाभः, सूत्रे च लम्भ इति निर्देशः प्राकृतत्वाद्, आहारतेजोग्रहणमुपलक्षणं, ततः यान्यौदारिकवैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि यानि च तदन्तरालेषु तदयोग्यानि तेषां सर्वेषामपि परिग्रहणं, उत्कर्षतस्तिर्यग्योनिषु, किमुक्तं भवति?–तैर्यग्योनिकसत्त्वाधारो योऽवधिः स उत्कर्षत औदारिकवैक्रियाहारकतेजोद्रव्याणि तदन्तरालद्रव्याणि च सर्वाणि पश्यतीति, उक्तं च–"ओरालियवेउव्वियआहार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गतेयगाइं तिरिएसु। उक्कोसेणं पेच्छइ जाइं च तदंतरालेसु ॥१॥" (वि. ६९१) एतद्द्रव्यानुसारेण क्षेत्रकालभावा अपि परिच्छेद्यतया स्वयमभ्यूह्याः, तदेवं यदुक्तम्–"काओ भवपच्चइआ, खओवसमियाओ काऽओ वि।" इति तत्र क्षायोपशमिकप्रकृतयोऽभिहिताः, अथ भवप्रत्ययास्ताः प्रतिपाद्याः, ताश्च सुरनारकाणां भवन्ति, तत्राल्पवक्तव्यत्वात् प्रथमं नारकाणामभिधित्सुराह–'गाउये' त्यादि, 'नरकेषु तु' नरकेषु पुनरुत्कृष्टेष्वेव मध्ये जघन्योऽवधिः क्षेत्रतो गव्यूतं पश्यति, स च सप्तमपृथिव्यामवसातव्यः, उत्कृष्टस्तु योजनं पश्यति, स च प्रथमायां पृथिव्याम्, आह च भाष्यकृत्–"भणितो खयोवसमिओ,भवपच्चइओ स चरमपुढवीए। गाउयमुक्कोसेणं पढमाए जोयणं होइ ॥१॥" (वि.६९२)इत्थंभूतक्षेत्रानुसारेण द्रव्यादयः स्वयं परिभावनीयाः॥तदेवं सामान्येन नारकजातिमधिकृत्याभिहितमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रपरिमाणम्,अथ तदेव रत्नप्रभादिपृथिवीभागेनाह—

"चत्तारि गाउयाइं, अद्धट्ठाइं तिगाउयं चेव। अड्ढाइज्जा दोन्नि य दिवड्ढमेगं च नरएसु ॥ ४७ ॥"

इह नरका नाम नारकाणामाश्रयाः, ते च सप्तपृथिव्याधारत्वेन सप्तधा भिद्यन्ते, तत्र नरकेषु रत्नप्रभायां उत्कृष्टमवधिक्षेत्रपरिमाणं चत्वारि गव्यूतानि जघन्यमर्द्धचतुर्थानि, शर्कराप्रभायामुत्कृष्टमर्द्धचतुर्थानि, अर्द्ध चतुर्थं येषां तान्यर्द्धचतुर्थानि, सार्द्धानि त्रीणि गव्यूतानीति भावः, जघन्यं त्रीणि गव्यूतानि, वालुकाप्रभायामुत्कृष्टं त्रीणि गव्यूतानि जघन्यमर्द्धतृतीयानि, पङ्कप्रभायामुत्कृष्टमर्द्धतृतीयानि जघन्यं द्वे गव्यूते, धूमप्रभायामुत्कृष्टं द्वे गव्यूते जघन्यं द्व्यर्द्धं गव्यूतं, तमःप्रभायामुत्कृष्टं द्व्यर्द्धं गव्यूतं, द्वितीयमर्द्धं यस्य तत् द्व्यर्द्धं, सार्धमित्यर्थः, पूरणार्थो वृत्तावन्तर्भूतो यथा द्वितीयो भागो द्विभाग इत्यत्र, जघन्यं गव्यूतं, तमस्तमःप्रभायामुत्कृष्टं गव्यूतं जघन्यमर्द्धं गव्यूतं, सर्वत्रोत्कृष्टमर्द्धगव्यूतोनं जघन्यमिति तात्प-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

र्यम्, अथ जघन्यमनुक्तं कुतोऽवसीयते ?, उच्यते, प्रज्ञापनासूत्रात्, तथा च तत्सूत्रम्—"रयणप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?, गोयमा ! जहण्णेणमद्धट्ठाइं गाउयाइं, उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं जाणंति पासंति. सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं तिन्नि गाउयाइं उक्कोसेणं अद्धट्ठाइं गाउयाइं जाणंति पासंति, वालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं अड्ढाइज्जाइं गाउयाइं उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं जाणंति पासंति, पंकप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दोन्नि गाउयाइं उक्कोसेणं अड्ढाइज्जाइं गाउयाइं जाणंति पासंति, धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं दिवड्ढं गाउयं उक्कोसेणं दो गाउयाइं जाणंति पासंति, तमप्पभापुढवीनेरइयाणं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणं दिवड्ढगाउयं जाणंति पासंति, अहे सत्तमाए पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं अद्धगाउयं उक्कोसेणं गाउयं जाणंति पासंति" ननु यदि सप्तमपृथिव्यामर्द्धगव्यूतं जघन्यमवधिक्षेत्रपरिमाणं तर्हि यदुक्तं प्राक् 'गाउय जहण्णमोही नरएसु य' इति तद् व्याहन्यते, नैष दोषः, उत्कृष्टजघन्यापेक्षया तदभिधानात्, इदमत्र हृदयम्—सप्तस्वपि पृथिवीषु यद् गव्यूतचतुष्टयादिकमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रपरिमाणं तन्मध्ये सप्तमपृथिवीनारकाणां गव्यूतलक्षणमवधिक्षेत्रं स्वस्थाने उत्कृष्टमपि शेषपृथिव्युत्कृष्टापेक्षया सर्वस्तोकत्वाज्जघन्यमुक्तमिति, न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत आह भाष्यकृत्—"अद्धट्ठगाइयाइं, जहण्णयं अद्धगाउयंताइं। जं गाउयंति भणियं तंपिय उक्कोसगजहण्णं ॥१॥ (वि.६९४) तदेवं नारकसम्बन्धिनो भवप्रत्ययावधेः स्वरूपमभिहितम्, सम्प्रति देवसम्बन्धिनः प्रतिपिपादयिषुरिदं गाथात्रयमाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"सक्कीसाणा पढमं, दोच्चं च सणंकुमारमाहिंदा । तच्चं च बंभलंतग सुक्कसहस्सारग चउत्थिं ॥ ४८ ॥
आणयपाणयकप्पे, देवा पासंति पंचमिं पुढविं । तं चेव आरणच्चुय ओहीणाणेण पासंति ॥ ४९ ॥
छट्ठिं हेट्ठिममज्झिमगेविज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला । संभिन्नलोगनालिं, पासंति अणुत्तरा देवा ॥ ५० ॥

शक्रश्च ईशानश्च शक्रेशानौ–सौधर्मेशानकल्पदेवेन्द्रौ प्रथमां रत्नप्रभाभिधानां पृथिवीं, पश्यन्तीति क्रियां द्वितीयगाथायां वक्ष्यति, शक्रेशानग्रहणं चोपलक्षणं तेन सौधर्म्मेशानकल्पनिवासिनो देवाः सामानिकादयोऽपि परिगृह्यन्ते, तेषामप्यवधिना रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सर्वान्तिममधस्तनं भागं यावद्दर्शनात्, द्वितीयां च पृथिवीमित्यग्रतः सम्बध्यते, सनत्कुमारमाहेन्द्रौ–तृतीयचतुर्थकल्पदेवाधिपौ, अत्रापीन्द्रग्रहणमुपलक्षणं तेन तत्कल्पनिवासिनः सामानिकादयोऽपि प्रतिपत्तव्याः, एवं तृतीयां च पृथिवीं ब्रह्मलोकलान्तकदेवेन्द्रोपलक्षितास्तत्कल्पनिवासिनो देवाः पश्यन्ति, शुक्रसहस्रारसुरेन्द्रोपलक्षितास्तत्कल्पनिवासिनश्चतुर्थीं (र्थीं) पृथिवीं पश्यन्ति । द्वितीयगाथाव्याख्या–आनतप्राणतकल्पे प्राकृतत्वाद्विभक्तिवचनव्यत्यय इति वचनात् द्वयोरर्थयोरेकवचनं, ततोऽयमर्थः–आनतप्राणतयोः कल्पयोर्देवाः पश्यन्ति पञ्चमीं पृथिवीं, तामेव आरणाच्युतयोः कल्पयोर्देवा अवधिज्ञानेन पश्यन्ति, स्वरूपकथनमेवेदम्, नतु व्यवच्छेदकमवधिज्ञानस्यैवेह प्रस्तुततया व्यवच्छेद्याभावात्, नवरं तां विशुद्धतरां बहुपर्यायां चेति प्रतिपत्तव्यम्, उत्तरोत्तरदेवानां विमलतरावधिज्ञानसद्भावात् । तृतीयगाथाव्याख्या–लोकपुरुषग्रीवास्थाने भवानि ग्रैवेयकानि विमानानि, तानि च त्रिधा–अधस्तनग्रैवेयकानि मध्यमग्रैवेयकानि उपरितनग्रैवेयकानि च, तत्राधस्तनमध्यमग्रैवेयका आधेये आधारोपचारात् अधस्तनम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यमग्रैवेयकविमानवासिनो देवाः षष्ठीं तमःप्रभाभिधानां पृथिवीं पश्यन्ति, सप्तमीं च पृथिवीं उपरितना-उपरितनग्रैवेयकविमानवासिनो देवाः पश्यन्ति, तथा सम्भिन्नां चतसृष्वपि दिक्षु स्वज्ञानेन व्याप्तां लोकनाडीं चतुर्दशरज्जुप्रमाणां कन्याचोलकसंस्थानामवधिना पश्यन्ति 'अनुत्तरा' अनुत्तरविमानवासिनो देवाः। एष क्षेत्रतो देवानां भवप्रत्ययावधेर्विषय उक्तः, एतदनुसारेण द्रव्यतः कालतो भावतश्चावसेयः, तदेवमधो वैमानिकावधेः क्षेत्रपरिमाणं प्रतिपादितम्, अधुना तिर्यगूर्ध्वं च तत्प्रतिपादयन्नाह—

"एएसिमसंखेज्जा, तिरियं दीवा य सागरा चेव। बहुययरं उवरिमगा उड्ढं च सकप्पथूभाइं ॥ ५१ ॥

एतेषां सौधर्मादिदेवानां सङ्ख्यायन्ते इति सङ्ख्येया न सङ्ख्येया असङ्ख्येयास्तिर्यक् द्वीपाश्च जम्बूद्वीपादयः सागराश्च लवणसागरादयः, क्षेत्रतोऽवधिपरिच्छेद्यतया इति वाक्यशेषः, तदेव द्वीपसमुद्रासङ्ख्येयं बहुतरकं-प्रभूततरं पश्यन्ति उपरिमा एव उपरिमकाः, उपर्युपरि देवलोकनिवासिनो देवा इत्यर्थः, उपर्युपरिदेवलोकनिवासिनां देवानां विशुद्धविशुद्धतरावधिज्ञानसद्भावात्, तथा ऊर्ध्वं स्वकल्पस्तूपाग्रेय यावत्, आदिशब्दात् ध्वजादिपरिग्रहः, क्षेत्रं सौधर्मादयो देवाः सर्वेऽपि पश्यन्ति, न परतः, तथा भवस्वाभाव्यात्, जघन्यतः पुनरमी सर्वेऽपि सौधर्मादयोऽनुत्तरविमानवासिपर्यन्ता अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रं क्षेत्रं पश्यन्ति, उक्तं च प्रज्ञापनायाम्-"सोहम्मगदेवा णं भंते! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति?, गोयमा! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, तिरियं जाव असंखेज्जे दीवसमुद्दे, उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति, एवं ईसाणगदेवावि, सणंकुमारदेवावि एवं चेव, नवरं 'अहे जाव दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, एवं माहिंददेवावि, बंभलोगलंतगदेवा तच्चाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, महासुक्कसहस्सारगदेवा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, आणयपाणयआरण-अच्चुयदेवा अहे पंचमाए पुढविए धूमप्पभाए हेट्ठिल्ले चरमंते, हेट्ठिममज्झिमगेविज्जगदेवा अहे जाव छट्ठीए तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरमंते, उवरिमगेविज्जगदेवा णं भंते ! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति?, गोयमा! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जभागं उक्कोसेणं अहे सत्तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, तिरियं जाव असंखिज्जे दीवसमुद्दे, उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति, अणुत्तरोववाइदा णं भंते ! देवा णं केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जभागं उक्कोसेणं संभिन्नं लोगनालिं जाणंति पासंति", अत्र अपर आह–नन्वङ्गुलासङ्ख्येयभाग-प्रमितोऽवधिः सर्वजघन्यो भवति, सर्वजघन्यश्चावधिस्तिर्यङ्मनुष्येष्वेव, न शेषेषु, यत आह भाष्यकृत् स्वकृतभाष्य-टीकायाम्–"उत्कृष्टो मनुष्येष्वेव नान्येषु, मनुष्यतिर्यग्योनिषु जघन्यो नान्येषु, शेषाणां मध्यम एवे"ति, वक्ष्यति च–'उक्कोसो मणुएसुं मणुस्सतिरिच्छएसु य जहण्णो'इति(वि.७०३) तत्कथमिह वैमानिकानां सर्वजघन्य उक्तः?, उच्यते–सौधर्मादिदेवानां पारभाविकोऽप्युपपातकालेऽवधिः सम्भवति, स च सर्वजघन्योऽपि कदाचिदवाप्यते, उपपातानन्तरं तु देवभवप्रत्ययज-स्ततो न कश्चिद्दोषः, आह च दुष्यमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भाष्यकृत् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः–"वेमाणि-याणमंगुलभागमसंखं जहण्णतो होइ । उववाए परभविओ, तब्भवजो होइ तो पच्छा ॥१॥" (वि.७०२) तदेवं वैमानि-कानामवधिक्षेत्रपरिमाणमुक्तम्, इदानीं सामान्यतस्तद्वर्जदेवानां प्रतिपिपादयिषुराह—

"संखेज्जजोयणा खलु, देवाणं अद्धसागरे ऊणे । तेण परमसंखेज्जा जहण्णयं पण्णवीसं तु ॥ ५२ ॥

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

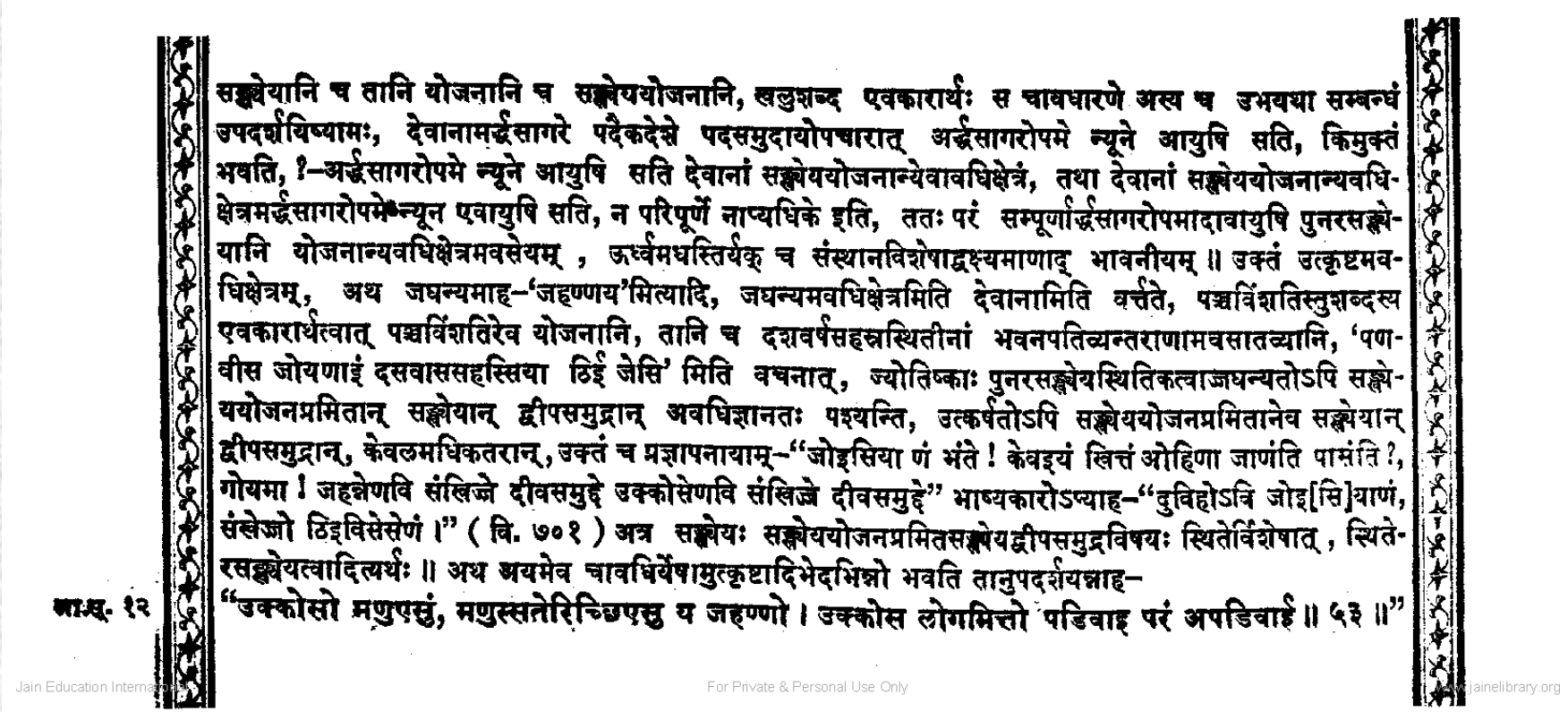

सङ्ख्येयानि च तानि योजनानि च सङ्ख्येययोजनानि, खलुशब्द एवकारार्थः स चावधारणे अस्य च उभयथा सम्बन्धं उपदर्शयिष्यामः, देवानामर्द्धसागरे पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् अर्द्धसागरोपमे न्यूने आयुषि सति, किमुक्तं भवति, ?–अर्द्धसागरोपमे न्यूने आयुषि सति देवानां सङ्ख्येययोजनान्येवावधिक्षेत्रं, तथा देवानां सङ्ख्येययोजनान्यवधिक्षेत्रमर्द्धसागरोपमेऽन्यून एवायुषि सति, न परिपूर्णे नाप्यधिके इति, ततः परं सम्पूर्णार्द्धसागरोपमादावायुषि पुनरसङ्ख्येयानि योजनान्यवधिक्षेत्रमवसेयम् , ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च संस्थानविशेषाद्वक्ष्यमाणाद् भावनीयम् ॥ उक्तं उत्कृष्टमवधिक्षेत्रम्, अथ जघन्यमाह–'जहण्णय'मित्यादि, जघन्यमवधिक्षेत्रमिति देवानामिति वर्त्तते, पञ्चविंशतिस्तुशब्दस्य एवकारार्थत्वात् पञ्चविंशतिरेव योजनानि, तानि च दशवर्षसहस्रस्थितीनां भवनपतिव्यन्तराणामवसातव्यानि, 'पणवीस जोयणाइं दसवाससहस्सिया ठिई जेसि' मिति वचनात्, ज्योतिष्काः पुनरसङ्ख्येयस्थितिकत्वाज्जघन्यतोऽपि सङ्ख्येययोजनप्रमितान् सङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अवधिज्ञानतः पश्यन्ति, उत्कर्षतोऽपि सङ्ख्येययोजनप्रमितानेव सङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान्, केवलमधिकतरान्, उक्तं च प्रज्ञापनायाम्–"जोइसिया णं भंते ! केवइयं खित्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?, गोयमा ! जहन्नेणवि संखिज्जे दीवसमुद्दे उक्कोसेणवि संखिज्जे दीवसमुद्दे" भाष्यकारोऽप्याह–"दुविहोऽवि जोइ[सि]याणं, संखेज्जो ठिइविसेसेणं ।" (वि. ७०१) अत्र सङ्ख्येयः सङ्ख्येययोजनप्रमितसङ्ख्येयद्वीपसमुद्रविषयः स्थितेर्विशेषात् , स्थितेरसङ्ख्येयत्वादित्यर्थः ॥ अथ अयमेव चावधिर्येषामुत्कृष्टादिभेदभिन्नो भवति तानुपदर्शयन्नाह–

भा.सू. १२ "उक्कोसो मणुएसुं, मणुस्सतेरिच्छिएसु य जहण्णो । उक्कोस लोगमित्तो पडिवाइ परं अपडिवाई ॥ ५३ ॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

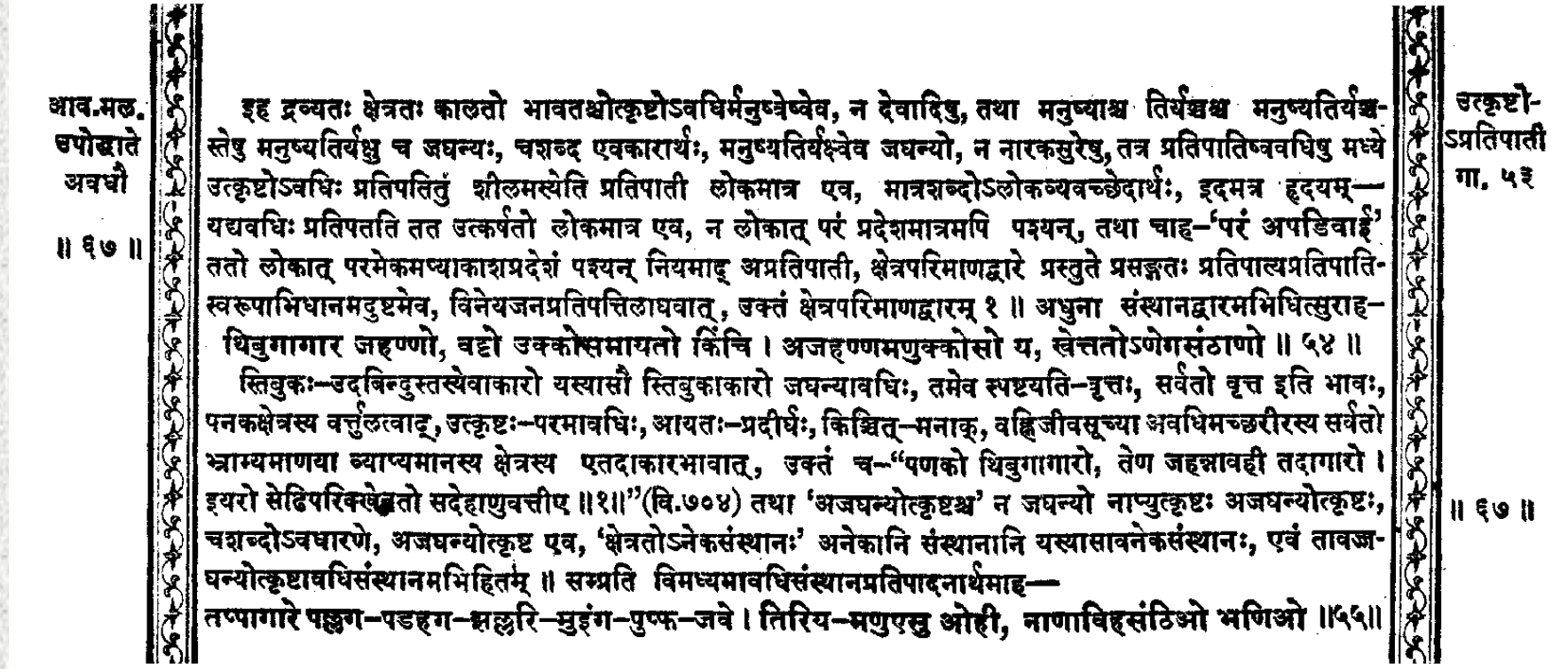

आव.मल. उपोद्घाते अवधौ ॥ ६७ ॥

इह द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चोत्कृष्टोऽवधिर्मनुष्वेष्वेव, न देवादिषु, तथा मनुष्याश्च तिर्यञ्चश्च मनुष्यतिर्यञ्चस्तेषु मनुष्यतिर्यक्षु च जघन्यः, चशब्द एवकारार्थः, मनुष्यतिर्यक्ष्वेव जघन्यो, न नारकसुरेषु, तत्र प्रतिपातिष्ववधिषु मध्ये उत्कृष्टोऽवधिः प्रतिपतितुं शीलमस्येति प्रतिपाती लोकमात्र एव, मात्रशब्दोऽलोकव्यवच्छेदार्थः, इदमत्र हृदयम्— यद्यवधिः प्रतिपतति तत उत्कर्षतो लोकमात्र एव, न लोकात् परं प्रदेशमात्रमपि पश्यन्, तथा चाह–'परं अपडिवाई' ततो लोकात् परमेकमप्याकाशप्रदेशं पश्यन् नियमाद् अप्रतिपाती, क्षेत्रपरिमाणद्वारे प्रस्तुते प्रसङ्गतः प्रतिपात्यप्रतिपातिस्वरूपाभिधानमदुष्टमेव, विनेयजनप्रतिपत्तिलाघवात्, उक्तं क्षेत्रपरिमाणद्वारम् १ ॥ अधुना संस्थानद्वारमभिधित्सुराह–

थिबुगागार जहण्णो, वट्टो उक्कोसमायतो किंचि । अजहण्णमणुक्कोसो य, खेत्ततोऽणेगसंठाणो ॥ ५४ ॥

स्तिबुकः–उदबिन्दुस्तस्येवाकारो यस्यासौ स्तिबुकाकारो जघन्यावधिः, तमेव स्पष्टयति–वृत्तः, सर्वतो वृत्त इति भावः, पनकक्षेत्रस्य वर्तुलत्वाद्, उत्कृष्टः–परमावधिः, आयतः–प्रदीर्घः, किञ्चित्–मनाक्, वह्निजीवसूच्या अवधिमच्छरीरस्य सर्वतो भ्राम्यमाणया व्याप्यमानस्य क्षेत्रस्य एतदाकारभावात्, उक्तं च–"पणको थिबुगागारो, तेण जहन्नावही तदागारो । इयरो सेढिपरिक्खेत्ततो सदेहाणुवत्तीए ॥१॥"(वि.७०४) तथा 'अजघन्योत्कृष्टश्च' न जघन्यो नाप्युत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्टः, चशब्दोऽवधारणे, अजघन्योत्कृष्ट एव, 'क्षेत्रतोऽनेकसंस्थानः' अनेकानि संस्थानानि यस्यासावनेकसंस्थानः, एवं तावज्जघन्योत्कृष्टावधिसंस्थानमभिहितम् ॥ सम्प्रति विमध्यमावधिसंस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

तप्पागारे पल्लग–पडहग–झल्लरि–मुइंग–पुप्फ–जवे । तिरिय–मणुएसु ओही, नाणाविहसंठिओ भणिओ ॥५५॥

उत्कृष्टोऽप्रतिपाती गा. ५३

॥ ६७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

इह उत्तरार्द्धे तिर्यग्मनुष्याणामवधेर्नानाविधसंस्थानभणनात् पूर्वार्द्धेन संस्थानप्रतिपादनं यथाक्रमं नारकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पोपपन्नकल्पातीतग्रैवेयकानुत्तरसुराणामवधेरवसातव्यम्, तथा च पूर्वार्द्धप्रतिपादितसंस्थानविषयं भाष्यम्–"नेरइय-भवण-वणयर-जोइस-कप्पालयाणमोहिस्स । गेविज्जणुत्तराण-य होंतागिइओ जहासंखं ॥१॥" (वि.७०७) तप्रो नाम काष्ठसमुदायविशेषो यो नदीप्रवाहेण प्लाव्यमानो दूरादानीयते, स च आयतस्त्र्यस्रश्च भवति, तस्येवाकारो यस्यासौ तप्राकारोऽवधिर्नारकाणां, 'पल्लग'त्ति पल्लको नाम लाटदेशे धान्याधारविशेषः, स च ऊर्ध्वायत उपरि च किञ्चित्सङ्क्षिप्तः, आकारशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, पल्लकस्येवाकारो यस्यासौ पल्लकाकारो भवनपतीनां, पटहः–आतोद्यविशेषः, स च किञ्चिदायत उपर्यधश्च समप्रमाणः, पटह एव पटहकस्तदाकारोऽवधिर्व्यन्तराणाम्, तथा उभयतो विस्तीर्णा चर्मावनद्धमुखा मध्ये सङ्क्षिप्ता ढक्काकारा झल्लरी–आतोद्यविशेषरूपा तदाकारोऽवधिर्ज्योतिष्कदेवानां, मृदङ्गो–वाद्यविशेषः, स चाधस्ताद्विस्तीर्णः उपरि च तनुकः सुप्रतीतस्तदाकारोऽवधिः सौधर्मादिदेवानामच्युतदेवपर्यन्तानां, 'पुप्फ'त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सप्रशिखा पुष्पभृता चङ्गेरी पुष्पचङ्गेरी परिगृह्यते, तदाकारोऽवधिर्ग्रैवेयकविमाननिवासिदेवानां, 'जव' इति अत्रापि पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् यवनालक इति द्रष्टव्यम्, यवनालको नाम कन्याचोलकः, स च मरुमण्डलादिप्रसिद्धश्चरणकरूपेण कन्यापरिधानेन सह सीवितो भवति येन परिधानं न स्खलति, कन्यानां चैष मस्तकप्रदेशेन प्रक्षिप्यते, अत एवायमूर्ध्वः सरकञ्चुक इति व्यपदिश्यते, तथा च तप्रादिव्याख्यानं कुर्वन्नाह भाष्यकृत्–"तप्पेण समागारो तप्पागारो स चाययत्तंसो । उड्ढायओ य पल्लो, उवरिं च स किंचि संखित्तो ॥ २ ॥ नच्चायओ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समोऽविय, पडहो हिट्ठोवरिं पईओ सो । चम्मावणद्धविच्छिण्णवलयरूवा य झल्लरिया ॥३॥ उड्ढायओ मुइंगो, हेट्ठा रुंदो तहोवरिं तणुओ । पुप्फसिहावलिरइया, चंगेरी पुप्फचंगेरी ॥ ४ ॥ जवनालउत्ति भणिओ, उब्भो सरकंचुओ कुमारीए । अह सव्वकालनियओ कायाइक्कोऽवि सेसाणं ॥ ५ ॥" इति,(वि.७०८-११) यवनालकाकारोऽवधिरनुत्तरसुराणां । एष च नारकादीनामनुत्तरसुरपर्यन्तानामेतदाकारः सर्वकालनियतः प्रत्येतव्यः । 'तिरियमणुएसु' इत्यादि, तिर्यञ्चश्च मनुष्याश्च तिर्यङ्मनुष्यास्तेषु अवधिर्नानाविधं संस्थितं संस्थानं यस्य स नानाविधसंस्थितः, स्वयम्भूरमणजलनिधिवासिमत्स्यगणवत्, अपिच–तत्र मत्स्यानां वलयाकारं संस्थानं निषिद्धं, तिर्यङ्मनुष्यावधेस्तु तदपि भवति, उक्तं च–"नाणागारो तिरियमणुएसु मच्छा सयंभूरमणेव । तत्थ वलयं निसिद्धं, तस्सिह पुण तंपि होज्जा हि ॥ ६ ॥ (वि.७१२)" भणितः–प्रतिपादितस्तीर्थकरगणधरैः, अनेन च संस्थानप्रतिपादनेनेदमावेदितम्–भवनपतिव्यन्तराणामूर्ध्वं प्रभूतोऽवधिर्वैमानिकानामधः ज्योतिष्कनारकाणां तिर्यग् विचित्रो नरतिरश्चाम्, आह च भाष्यकृत्–"भवणवइ–वंतराणं उड्ढं बहुगो अहो य सेसाणं । नारग-जोइसियाणं तिरियं ओरालिओ चित्तो ॥ ७ ॥" (वि.७१३) उक्तं संस्थानद्वारम् २ । सम्प्रति सप्रतिपक्षमानुगामिकद्वारार्थं प्रचिकटयिषयेदमाह—

अणुगामिओ य ओही, नेरइयाणं तहेव देवाणं । अणुगामी अणणुगामी मीसो य मणुस्सतेरिच्छे ॥ ५६ ॥

गच्छन्तं पुरुषमासमन्तात् अनुगच्छतीत्येवंशीलः अनुगामी अनुगाम्येवानुगामिकः, स्वार्थे कप्रत्ययः, यदिवा अनुगमः प्रयोजनमस्येत्यानुगामिकः, अनुशतिकादिपाठाभ्युपगमादुभयपदवृद्धिः, आनुगामिकश्चावधिर्द्विधा, तद्यथा–अन्तगतो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यगतः, अथान्तगत इति कः शब्दार्थः?, उच्यते, इह पूर्वाचार्यप्रदर्शितमर्थत्रयम्, अन्ते–आत्मप्रदेशानां पर्यन्ते गतः–स्थितोऽन्तगतः, काऽत्र भावनेति चेत्, उच्यते–इहावधिरुत्पद्यमानः कोऽपि स्पर्द्धकरूपतयोत्पद्यते, स्पर्द्धकं च नाम अवधिज्ञानप्रभाया गवाक्षजालादिद्वारविनिर्गतप्रदीपप्रभाया इव प्रतिनियतो विच्छेदविशेषः, तथा चाह भाष्यकृत्स्वोपज्ञभाष्यटीकायां–"स्पर्द्धकमवधिविच्छेदकविशेष" इति, तानि च एकजीवस्यासङ्खेयानि सङ्खेयानि वा भवन्ति, यद्वक्ष्यति–'फड्डा य असंखेज्जा संखेज्जे यावि एगजीवस्स' (वि. ७३८) इति, तानि च विचित्ररूपाणि कानिचित्पर्यन्तवर्त्तिषु आत्मप्रदेशेषूत्पद्यन्ते, तत्रापि कानिचित्पुरतः कानिचित्पृष्ठतः कानिचिदधोभागे कानिचिन्मध्यवर्त्तिष्वात्मप्रदेशेषु, तत्र यः पर्यन्तवर्त्तिष्वात्मप्रदेशेष्ववधिरुत्पद्यते स आत्मनः पर्यन्ते स्थित इतिकृत्वा अन्तगत इत्यभिधीयते, तैरेव पर्यन्तवर्त्तिभिरात्मप्रदेशैः साक्षादवबोधात्, अथवा औदारिकशरीरस्यान्ते गतः–स्थितोऽन्तगतः, औदारिकशरीरमधिकृत्य कयाचिदेकया दिशोपलम्भात्, इदमपि स्पर्द्धकरूपकमवधिज्ञानं, अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरान्ते कयाचिदेकया दिशा यद्वशादुपलभते सोऽप्यन्तगतः, आह–यदि सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति?, उच्यते, एकदिशैव क्षयोपशमसम्भवात्, विचित्रो हि देशाद्यपेक्षया कर्म्मणां क्षयोपशमः, ततः सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानामित्थंभूत एव स्वसामग्रीवशात् क्षयोपशमः संवृत्तो यदौदारिकशरीरमपेक्ष्य कयाचिद्विवक्षितया दिशा पश्यतीति, तथा चोक्तं नन्द्यध्ययनचूर्णौ "ओरालियसरीरंते ठियं–गयंति एगट्ठं, तं च आयप्पएसफड्डगावट्ठिएगदिसोपलंभाओ य अंतगयमोहिनाणं भन्नइ, अहवा सव्वायप्पएसेसु विसुद्धेसुवि ओरालियसरीरगंतेण एगदिसि पासेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गयमंतगयंति भण्णइ" इति, एष द्वितीयोऽर्थस्तृतीयः पुनरयं-एकदिग्भाविना तेनावधिना यदुद्योतितं क्षेत्रं तस्यान्ते वर्त्तते सोऽवधिः, अवधिज्ञानवतस्तदन्ते वर्त्तमानत्वात्, ततोऽन्ते एकदिग्गतस्यावधिविषयस्य पर्यन्ते गतः-स्थितोऽन्तगतः, अन्तगतश्चावधिस्त्रिधा, तद्यथा-पुरतोऽन्तगतः पृष्ठतोऽन्तगतः पार्श्वतोऽन्तगतश्च, तत्र यथा कश्चित् पुरुषो हस्तगृहीतया दीपिकया पुरतः प्रेर्यमाणया पुरत एव पश्यति, नान्यत्र, एवं येनावधिना तथाविधक्षयोपशमभावतः पुरत एव सङ्ख्येयान्यसङ्ख्येयानि वा योजनानि पश्यति, नान्यत्र, सोऽवधिः पुरतोऽन्तगत इत्यभिधीयते, तथा स एव पुरुषो यथा पृष्ठतो हस्तेन ध्रियमाणया दीपिकया पृष्ठत एव पश्यत्येवं येनावधिना पृष्ठत एव सङ्ख्येयान्यसङ्ख्येयानि वा योजनानि पश्यति सः पृष्ठतोऽन्तगतः, येन पुनः पार्श्वत एकतो द्वाभ्यां वा सङ्ख्येयान्यसङ्ख्येयानि वा योजनानि पश्यति स पार्श्वतोऽन्तगतः, उक्तं च नन्द्यध्ययने-"पुरतोऽन्तगएणं ओहिणाणेणं पुरतो चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मग्गतोऽन्तगएणं ओहिणाणेणं मग्गतो चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा" इत्यादि, मध्यगत इत्यत्रापि त्रिधा व्याख्यानं, इह मध्यं प्रसिद्धं दण्डादेरिव, तत्रात्मप्रदेशानां मध्ये-मध्यवर्त्तिष्वात्मप्रदेशेषु गतः-स्थितो मध्यगतः, अयं च स्पर्द्धकरूपः सर्वदिगुपलम्भकारणं मध्यवर्त्तिनामात्मप्रदेशानामवधिरवसातव्यः, अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरमध्यभागेनोपलब्धेः, तन्मध्ये गतो मध्यगतः, उक्तं च नन्द्यध्ययनचूर्णौ-"ओरालियसरीरमज्झे फड्डगविसुद्धीतो सव्वायप्पएसविसुद्धीतो वा सव्वदिसोवलंभत्तणतो मज्झगतोत्ति भण्णइ' त्ति, अथवा तेनावधिना यदुद्योतितं क्षेत्रं सर्वासु दिक्षु तस्य मध्यभागे स्थितो मध्यगतः, अवधिज्ञानिनस्तदुद्योतितक्षेत्रमध्यवर्त्तित्वात्, आह च नन्द्यध्ययन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूर्णिकृत्–"अहवा उवलद्धिखेत्तस्स अवधिपुरिसो मज्झगतोत्ति, अतो वा मज्झगतो ओहि भण्णइ" इति, तत्रेहान्तगतो न ग्राह्यो, देवनारकाणामभ्यन्तरावधित्वात्, किन्तु मध्यगतः, सोऽप्यन्त(न्त्य)व्याख्यानविशिष्टो, देवनारकाणां स्वावधिद्योतितक्षेत्रमध्यवर्त्तित्वात्, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, आनुगामिक एव यथोक्तरूपो नान्य इति, केषामित्याह–नरान् कायन्ति–स्वयोग्यान् आह्वयन्तीति नरकाः-नारकाश्रयाः तेषु भवा नारकास्तेषां, तथा 'दीव्यन्ति' यथेच्छया क्रीडन्तीति देवाः तेषां, मनुष्यश्च तिर्यक् च मनुष्यतिर्यक् तस्मिन् मनुष्यतिर्यचि (रश्चि) जातावेकवचनम्, ततोऽयमर्थः–मनुष्येषु तिर्यक्षु आनुगामिक उक्तशब्दार्थः, अनानुगामिकः–अवस्थितशृङ्खलानियन्त्रितप्रदीप इव यो गच्छन्तं पुरुषं नानुगच्छति, आह च भाष्यकृत्–"अणुगामिओऽणुगच्छइ, गच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं। इयरो य नाणुगच्छइ ठियपईवो व्व गच्छंतं ॥१॥ (वि.७१४)" यस्य तूत्पन्नस्यावधेर्देशो व्रजति स्वामिना सह अपरश्च देशः प्रदेशान्तरचलितपुरुषस्योपहतैकलोचनवदन्यत्र न व्रजति स मिश्र उच्यते, उक्तं च–"उभयसहावो मीसो, देसो जस्साणुजाइ नो अन्नो। कासइ गयस्स कत्थइ, एगं उवहम्मइ जहऽच्छि ॥२॥ (वि.७१५)" एष च भवति, अयं गाथासङ्क्षेपार्थः–देवनारकाणां सर्वात्मप्रदेशजाभ्यन्तरावधिरूपमध्यगतः आनुगामिकोऽवधिः, तिर्यङ्मनुष्याणां सर्वप्रभेदः–आनुगमिकोऽनानुगामिको मिश्रश्चेति ॥ उक्तमानुगामिकद्वारम् १। अथावस्थितद्वारं वक्तव्यम्, अवस्थितत्वं चावधेराधारभूतक्षेत्रत उपयोगतो लब्धितश्च चिन्तनीयम्, तत्र क्षेत्रत उपयोगतश्च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

खित्तस्स अवट्ठाणं तेत्तीसं सागरा उ कालेणं। दुवे भिन्नमुहुत्तो पज्जवलंभे य सत्तट्ठ ॥ ५७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवस्थितिः अवस्थानम्, अवधेराधाररूपतालक्षणेन पर्यायेण क्षेत्रस्यावस्थानं, कालेन–कालमाश्रित्य सागरोपमाणि तुशब्द एवकारार्थः स चावधारणे भिन्नक्रमश्च त्रयस्त्रिंशतमेव, इयमत्र भावना–अनुत्तरसुरा यत्र क्षेत्रे येष्वेव च प्रतिनियतेषु क्षेत्रप्रदेशेषु जन्मसमयेऽवगाढास्ते प्रायस्तत्रैवाभवक्षयमवतिष्ठन्ते, ततः तानधिकृत्योत्कर्षतोऽवधेरवस्थानं त्रयस्त्रिंशतं सागरोपमाणि यावदवाप्यते, उक्तं च–"आहारे उवओगे, लद्धीए वा हविज्जऽवत्थाणं। आहारो से खित्तं, तेत्तीसं सागरा तत्थ ॥१॥ विजयाइसूववाए जत्थोगाढो भवक्खयं (ओ वि०) जाव। खेत्तेऽवचिट्ठइ तहिं दवेसु य देहसयणेसु ॥२॥ (वि.७१९-२०)" उपयोगमधिकृत्यावधेरवस्थानं, द्रवति–गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं, बाहुलकात् कर्त्तरि प्रत्ययः, तस्मिन् द्रव्ये–द्रव्यविषये तत्र चान्यत्र क्षेत्रे भिन्नश्चासौ मुहूर्त्तश्च भिन्नमुहूर्त्तः, अन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदिति तात्पर्यार्थः, न परतः, सामर्थ्याभावात्, उक्तं च–"दवे भिन्नमुहुत्तं, तत्थऽन्नत्थ व हवेज्ज खेत्तंमि। उवओगो न उ परओ सामत्थाभावओ तस्स ॥ ३ ॥ (वि.७२१)" तथा तत्रैव द्रव्ये ये पर्यवाः–पर्यायधर्मास्तल्लाभे पर्यायान्तरं संचरतोऽवधेरुपयोगमधिकृत्यावस्थानं सप्ताष्टौ वा समयान् यावत्, न परतः, पर्यायाणां सूक्ष्मतया परतस्तद्विषयेऽवस्थाने सामर्थ्याभावात्, अन्ये तु व्याचक्षते–पर्यवा द्विविधाः, तद्यथा–गुणाः पर्यायाश्च, तत्र सहवर्त्तिनो गुणाः शुक्लत्वादयः, क्रमवर्त्तिनः पर्यायाः नवपुराणादयः, तत्र गुणाः स्थूलाः पर्यायास्तु सूक्ष्माः, यथा २ च सूक्ष्मं वस्तु तथा २ उपयोगस्य स्तोककालता, द्रव्यगुणपर्यायाश्च यथोत्तरं सूक्ष्मास्ततो गुणेष्वष्टौ समयान् यावदुपयोगस्यावस्थानं, पर्यायेषु तु सप्त समयानिति, उक्तं च–"दवे तत्थेव गुणा, संचरओ सत्त वऽट्ठ वा समया। अण्णे पुण अट्ठ गुणे भणंति तप्पज्जवे सत्त ॥ ४ ॥ जह जह सुहुमं वत्थुं तह तह थोवोवओगया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

होइ । दवगुणपज्जवेसुं तह पत्तेयंपि नायवं ॥ ५ ॥ (वि.७२२-३)" अथ लब्धिमधिकृत्यावस्थानकालमानमाह—

अद्धाएँ अवट्ठाणं, छावट्ठिं सागरा उ कालेणं । उक्कोसगं तु एयं, एक्को समओ जहन्नेणं ॥५८॥

इह अद्धा नामावधिज्ञानावरणक्षयोपशमरूपा लब्धिरभिप्रेता, ततो अद्धाया–लब्धेः कालेन–कालतोऽवधेरवस्थानं, तत्रान्यत्र वा क्षेत्रे तेष्वन्येषु वा द्रव्यादिषूपयुक्तस्यानुपयुक्तस्य वा भवति षट्षष्टिसागरोपमाणि, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वान्मनागधिकानि, उक्तं च–"सा सागरोवमाइं, छावट्ठिं होज्ज साइरेगाइं । विजयाइसु दो वारे गयस्स नरजम्मणा समयं ॥ ७ ॥" (वि.७२५) उपसंहारमाह–'उक्कोसग'मित्यादि, कालतोऽवस्थानमिदमाधारादिषु उत्कर्षतः प्रतिपादितमवसातव्यम् । जघन्येन–जघन्यतः पुनरुपयोगलब्धी अङ्गीकृत्यावस्थानं द्रव्यादावप्येकः समयः, तत्र नरतिरश्चां समयादूर्ध्वमवधेः प्रतिपातादनुपयोगाद्वा एकसमयावस्थानता विज्ञेया, देवनारकाणां तु येषां भवस्य चरमसमये सम्यक्त्वलाभाद्विभङ्गज्ञानमवधिज्ञानरूपतया परिणमति ततः परं च मृतानां तदवधिज्ञानं प्रच्यवते तेषामवसातव्यम् । तदेवमुक्तमवस्थितद्वारम् ४ । अधुना चलद्वारमभिधित्सुराह—

वुड्ढी वा हाणी वा, चउव्विहा होइ खेत्त-कालाणं । दवेसु होइ दुविहा, छव्विह पुण पज्जवे होइ ॥ ५९ ॥

चलद्वारमिदमुच्यते, चलश्चावधिर्द्रव्यादिविषयमङ्गीकृत्य वर्द्धमानको हीयमानको वा भवति, वृद्धिहानी च प्रत्येकं सामान्येनागमे षड्विधे प्रोक्ते, तद्यथा–अनन्तभागवृद्धिः १ असङ्खातभागवृद्धिः २ सङ्खातभागवृद्धिः ३ सङ्खातगुणवृद्धिः ४ असङ्खातगुणवृद्धिः ५ अनन्तगुणवृद्धिः ६ तथा अनन्तभागहानिः १ असङ्खातभागहानिः २ सङ्खातभागहानिः ३ सङ्खा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आव.मल. उपोद्घाते अवधौ

॥ ७१ ॥

तगुणहानिः ४ असङ्ख्यातगुणहानिः ५ अनन्तगुणहानिः ६, एतयोश्च षड्विधवृद्धिहान्योर्मध्यादवधिविषयभूतक्षेत्रकालयोराद्यंतभेदद्वयवर्जिता चतुर्विधा वृद्धिर्हानिर्वा भवति, अनन्तभागवृद्धिरनन्तगुणवृद्धिर्वा तथा अनन्तभागहानिरनन्तगुणहानिर्वा क्षेत्रकालयोर्न सम्भवति, अवधिविषयभूतक्षेत्रकालयोरानन्त्याभावात्, इयमत्र भावना–यावत् क्षेत्रं प्रथममवधिना प्रवर्द्धमानाख्येन दृष्टं ततः प्रतिसमयं स प्रवर्द्धमानोऽवधिः कश्चिदसङ्ख्यातभागवृद्धं पश्यति कोऽपि सङ्ख्यातभागवृद्धं कोऽपि सङ्ख्यातगुणवृद्धमपरोऽसङ्ख्यातगुणवृद्धं, तथा यावत् क्षेत्रं प्रथममवधिना हीयमानेन दृष्टं ततः प्रतिसमयमसङ्ख्यातभागहीनं कश्चित्पश्यति कश्चित्सङ्ख्यातभागहीनं कोऽपि सङ्ख्यातगुणहीनमन्योऽसङ्ख्यातगुणहीनं, एवं क्षेत्रस्य वृद्धिर्हानिर्वा चतुर्विधा भवति, इत्थं कालेऽपि वृद्धिहान्योश्चातुर्विध्यं भावनीयम्, द्रव्येषु पुनरवधिविषयभूतेषु द्विविधा वृद्धिर्हानिर्वा भवति, तथाहि–यावन्ति द्रव्याणि प्रथममवधिना दृष्टानि ततः परं कोऽपि तेभ्योऽनन्तभागाधिकानि पश्यति, अपरस्तु तेभ्योऽनन्तगुणवृद्धानि, नत्वसङ्ख्यातभागादिना वृद्धानि, तथास्वाभाव्यात्, तथा ततः परं कोऽपि पूर्वोपलब्धेभ्योऽनन्तभागहीनानि द्रव्याणि पश्यति, अपरस्त्वनन्तगुणहीनानि, नत्वसङ्ख्यातभागादिना हीनानि, तथास्वाभाव्यादेव, पर्यायेषु पुनः पूर्वोक्ता षड्विधाऽपि वृद्धिर्हानिर्वा भवति, उक्तं च–"पइसमयमसंखिज्जइभागहियं कोइ संखभागहियं। अन्नो संखेज्जगुणं खित्तमसंखिज्जगुणमण्णो ॥ २ ॥ पेच्छइ विवड्ढमाणं, हायंतं वा तहेव कालंमि। नाणंतवुड्ढि–हाणी पेच्छइ जं दोऽवि नाणंते ॥ ३ ॥ दवमणंतंसहियं अणंतगुणवुड्ढियं च पेच्छेज्जा। हायंतं वा भावम्मि, छविहा वुड्ढि–हाणीओ" ॥४॥ (वि.७३०-२) एतेषां च द्रव्यक्षेत्रकालभावानां परस्परं संयोगे चिन्त्यमाने एकस्य वृद्धावेवापरस्य वृद्धिः, नत्वेकस्य हानाल०व्यक्षस्थानं द्रव्यादिवृद्ध्यादिर्वा गा.५८-९

॥ ७१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्यस्य वृद्धिः, तथा एकस्य हानावेवापरस्य हानिः, नत्वेकस्य वृद्धावपरस्य हानिः, अन्यच्च–एकस्य द्रव्यादेर्भागेन वृद्धौ हानौ वा जायमानायामपरस्यापि प्रायो भागेनैव वृद्धिहानी, न तु गुणकारेण, गुणकारेणाप्येकस्य गुणवृद्धिहान्योः प्रवर्त्तमानयोरपरस्यापि प्रायो गुणकारेणैव ते प्रवर्त्तेते, न तु भागेन, यत उक्तं–"वुड्ढीए चिय वुड्ढी, हाणी हाणीएँ न उ विवज्जासो । भागे भागो गुणणे, गुणो य दव्वाइसंजोए" ॥ ५ ॥ (वि.७३३) आह–ननु क्षेत्रस्यासङ्ख्येयभागादिवृद्धौ तदाधेयद्रव्याणामपि तन्निबन्धनत्वादसङ्ख्येयभागादिवृद्धिः प्राप्नोतीति, तथा द्रव्यस्यानन्तभागादिवृद्धौ सत्यां तत्पर्यायाणामप्यनन्तभागादिवृद्धिरेव प्राप्नोति, न षट्स्थानकं, पर्यायाणां द्रव्यनिबन्धनत्वाद्, उच्यते, इह यद्यपि नाम स्वरूपेण क्षेत्रानुवर्त्तिनः पुद्गलाः पुद्गलानुवर्त्तिनश्च पर्यायास्तथापि यदा क्षेत्रानुवृत्त्या पुद्गलाः परिसङ्ख्यायन्ते पुद्गलानुवृत्त्या च तत्पर्यायास्तदा क्षेत्रस्यासङ्ख्येयादिभागवृद्धिहान्योर्द्रव्यस्यापि तदनुवृत्त्या तथैव वृद्धिहानी प्राप्नुतो, द्रव्यस्यापि चानन्तभागादिवृद्धिहान्योस्तत्पर्यायाणामपि तदनुवृत्त्या तथैव वृद्धिहानी, यदा तु स्वक्षेत्रादनन्तगुणाः पुद्गलाः पुद्गलेभ्योऽपि तत्पर्यायाः अनन्तगुणाः, अवधिश्च क्षयोपशमाधीनः, क्षयोपशमश्च तत्तद्द्रव्यादिसामग्रीवशाद्विचित्रपरिणामः, केवलतेजसा च भगवतैवंस्वरूप एवोपलब्धस्तदा यथोक्तस्वरूपे एव वृद्धिहानी प्रतिपत्तव्ये ५ । नान्यथेति न कश्चिद्दोषः, उक्तं चलद्वारमिदानीं तीव्रमन्दद्वारमभिधित्सुराह—

फड्डा य असंखेज्जा, संखेज्जे यावि एगजीवस्स । एगप्फड्डुवओगे, नियमा सव्वत्थ उवउत्तो ॥ ६० ॥
फड्डा य आणुगामी, अणाणुगामी य मीसया चेव । पडिवाइ अपडिवाई, मीसा य मणुस्सतेरिच्छे ॥६१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्द्धकाणं प्रागुक्तस्वरूपाणि, तानि चैकजीवस्य सङ्ख्येयान्यसङ्ख्येयान्यपि भवन्ति, तत्र एकस्पर्द्धकोपयोगे सति नियमात् सर्वत्र-सर्वेषु स्पर्द्धकेषूपयुक्तो भवति, एकोपयोगत्वाज्जीवस्य, एकलोचनोपयोगे द्वितीयलोचनोपयुक्तवत्, द्वितीयगाथाव्याख्या-एतानि च स्पर्द्धकानि त्रिविधानि भवन्ति, तद्यथा-अनुगमनशीलान्यानुगामिकानि-यत्र प्रदेशे तिष्ठतोऽवधिमतो जीवस्योत्पन्नानि ततोऽन्यत्रापि व्रजतस्तस्यानुयायीनीति भावः, एतद्विपरीतानि अनानुगामिकानि, आनुगामिकानानुगामिकरूपोभयस्वरूपाणि मिश्राणि, कानिचिद्देशान्तरानुयायीनि कानिचिन्नेति भावः, एतानि च पुनः प्रत्येकं त्रिधा भवन्ति, तद्यथा-प्रतिपतनशीलानि प्रतिपातीनि, कियन्तमपि कालं स्थित्वा ततो ध्वंसगमनस्वभावानीति भावः, तद्विपरीतान्यप्रतिपातीनि, आमरणांतभावीनीत्यर्थः, प्रतिपाताप्रतिपातस्वभावानि मिश्राणि, कानिचित् प्रतिपातीनि कानिचिन्नेत्यर्थः, एतानि च स्पर्द्धकानि मनुष्यतिर्यक्षु योऽवधिस्तस्मिन्नेव भवन्ति, न देवनारकावधौ, पर आह-ननु तीव्रमन्दद्वारे प्रस्तुते स्पर्द्धकावधिस्वरूपं प्रतिपादयतः कथं न प्रक्रमविरोधः?, उच्यते, इह प्राय आनुगामिकाप्रतिपातीनि स्पर्द्धकानि तीव्रविशुद्धियुक्तत्वात् तीव्राणि भण्यन्ते, अनानुगामिप्रतिपातीनि त्वविशुद्धत्वान्मन्दानि, मिश्राणि मध्यमानि, ततस्तीव्रमन्दद्वारमित्यदोषः, अपरस्त्वाह-आनुगामिकाप्रतिपातिस्पर्द्धकयोः परस्परं कः प्रतिविशेषः? को वा अनानुगामिकप्रतिपातिस्पर्द्धकयोः?, उच्यते-अत्राप्रतिपातिस्पर्द्धकमानुगामिकमेव भवति, आनुगामिकं तु प्रतिपात्यप्रतिपाति चेति विशेषः, तथा प्रतिपाति प्रतिपतत्येव पतितमपि च देशान्तरे गतस्य कदाचिज्जायते, न चेत्थमनानुगामिकमित्यनानुगामिकप्रतिपातिनोर्विशेषः, उक्तं तीव्रमन्दद्वारम् ६ । इदानीं प्रतिपातोत्पातद्वारं विवृण्वन् गाथाद्वयमाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहिरलंभे भज्जो, दव्वे खेत्ते य काल–भावे य । उप्पा–पडिवाओऽवि य तदुभयं चेगसमएणं ॥ ६२ ॥
अब्भिंतरलद्धीए, तदुभयं नत्थि एगसमएणं । उप्पा पडिवाओऽविय, एगयरो एगसमएणं ॥ ६३ ॥

इह द्रष्टुरवधिमतो योऽवधिक्षेत्रस्यैव एकस्यां दिशि भवति स बाह्यावधिरथवा अनेकास्वपि दिक्षु यः स्पर्द्धकावधिरन्योऽन्यं विच्छिन्नो भवति सोऽपि बाह्यावधिः । स्थापना । अथवा सर्वतः परिमण्डलाकारोऽप्यवधिर्योऽवधिमतो जीवस्य अङ्गुलमानादिना क्षेत्रव्यवधानेन सर्वतोऽसम्बद्धः सोऽपि बाह्यावधिः, तथा चात्रार्थे चूर्णिः–"बाहिरलंभो नाम जत्थ से ठियस्स ओहिनाणं समुप्पन्नं तम्मि ठाणे सो ओहिनाणी न किंचि पासइ, तं पुण ठाणं जाहे अंतरियं होइ, तंजहा–अंगुलेण वा अंगुलपुहुत्तेण वा विहत्थीए वा विहत्थिपुहुत्तेण वा एवं जाव संखेज्जेहि वा असंखेज्जेहि वा जोयणेहिं, ताहे पासइ, एस बाहिरलंभो भण्णइ, स्थापना ⊙ तस्य एवंविधस्य 'बाह्यस्य' बाह्यावधेर्लाभे–प्राप्तौ सत्यां 'भाज्यो' विकल्पनीयः, कोऽसावित्याह–'उत्पाद' उत्पत्तिः, 'प्रतिपातो' ध्वंसः, 'तदुभयं च' उत्पादप्रतिपातरूपं उभयं च एकसमयेन, कस्मिन् विषये इत्याह–द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च, इह गाथायामपिशब्दचशब्दाः यथायोगं पूरणसमुच्चयार्थाः, एकस्मिन् समये द्रव्यादौ विषये यथोक्तरूपस्य बाह्यावधेः कदाचिदुत्पादो भवति कदाचिद् व्ययः कदाचिदुभयम् । उत्पादप्रतिपादयोः परस्परविरुद्धत्वात्कथमुभयमेकसमयेनेति चेत्, न एष दोषः, विभागेन भावात्, तथा चात्र दावानलदृष्टान्तः, तथाहि–दावानलः स्वल्पेकाले एव एकतो दीप्यते अन्यतश्च ध्वंसते, तथा अवधिरप्येकदेशे जायते अन्यत्र प्रच्यवते, उक्तं च–"उप्पाओ पडिवाओ उभयं वा होज्ज एगसमएणं । कहमुभयमेगसमए?, विभागओ तं, न सव्वस्स ॥ १ ॥ दावानलो व कत्थइ,

भाग- १३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लग्गइ विज्झाइ समयमन्नत्तो । तह कोइ ओहिदेसो से जायइ नासए विइओ ॥२॥" (वि.७५०-१) द्वितीयगाथाव्याख्या—इह द्रष्टुर्यः सर्वतः सम्बद्धः प्रदीपस्य प्रभानिकरवत् सोऽभ्यन्तरावधिस्तस्य-अभ्यन्तरस्याभ्यन्तरावधेर्लब्धिरभ्यन्तरलब्धिस्तस्यां सत्यां, अभ्यन्तरावधिप्राप्तावित्यर्थः, उक्तं च चूर्णौ—"तत्थ अब्भंतरलद्धी नाम जत्थ से ठियस्स ओहिनाणं समुप्पण्णं तत्थ ठाणातो आरब्भ ओहिनाणी निरंतरं संवद्धं संखेज्जमसंखेज्जं वा खेत्तं ओहिणा जाणइ पासइ, एस अब्भितरलद्धित्ति" तदुभयम्—उत्पादप्रतिपातरूपमुभयं नास्ति एकसमयेन, द्रव्यादौ विषये इत्यनुवर्त्तते, किं तर्हि?, उत्पादः प्रतिपातो वा एकतर एव एकसमयेन, अपिशब्द एवकारार्थः, स च भिन्नक्रमस्तथैव च योजितः, अयमिह भावार्थः—प्रदीपस्येवोत्पाद एव वा प्रतिपात एव वा एकसमयेनाभ्यन्तरावधेरुपजायते, न तूभयमदेशावधित्वात्, न ह्येकस्य एकपर्यायोत्पादव्ययौ युगपदवितुमर्हतः, परस्परं विरोधात्, आह च—"उप्पाओ विगमो वा, दीवस्स व तस्स नोभयं समयं । न भवण—नासा समयं वत्थुस्स जमेगधम्मेणं ॥ १ ॥" (वि. ७५४) उक्तं प्रतिपातोत्पादद्वारम् । सम्प्रति यदुक्तं—"संखेज्ज मणोदवे भागो लोगपलियस्स' इत्यादि, तत्र किल द्रव्यादित्रयस्य परस्परोपनिबन्ध उक्तः, इदानीं प्रसङ्गत एवोत्पादप्रतिपाताधिकारे द्रव्यपर्याययोः परस्परमुपनिबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

दवाओ असंखेज्जे, संखेज्जे यावि पज्जवे लहइ । दो पज्जवे दुगुणिए, लहइ य एगाउ दवाओ ॥ ६४ ॥

परमाण्वादि द्रव्यमेकं पश्यन्नवधिज्ञानी द्रव्यात् सकाशात् तत्पर्यायानुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयान् सङ्ख्येयांश्चापि मध्यमतो 'लभते' प्राप्नोति, पश्यतीति तात्पर्यार्थः, जघन्यतस्तु द्वौ पर्यायौ द्विगुणितौ एकस्माद्द्रव्याल्लभते, किमुक्तं भवति?—सामा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यतो वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणांश्चतुरः पर्यायानेकस्मिन् द्रव्ये पश्यति, न त्वेकगुणकालादीन् बहूनिति, उक्तं च—"एगं दव्वं पेच्छं, खंधमणुं वा स पज्जवे तस्स । उक्कोसमसंखिज्जे, संखिज्जे पेच्छई कोइ ॥ १ ॥ दो पज्जवे दुगुणिए, सव्वजहण्णेण पेच्छए ते य । वण्णाइया व चउरो नाणंते पेच्छइ कयाइ ॥२॥" (वि.७६१-२) अनन्तांश्च पर्यायानुत्कर्षतोऽपि न प्रेक्षते एकद्रव्यगतान्, अनन्तेषु द्रव्येषु समुदितेष्वनन्तांस्तान् पश्यत्येव, यत उक्तं नन्द्यध्ययने—"भावतो णं ओहिणाणी अणंते भावे जाणइ पासइ" इत्यादि ॥ गतं सप्रसङ्गं उत्पादप्रतिपातद्वारम्, इदानीं ज्ञानदर्शनविभङ्गलक्षणं द्वारत्रयं युगपदभिधित्सुराह—

सागारमणागारा, ओहि-विभंगा जहण्णया तुल्ला । उवरिमगेवेज्जेसु(उ) परेण ओही असंखेज्जो ॥ ६५ ॥

इह योऽवधिर्विशेषग्राहकः स साकारः, स च सम्यग्दृष्टेः ज्ञानमित्यभिधीयते, स एव मिथ्यादृष्टेर्विभङ्गः, यः पुनः सामान्यग्राहकोऽवधिः विभङ्गो वा सोऽनाकारः, स च दर्शनं, तत्र साकारानाकारावधिविभङ्गौ जघन्यकादारभ्य तुल्यौ लोकपुरुषग्रीवाभवानि ग्रैवेयकानि उपरिमाणि च तानि ग्रैवेयकाणि च उपरिमग्रैवेयकाणि तेषु यावत्, तुशब्दो विशेषणार्थः, स चैतद्विशिनष्टि—नारकभवनपतिदेवेभ्य आरभ्य तिर्यङ्मनुष्यवर्जमुपरिग्रैवेयकेषु यावत् साकारानाकारावधिविभङ्गौ क्षेत्रकालविषयावधिमधिकृत्य जघन्यादारभ्य तुल्यस्थितिकत्वेन तुल्याविति, इयमत्र भावना—नारका भवनपत्यादयश्च उपरितनग्रैवेयकविमानवासिपर्यन्ता देवा ये ये जघन्यतुल्यस्थितयो मध्यमतुल्यस्थितयो उत्कृष्टतुल्यस्थितयो वा तेषां तेषामवधिविभङ्गज्ञानदर्शने क्षेत्रकालरूपौ विषयावधिकृत्य परस्परतस्तुल्ये, न तु द्रव्यभावविषयौ तावङ्गीकृत्य, तुल्यस्थितिकानामपि सम्यग्दर्शनं विशुद्धतपःकर्मादिकं च प्राग्भवगतं कारणं प्रतीत्यातिदरं तल्यत्वाभावात. 'परेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओही असंखेज्जो' इति ग्रैवेयकविमानेभ्यस्तु परतोऽनुत्तरविमानेष्ववधिः, ज्ञानदर्शनरूपोऽवधिरेव भवति, न तु विभङ्ग-ज्ञानं, मिथ्यादृष्टीनां तत्रोपपाताभावात्, स च क्षेत्रतः कालतश्चासङ्ख्येयो भवति, असङ्ख्यातक्षेत्रकालविषयो भवतीति भावः, द्रव्यभावैस्त्वनन्तविषयः, इह तिर्यङ्मनुष्याणां तुल्यस्थितीनामपि क्षयोपशमतीव्रमन्दतादिकारणवैचित्र्यात् क्षेत्रकाल-विषयोरप्यवधिविभङ्गज्ञानदर्शनयोर्विचित्रता, न पुनस्तुल्यतैवेतीह तद्वर्जनं। गतं ज्ञानदर्शनविभङ्गरूपं द्वारत्रयम्। अधुना देवद्वारमभिधित्सुरिदमाह–

नेरइयदेवतित्थं–करा य ओहिस्सऽबाहिरा होंति। पासंति सव्वओ खलु सेसा देसेण पासंति ॥ ६६ ॥

नैरयिकाश्च देवाश्च तीर्थंकराश्च नैरयिकदेवतीर्थंकराः, तीर्थंकरा इत्यत्र 'तीर्थात्स्वेके' इति वचनात् स्वप्रत्यये तीर्थश-ब्दस्य मम्, चशब्दोऽवधारणेऽस्य च व्यवहितः प्रयोगः, तं च दर्शयिष्यामः, अवधेः–अवधिज्ञानस्याबाह्या एव, बाह्या न कदाचनापि भवन्तीत्यर्थः, सर्वतोऽवभासकावध्युपलब्धक्षेत्रमध्यवर्त्तिनः सदैव भवन्तीति भावना, उक्तं च–"ओहिणा-क्खेत्तब्भंतरगा होंति नारयाईया। सव्वदिसोऽवहिविसओ तेसिं दीवप्पभोवम्मो ॥१॥"(वि.७६७) तथा पश्यन्ति सर्वतः–सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च, सलुशब्दोऽवधारणार्थः सर्वास्वेव दिग्विदिक्ष्विति, आह–अवधेरबाह्या भवन्तीत्यस्मादेव सर्वत इत्यस्य लब्धत्वात् सर्वतःशब्दग्रहणमतिरिच्यते, नातिरिच्यते, अभ्यन्तरत्वाभिधानेऽपि सर्वतो दर्शनाप्रतीतेः, न खल्ववे-रभ्यन्तरत्वेऽपि सति सर्वे सर्वतः पश्यन्ति, कस्यचिद्दिगन्तरालादर्शनात्, विचित्रत्वादवधेः, ततः सर्वतो दर्शनख्यापनार्थं 'पासंति सव्वतो खलु' इत्युक्तम्, आह च भाष्यकृत्–"अब्भिंतरत्ति भणिए, भण्णइ पासंति सव्वओ कीस ?।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओयइ जमसंतयदिसो अंतोऽवि ठिओ न सव्वत्तो ॥१॥" (वि. ७६८) शेषास्तिर्यङ्नरा देशेन-एकदेशेन पश्यन्ति, 'सर्वं वाक्यं सावधारणमिष्टितश्चावधारणविधि'रिति एवमवधारणीयः-शेषा एव देशतः पश्यन्ति, नतु शेषा देशतः एव, तिर्यङ्नराणां देशतः सर्वतश्च यथायोगमवधिना दर्शनात्, उक्तं च—"सेसे च्चिय देसेणं, न उ देसेणेव सेसया किं तु। देसेण सव्वओऽवि य पेच्छंति नरा तिरिक्खा य ॥१॥"(वि.७७१) अथवाऽन्यथा व्याख्यायते-नैरयिकदेवतीर्थङ्करा एवावधेरबाह्या भवन्ति, किमुक्तं भवति?-नियतावधयो भवन्ति, नियमेनैषामवधिर्भवतीति भावः, एवं चाभिहिते सति संशयः-किं ते देशेन पश्यन्ति उत सर्वतः?, ततः संशयापनोदार्थमाह—पश्यन्ति सर्वतः खलु-सर्वत एव तेनावधिना नैरयिकादयो, नतु देशतः, अत्र पर आह-ननु पश्यन्ति सर्वतः खल्वित्येतावदेवास्तामवधेरबाह्या भवन्तीत्येतन्न युक्तं, यतो नियतावधित्वप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते, नियतावधित्वं च देवनारकाणां 'दोण्हं भवपच्चइयं, तंजहा-देवाणं नेरइयाणं चे'ति वचनसामर्थ्यात्सिद्धं, तीर्थकृतां तु पारभविकावधिसमन्वागमस्यातिप्रसिद्धत्वात्, उच्यते-इह यद्यपि 'दोण्हं भवपच्चइयं' इत्यादिवचनतो नैरयिकादीनां नियतावधित्वं लब्धं, तथापि सर्वकालं तेषां नियतोऽवधिरिति न लभ्यते, ततः सर्वकालं नियतावधित्वख्यापनार्थमवधेरबाह्या भवन्तीत्युक्तम्, आह—यद्येवं तीर्थकृतामवधेः सर्वकालावस्थायित्वं विरुध्यते, न, छद्मस्थकालस्यैव तेषां विवक्षणात्, शेषं प्राग्वत् ॥ गतं देशद्वारम्। इदानीं क्षेत्रद्वारं विवरीषुराह—

संखेज्जमसंखेज्जो, पुरिसमबाहाए खेत्तओ ओही। संबद्धमसंबद्धो लोगमलोगे य संबद्धो ॥ ६७ ॥

इह कश्चित् क्षेत्रतोऽवधिरवधिमति जीवे प्रदीपे प्रभापटलमिव सम्बद्धो-लग्नो भवति, जीवावष्टब्धक्षेत्रादारभ्य निर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्तरं द्रष्टव्यं वस्तु प्रकाशयतीति भावः, कश्चित्पुनरतिविप्रकृष्टं तमोव्याकुलमन्तरालवर्त्तिनं प्रदेशमुल्लङ्घ्य दूरस्थित-भित्त्यादिप्रतिस्फलितप्रदीपप्रभेवासम्बद्धो जीवे भवति, कया हेतुभूतया असम्बद्ध इत्याह–'पुरिसमबाधाए' इति मकारो-ऽलाक्षणिकः, पूर्यते सुखदुःखाभ्यामिति पुरुषः, अबाधनमबाधा, अपान्तरालमित्यर्थः, आह च–'अबाहा नाम पुरिसस्स ओहीए य जं अंतरं सा अबाहा भण्णइ' इति, पुरुषादबाधा पुरुषाबाधा तया हेतुभूतया असम्बद्धः। स च सम्बद्धो-ऽसम्बद्धश्चावधिः क्षेत्रतः कियान् भवतीत्यत आह—'संखेज्जमसंखेज्जो' अत्रापि मकारोऽलाक्षणिकः, सङ्ख्येयः असङ्ख्येयश्च योजनापेक्षया भवति, किमुक्तं भवति?–असम्बद्धोऽप्यवधिः क्षेत्रतः सङ्ख्येयानि वा योजनानि भवत्यसङ्ख्येयानि वा, एवं सम्बद्धोऽपि, किं केवल एव सम्बद्धो असम्बद्धो वाऽवधिः सङ्ख्येयोऽसङ्ख्येयो वा योजनापेक्षया भवति?, नेत्याह–पुरुषाबाधया इदं पदं द्वितीयवारमावर्त्तितम्, नवरं अस्मिन् वारे सहार्थे तृतीया पुरुषाबाधया सङ्ख्येयोऽसङ्ख्येयो वा भवतीति, इदमुक्तं भवति–पुरुषस्यावधेश्चापान्तरालमपि सङ्ख्येयान्यसङ्ख्येयानि वा योजनानि भवतीति, आह चूर्णिकृत्–"जोवि असंबद्धो सोवि संखिज्जाणि असंखिज्जाणि वा जोयणाणि अंतरे किच्चा ततो परेण पासइ, आरेण न पासइ" इति, सा च पुरुषा-बाधा असम्बद्ध एवावधौ भवति, नतु सम्बद्धे, तत्र सम्बद्धत्वेनैव तदसम्भवादिह त्वसम्बद्धेऽवधौ अपान्तराले च चतुर्भङ्गिका–सङ्ख्येयमन्तरं सङ्ख्येयोऽवधिः १ सङ्ख्येयमन्तरमसङ्ख्येयोऽवधिः २, असङ्ख्येयमन्तरं सङ्ख्येयोऽवधिः ३ असङ्ख्ये-यमन्तरं असङ्ख्येयोऽवधिः ४, सम्बद्धे त्ववधौ विकल्पाभावः, तदुत्थानहेतोरन्तरलक्षणस्य द्वितीयपदस्य तत्राभावात्, तथाऽयमवधिर्लोकेऽलोके च सम्बद्धोऽपि भवति, तथा चाह–'लोगमलोगे य संबद्धो' इह लोकशब्देन लोकान्तः परिगृह्यते,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात्, अत्रापि चतुर्भङ्गिका–पुरुषे सम्बद्धो लोकान्ते च १, पुरुषे सम्बद्धो न लोकान्ते, देशतोऽभ्यन्तरावधिः २, न पुरुषे सम्बद्धः किन्तु लोकान्ते, एकदिग्वर्त्ती बाह्यावधिः ३, शून्योऽयं भङ्ग इति टीकाकारः, वदसम्यक्, चूर्णौ भाष्ये चाप्रतिषेधादसम्भवहेतुत्वाभावाच्च, तथा न लोकान्ते सम्बद्धो नापि पुरुषे, बाह्यावधिरेव लोकदेशवर्त्ती ४ यस्त्वलोके सम्बद्धः स पुरुषे नियमात् सम्बद्ध एव, अभ्यन्तरावधेरेवालोकदर्शनसमर्थत्वात्, आह च भाष्यकृत्–"संखिज्जमसंखिज्जं, देहाओ खित्तमन्तरं काउं । संखेज्जाऽसंखेज्जं, पेच्छेज्ज तदंतरमवाहा" ॥ १ ॥ संबद्धा–ऽसंबद्धो, नरलोयंतेसु होइ चउभंगो । संबद्धो उ अलोए, नियमा पुरिसेऽवि संबद्धो ॥ २ ॥" (वि. ७७४-५) इति गतं क्षेत्रद्वारम् । इदानीं गतिद्वारं विभणिषुराह—

गइ नेरइयाईआ, हेट्ठा जह वण्णिया तहेव इहं । इट्ठी एसा वण्णिज्जइत्ति तो सेसियाओऽवि ॥ ६८ ॥

१ अत्रेदमवधेयं–श्रीहरिभद्रसूरिपादानां लोकान्तस्यालोकस्य चैक्यतामाश्रित्य यथाऽलोकसंबद्धस्यावधेरवश्यमभ्यन्तरावधिता श्रीमद्भिः स्वयमपि स्वीकृता तथा लोकान्तसंबद्धस्याप्यवधेरात्मसंबद्धत्वस्यावश्यंभावः संमतः, अत एव च लोकान्तमलोकान्तं चाश्रित्य न पुरुषसंबन्धभवं चतुर्भङ्गिकाद्वयं, एकस्यामेव च चतुर्भङ्ग्यां 'संबद्धो उ अलोए' इत्यादिभाष्यं 'जो पुण अलोगस्स अप्पमवि पासइ सो पुरिसेण नियमेण संबद्धो' इति चूर्णिश्च संगतिमावहति, चतुर्भंगिकाद्वयपक्षे तु श्रीमद्वाक्यं भाष्यचूर्णिवाक्याभ्यां भिन्नाभिप्रायकं, अलोकदर्शकस्यैवात्मसंबद्धत्वनियमात्, पूर्वत्र लोकालोकशब्देन तदन्तप्रहृश्चतुर्भङ्गी चैका, उत्तरत्र चतुर्भङ्गीद्वयं महश्चान्तस्य विकल्पेन, भिन्नश्च परस्परं, मर्यादाभावोभयदर्शकत्वादन्तशब्दस्य, असम्यगित्यादि तु मर्यादापक्षेणैव, निकटप्रान्तनाशावयववाचित्वमन्तशब्दस्येति कोशकारोक्तिरपि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गतिर्नैरयिकादिका, गतिग्रहणं शेषस्य इन्द्रियादिद्वारकलापस्योपलक्षणं, ततोऽयमर्थो–ये गत्यादयः सत्पदप्ररूपणाहेतवो ये च द्रव्यप्रमाणादयोऽष्टौ द्वारविशेषास्ते यथा अधस्तान्मतिश्रुतयोर्वर्णितास्तथैवेहापि द्रष्टव्याः, अयं तु विशेषः-ये पूर्वं मतिज्ञानस्य प्रतिपत्तारः प्रागुक्तास्तेऽवधिज्ञानस्यापि प्रतिपत्तव्याः, नवरं पूर्वं मतिज्ञानस्यावेदका अकषायिणो मनःपर्यायज्ञानिनश्च पूर्वप्रतिपन्ना एवोक्ताः, इह तु प्रतिपद्यमाना अपि द्रष्टव्याः, यतः श्रेणिद्वये वर्त्तमानानामवेदकानामकषायाणां च केषाञ्चिदवधिज्ञानमुत्पद्यते, येषां चानुत्पन्नावधिज्ञानानां मतिश्रुतचारित्रवतां प्रथममेव मनःपर्यायज्ञानमुत्पद्यते ते च मनःपर्यायज्ञानिनः केचित्पश्चादवधिज्ञानस्य प्रतिपत्तारो भवन्ति, अन्यच्च–अनाहारका अपर्याप्तकाश्च मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना एवोक्ताः, नतु प्रतिपद्यमानकाः, इह तु येऽप्रतिपतितसम्यक्त्वास्तिर्यङ्मनुष्येभ्यो देवनारका जायन्ते तेऽवधिज्ञानस्य प्रतिपद्यमानका अपि प्रत्तिपत्तव्याः, पूर्वप्रतिपन्नाः पुनर्ये एव मतिज्ञानस्य प्रागुक्तास्त एव द्रष्टव्याः, नवरं द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चो मुक्त्वा, ते हि सास्वादनसम्यग्दृष्टयो मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना उक्ताः, अवधेस्तु न प्रतिपद्यमानका नापि पूर्वप्रतिपन्ना इति, शेषं तथैव, उक्तं च–"जे पडिवज्जंति मइं, तेऽवहिनाणंपि समहिआ अण्णे । वेयकसायाईआ, मणपज्जवनाणिणो चेव ॥ १ ॥ सम्मा सुरनेरइयाऽणाहारा जे य होंति पज्जत्ता । ते च्चिय पुव्वपवण्णा, वियलाऽसण्णी य मोत्तूणं ॥२॥(७७७-८) एतदेव विनेयजनानुग्रहाय सविस्तरं भाव्यते, तत्रैवं सत्पदप्ररूपणावतारः–कोऽपि शिष्यः कञ्चिदाचार्यं पृच्छति, भगवन्! अवधिज्ञानं किमस्ति? नास्ति? इति, आचार्य आह–नियमादस्ति, यद्यपि अस्ति तथापि कथमवगन्तव्यम्?, आचार्य आह–गत्यादिभिर्मार्गणास्थानैः, तानि चामूनि 'गइ इंदिए य' गाहा 'भास-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गपरिच्च'गाहा, (वि.४०९-१०) तत्र गतिद्वारे चतुर्विधायामपि गतौ अवधिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु विवक्षितकाले भाज्याः, इन्द्रियद्वारे एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु न पूर्वप्रतिपन्ना नापि प्रतिपद्यमानकाः, पञ्चेन्द्रियेषु पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्याः, कायद्वारे पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिषूभयाभावः, त्रसकायेषु पञ्चेन्द्रियवत्, योगद्वारे त्रिषु योगेषु समुदितेषु पञ्चेन्द्रियवत्, मनोरहितवाग्योगिषु केवलकाययोगेषु चोभयाभावः, वेदद्वारे त्रिष्वपि वेदेषु पञ्चेन्द्रियवत्, अवेदकेषु उभयमपि भाव्यम्, एवं कषायद्वारेऽपि, लेश्याद्वारे उपरितनीषु तिसृषु लेश्यासु पञ्चेन्द्रियवत्, आद्यासु तिसृषु पूर्वप्रतिपन्नाः सन्ति, नत्वितरे, सम्यक्त्वद्वारे निश्चयव्यवहाराभ्यां विचारः, तत्र व्यवहारनयमतेन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिश्चावधिज्ञानस्य प्रतिपत्ता, पूर्वप्रतिपन्नस्तु सम्यग्दृष्टिरेव, निश्चयनयमतेन प्रतिपद्यमानकः पूर्वप्रतिपन्नश्चावधिज्ञानस्य सम्यग्दृष्टिरेवेति, ज्ञानद्वारे व्यवहारनयमतेन ज्ञानी वा प्रतिपद्यमानको भवत्यज्ञानी वा, यदि ज्ञानी तत आभिनिबोधिकज्ञानी श्रुतज्ञानी मनःपर्यायज्ञानी, अज्ञानी मत्यज्ञानी श्रुताज्ञानी विभङ्गज्ञानी वा, पूर्वप्रतिपन्नाः पुनर्ज्ञानिन एव, ते च मतिज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनो मनःपर्यायज्ञानिनश्च, केवलज्ञानी पुनरवधिज्ञानस्य न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, समूलघातं देशज्ञानघाते केवलज्ञानसम्भवात्, निश्चयनयमतेन प्रतिपद्यमानकाः पूर्वप्रतिपन्नाश्च नियमतो ज्ञानिन एव, तत्र मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनः पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानका अपि सम्भवंति, केवलज्ञानिनामुभयाभावः, देशज्ञानानां व्यवच्छेदे केवलज्ञानसद्भावात्, मत्याद्यज्ञानवन्तस्तु न पूर्वप्रतिपन्ना नापि प्रतिपद्यमानकाः, प्रतिपत्तिक्रियाकाले मत्यादिज्ञानभावात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैक्यात्, दर्शनद्वारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आव.मल. उपोद्घाते अवधौ

॥ ७७ ॥

चक्षुर्दर्शनी अचक्षुर्दर्शनी अवधिदर्शनी च लब्धिमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः प्राप्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्याः, उपयोगं प्रतीत्य पूर्वप्रतिपन्ना एव, नतु प्रतिपद्यमानकाः, अवधिज्ञानस्य लब्धित्वाल्लब्ध्युत्पत्तेश्च दर्शनोपयोगे निषिद्धत्वात्, केवलदर्शनी न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानको, देशदर्शनव्यवच्छेदेन केवलदर्शनभावात्, संयतद्वारे संयता असंयताः संयतासंयताः अवधिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रपद्यमानकास्तु भाज्याः, उपयोगद्वारे साकारोपयोगे पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु विवक्षितकाले भाज्याः, अनाकारोपयोगे तु पूर्वप्रतिपन्ना एव, न तु प्रतिपद्यमानकाः, अनाकारोपयोगे लब्ध्युत्पत्तेरभावात्, आहारकद्वारे आहारकाः पूर्वप्रतिपन्नाः नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानका विवक्षितकाले भाज्याः, अनाहारकाश्चापान्तरालगतौ पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च विवक्षितकाले सम्भवन्ति, प्रतिपतितसम्यक्त्वानां तिर्यङ्मनुष्येभ्यो देवनारकत्वेनोत्पद्यमानानामवधिज्ञानस्य प्रतिपत्तेरपि सम्भवात्, भाषकपरीत्तद्वारे प्राग्वत्, पर्याप्तद्वारे षड्भिः पर्याप्तिभिर्ये पर्याप्तास्ते पूर्वप्रतिपन्नाः नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानका विवक्षितकाले भाज्याः, अपर्याप्तका अपि षट्पर्याप्त्यपेक्षया करणापर्याप्तास्ते पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च सम्भवन्ति, सूक्ष्मादीनि द्वाराणि द्रव्यप्रमाणादीनि च प्राग्वत्, उक्तमवधिज्ञानं, तच्चतुर्द्धा, तद्यथा--द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतोऽवधिज्ञानी जघन्यतोऽनन्तानि रूपिद्रव्याणि, उत्कर्षतः सर्वाण्यपि (रूपि) द्रव्याणि जानाति पश्यति, क्षेत्रतोऽवधिज्ञानी जघन्यतोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागं उत्कर्षतोऽलोके लोकप्रमाणमात्राणि सङ्ख्यातीतानि खण्डानि, कालतो जघन्येनावलिकाया असङ्ख्येयं

गत्यादि-मार्गणाः गा. ६८

॥ ७७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिणीः, भावतो जघन्येनाप्यनन्तान् भावान् सर्वभावानामतन्तभागं जानाति पश्यति, एष चावधिः ऋद्धिविशेषो गीयते, तत ऋद्धिप्रतिपादनावसरात् शेषर्धयोरपि वर्ण्यन्ते, ता एवाह—

आमोसहि विप्पोसहि, खेलोसही जल्लमोसहि चेव । संभिन्नसोय उजुमइ, सव्वोसहि चेव बोद्धव्वो ॥ ६९ ॥

चारणआसीविसा केवली य मणनाणिणो य पुव्वधरा । अरिहंत–चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा य ॥ ७० ॥

तत्र आमर्षणमामर्षः, संस्पर्शनमित्यर्थः, स एव औषधिर्यस्यासावामर्षौषधिः, करादिसंस्पर्शनमात्रादेव व्याध्यपनयनसमर्थो, लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात् साधुरेवामर्षौषधिर्लब्धिरित्यर्थः, एवं शेषपदेष्वपि भावना कार्या, 'विप्पोसहि' इति, मूत्रस्य पुरीषस्य वाऽवयवो विट् उच्यते, अन्ये त्वाहुः–विडिति विष्ठा प्रुइति प्रश्रवणं ते औषधिर्यस्यासौ तथा, खेलः-श्लेष्मा औषधिर्यस्य स तथा, जल्लो–मलः स औषधिर्यस्य स तथा, सुगन्धाश्चैते भवन्ति विडादयस्तल्लब्धिमतां, इयमत्र भावना–इहामर्षौषधिलब्धिः कस्यापि शरीरैकदेशे समुत्पद्यते, कस्यापि सर्वस्मिन् शरीरे, तेनात्मानं परं वा यदा व्याध्यपगमबुद्ध्या परामृशति तदा तदपगमो भवति, विडादिभिरपि तल्लब्धिमन्तो यदाऽऽत्मानं परं वा रोगापनयनबुद्ध्या परामृशन्ति तदा तद्रोगापगमः, 'सम्भिन्नसोय'इति यः सर्वैरपि शरीरदेशैः शृणोति स सम्भिन्नश्रोताः, अथवा श्रोतांसि-इन्द्रियाणि सम्भिन्नानि एकैकशः सर्वविषयैर्यस्य स सम्भिन्नश्रोताः–एकतरेणापीन्द्रियेण समस्तापरेन्द्रियगम्यान् विषयान् योऽवगच्छति स सम्भिन्नश्रोता इत्यर्थः, अथवा श्रोतांसि–इन्द्रियाणि सम्भिन्नानि–परस्परत एकरूपतामापन्नानि यस्य स तथा, श्रोत्रं चक्षुःकार्यकारित्वात् चक्षुरूपतामापन्नं, चक्षुरपि श्रोत्रकार्यकारित्वात् तद्रूपतामापन्नमित्येवं सम्भिन्नानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र आमर्षौषधि आदि ऋद्धिनां वर्णनं क्रियते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आव.मल. उपोद्घाते अवधौ

॥ ७८ ॥

यस्य परस्परमिन्द्रियाणि स सम्भिन्नश्रोता इति भावः, अथवा द्वादशयोजनविस्तृतस्य चक्रवर्त्तिकटकस्य युगपत् ब्रुवाणस्य तत्तूर्यसङ्घातस्य वा युगपदास्फाल्यमानस्य सम्भिन्नान्–लक्षणतो विधानतश्च परस्परतो विभिन्नान् जननिवहसमुत्थान् शङ्खकाहलाभेरीभाणकढक्कादितूर्यसमुत्थान् वा युगपदेव सुबहून् शब्दान् यः शृणोति स सम्भिन्नश्रोताः, उक्तं च–"जो सुणइ सव्वतो सुणइ सव्वविसए व सव्वसोएहिं । सुणइ बहुए व सद्दे भिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥ १ ॥" (वि. ७८३) एवं च सम्भिन्नश्रोतृत्वलब्धिरपि, तथा ऋज्वी–प्रायो घटादिमात्रग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः–विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानापेक्षया किञ्चिदविशुद्धतरं मनःपर्यायज्ञानमेव, 'सव्वोसहि'इति सर्व एव विड्मूत्रकेशनखादयोऽवयवाः सुरभयो व्याध्यपनयनसमर्थत्वादौषधयो यस्यासौ सर्वौषधिः, अथवा सर्वा–आमर्षौषध्यादिका औषधयो यस्य एकस्यापि साधोः स तथा, 'चारण' इति चरणं–गमनं तद्विद्यते येषां ते चारणाः, ज्योत्स्नादिभ्योऽण् इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः, तत्र गमनमन्येषामप्यस्ति ततो विशेषणान्यथानुपपत्त्या चरणमिह विशिष्टं गमनमागमनं चाभिगृह्यते, अत एवातिशयने मत्वर्थीयोऽयं, यथा रूपवती कन्येत्यत्र, ततोऽतिशायिगमनागमनलब्धिसम्पन्नाश्चारणाः, ते च द्विभेदाः–जङ्घाचारणा विद्याचारणाश्च, तत्र ये चारित्रतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनागमनविषयलब्धिसम्पन्नास्ते जङ्घाचारणाः, ये पुनर्विद्यावशतः समुत्पन्नगमनागमनलब्धयस्ते विद्याचारणाः, जङ्घाचारणाश्च रुचकवरद्वीपं यावत् गन्तुं समर्थाः, विद्याचारणा नन्दीश्वरं, तत्र जङ्घाचारणा यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छवस्तत्र रविकरानपि निश्रीकृत्य गच्छन्ति, विद्याचारणास्त्वेवमेव, जङ्घाचारणश्च रुचकवरद्वीपं गच्छन् एकेनैवोत्पातेन गच्छति, प्रतिनिवर्त्तमानस्तु प्रथमेनोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति, द्वितीयेन स्वस्थानं,यदि पुनर्मेरुशिखरं जिगमिषुस्तर्हि प्रथमेनैवोत्पातेन पण्ड-

लब्धिकारः गा. ६९–७०

॥ ७८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवनमभिरोहति, प्रतिनिवर्त्तमानस्तु प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनमागच्छति, द्वितीयेन स्वस्थानमिति, जङ्घाचारणो हि चारित्रातिशयप्रभावतो भवति, ततो लब्ध्युपजीवेन औत्सुक्यभावतः प्रमादसम्भवाच्चारित्रातिशयनिबन्धना लब्धिरपि हीयते, ततः प्रतिनिवर्त्तमानो द्वाभ्यामुत्पाताभ्यां स्वस्थानमायाति, विद्याचारणाः पुनः प्रथमेनोत्पातेन मानुषोत्तरं पर्वतं गच्छन्ति, द्वितीयेन तु नन्दीश्वरं, तत्र च गत्वा चैत्यानि वन्दते, ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति, तथा मेरुं गच्छन् प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनं गच्छति, द्वितीयेन पण्डकवनं, तत्र चैत्यानि वन्दित्वा ततः प्रतिनिवर्त्तमान एकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति, विद्याचारणो हि विद्यावशाद्भवति, विद्या च परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते, ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्त्यतिशयसम्भवादेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानागमनमिति, उक्तं च—"अइसयचरणसमत्था जङ्घा–विज्जाहिं चारणा मुणओ। जंघाहिं जाइ पढमो नीसं काउं रविकरेऽवि ॥ २ ॥ एगुप्पाएण गओ रुयगवरमिओ तओ पडिनियत्तो। बीएणं नंदिस्सरमिहं तओ एइ तइएणं ॥ ३ ॥ पढमेण पंडगवणं, बीओप्पाएण नंदणं एइ । तइओप्पाएण तओ इह जंघाचारणो होइ ॥ ४ ॥ पढमेण माणुसोत्तरनगं स नंदिस्सरं तु बिइएण। एइ तओ तइएणं कयचेइयवंदणो इहइं ॥ ५ ॥ पढमेण नंदणवणे बीओप्पाएण पंडगवणम्मि। एइ इहं तइएणं जो विज्जाचारणो होइ ॥ ५ ॥" (वि.७८६-९०)

'आसीविस'इति, आस्यो–दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशीविषाः, ते द्विविधा–जातितः कर्म्मतश्च, तत्र जातितो वृश्चिकमण्डूकोरगमनुष्यजातयः क्रमेण बहुबहुतरबहुतमविषाः, वृश्चिकविषं हि उत्कर्षतोऽर्द्धभरतक्षेत्रप्रमाणं शरीरं व्याप्नोति, मण्डूकविषं भरतक्षेत्रप्रमाणं, भुजङ्गमविषं जम्बूद्वीपप्रमाणं, मनुष्यविषं समयक्षेत्रप्रमाणं, कर्म्मतश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनयो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

मनुष्याः, देवाश्चासहस्रारात्, एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत आशीविषवृश्चिकभुजङ्गादिसाध्यां क्रियां कुर्वन्ति, शापप्रदानादिना परं व्यापादयन्तीति भावः, देवास्त्वपर्याप्तावस्थायां तच्छक्तिमन्तोऽवसातव्याः, ते हि पूर्वं मनुष्यभवे समुपार्जितोर्जिताशीविषलब्धयः सहस्रारान्तदेवेष्वभिनवोत्पन्ना अपर्याप्तावस्थायां प्राग्भविकाशीविषलब्धिसंस्कारादाशीविषलब्धिमंतो व्यवह्रियन्ते, ततः परं पर्याप्तावस्थायां संस्कारस्यापि निवृत्तिरिति न तद्व्यपदेशभाजः, यद्यपि च नाम पर्याप्ता अपि देवाः शापादिना परं व्यापादयन्ति तथापि न लब्धिव्यपदेशः, भवप्रत्ययतस्तथारूपसामर्थ्यस्य सर्वसाधारणत्वात्, गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिरिति प्रसिद्धिः। 'केवली ये'त्यादि, केवलिनश्च प्रसिद्धाः, मनोज्ञानिनो मनःपर्यायज्ञानिनः, तच्च मनःपर्यायज्ञानं विपुलमतिरूपं गृह्यते, ऋजुमतिरूपस्य प्रागेव गृहीतत्वात् तत्र, विपुलं–बहुविशेषोपेतं वस्तु मन्यते–गृह्णातीति विपुलमतिः, बाहुलकात्कर्त्तरि क्प्रत्ययः, यदिवा विपुला–पर्यायशतोपेतचिन्तनीयघटादिवस्तुविशेषग्राहिणी मतिर्मननं यत् तद्विपुलमतिः, पूर्वाणि धारयन्तीति पूर्वधराः–दशचतुर्दशपूर्वविदः, अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः–तीर्थकराःचक्रवर्त्तिनः–चतुर्दशरत्नाधिपाः षट्खण्डभरतेश्वराः, बलदेवाः प्रसिद्धाः, वासुदेवाः सप्तरत्नाधिपाः अर्द्धभरतप्रभवः, एते हि सर्वे एव चारणादयो लब्धिविशेषाः, इह वासुदेवत्वं चक्रवर्त्तित्वमर्हत्त्वं च ऋद्धयः प्रतिपादितास्तत्र तदतिशयप्रतिपादनार्थमाह—

सोलस रायसहस्सा सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं। अंछंति वासुदेवं अगडतडंमी ठियं संतं ॥ ७१ ॥
घेत्तूण संकलं सो, वामगहत्थेण अंछमाणाणं। भुंजिज्ज विलिंपिज्ज व मद्दुमहणं ते न चाएंति ॥ ७२ ॥

Jain Education Inter... For Private & Personal Use Only ...www.jainelibrary.org

इह वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषाद्बलातिशयो वासुदेवस्य प्रदर्श्यते, षोडश राजसहस्राणि सर्वबलेन हस्त्यश्वरथपदातिरूपेण समन्वितानि शृङ्खलानिबद्धं 'अञ्छंति' देशीवचनमेतत् आकर्षन्ति वासुदेवं अवटतटे-कूपतटे स्थितं सन्तं, ततश्च गृहीत्वा शृङ्खलामसौ वामहस्तेन 'अंछमाणाणं'ति आकर्षतां, भुंजीत विलिंपेद्वा अवज्ञया दृष्टः सन्, न पुनस्ते मधुमथनं शक्नुवन्त्याकृष्टुमिति वाक्यशेषः ॥ चक्रवर्त्तिबलप्रतिपादनार्थमाह—

दो सोला बत्तीसा, सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं । अंछंति चक्कवट्टिं, अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ ७३ ॥
घेत्तूण संकलं सो, वामगहत्थेण अंछमाणाणं । भुंजिज्ज विलिंपिज्ज व, चक्कहरं ते न चाएंति ॥ ७४ ॥

'द्वौ षोडशकौ' द्वात्रिंशदित्येतावत्येव वाच्ये द्वौ षोडशकावित्यभिधानं चक्रवर्त्तिनो वासुदेवात् द्विगुणर्द्धिख्यापनार्थं, राजसहस्राणीति गम्यते, द्वात्रिंशद्राजसहस्राणि सर्वबलेन समन्वितानि शृङ्खलानिबद्धमाकर्षन्ति चक्रवर्त्तिनं अवटतटे स्थितं सन्तं, गृहीत्वा शृङ्खलामसौ वामहस्तेनाकर्षतां भुञ्जीत विलिम्पेद्वा, न पुनस्ते चक्रवर्त्तिनं शक्नुवन्त्याकृष्टुमिति वाक्यशेषः ॥ सम्प्रति तीर्थकरबलप्रतिपादनार्थमिदमाह—

जं केसवस्स उ बलं, तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स । तत्तो बला बलवगा, अपरिमियबला जिणवरिंदा ॥ ७५ ॥

यत् केशवस्य बलं तद् द्विगुणं भवति चक्रवर्तिनः, ततः शेषबलाद् 'बला' बलदेवा बलवन्तः, केशवबलापेक्षया त्वर्द्धबला इति प्रसिद्धेरवगन्तव्यम्, तथानिरवशेषवीर्यान्तरायक्षयादपरिमितं बलं येषां तेऽपरिमितबलाः, के ते इत्याह—जिनवरेन्द्राः-तीर्थकृतः, तथा (यद्वा) ततश्चक्रवर्त्तिनो बलाद्बलवन्तो जिनवरेन्द्राः, कियता बलेनेत्याह—अपरिमितबलाः, अपरिमितेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

बलेन बलवन्त इति भावः, तदेवमुक्ता लब्धयः। एताश्चान्यासामपि क्षीराश्रवमध्वाश्रवसर्पिराश्रवकोष्ठबुद्धिबीजबुद्धिपदानुसारित्वाक्षीणमहानसत्वप्रभृतिलब्धीनामुपलक्षणं, तेन ता अपि प्रतिपत्तव्याः, तत्र पुंड्रेक्षुचारिणीनां गवां लक्षस्य क्षीरमर्द्धार्द्धक्रमेण दीयते यावदेवमेकस्याः पीतगोक्षीरायाः क्षीरं, तत्किल चातुरक्यमित्यागमे गीयते, तद्यथोपभुज्यमानमतीव मनःशरीरप्रल्हादहेतुरुपजायते तथा यद्वचनमाकर्ण्यमानं मनःशरीरसुखोत्पादनाय प्रभवति ते क्षीराश्रवाः, क्षीरमिव वचनमासमन्तात् श्रवन्तीति क्षीराश्रवाः इति व्युत्पत्तेः, तथा मध्वपि किमप्यतिशायि शर्करादिमधुरद्रव्यं द्रष्टव्यम्, घृतमपि पुंड्रेक्षुचारिगोक्षीरसमुत्थं मन्दाग्निक्वथितमतिविशिष्टवर्णाद्युपेतं, मध्विव वचनमाश्रवन्तीति मध्वाश्रवाः, घृतमिव वचनमाश्रवन्तीति घृताश्रवाः, तथा कोष्ठ इव धान्यं येषां बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति न किमपि तयोः कालान्तरेऽपि गलति ते कोष्ठबुद्धयः, कोष्ठ इव बुद्धिर्येषां ते कोष्ठबुद्धयः इति व्युत्पत्तेः, येषां पुनर्बुद्धिरेकमपि सूत्रपदमवधार्यं शेषमश्रुतमपि तदवस्थमेव श्रुतमवगाहते, ते पदानुसारिबुद्धयः, येषां पुनर्बुद्धिः एकमर्थपदं तथाविधमनुसृत्य शेषमश्रुतमपि यथावस्थितं प्रभूतमर्थपदमवगाहते ते बीजबुद्धयः, उक्तं च–"खीरमहुसप्पिसाओवमा उ वयणा तथासवा होंति। कोट्ठयधन्नसुनिग्गलसुत्तत्था कोट्ठबुद्धीया ॥ १ ॥ जो सुत्तपएण बहुं सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो। जो अत्थपएणत्थं अणुसरइ स बीयबुद्धी उ ॥२॥" (वि.७९९-८००) अक्षीणं महानसं येषां ते अक्षीणमहानसाः, येषां भिक्षा नान्यैर्बहुभिरप्युपभुज्यमाना निष्ठां याति, किन्तु तैरेव जिमितैः, तेऽक्षीणमहानसाः, आह च चूर्णिकृत्–"अक्खीणमहाणसियस्स भिक्खा न अन्नेण निट्ठविज्जइ, तंमि जिमिए निट्ठाइ' इति, प्रभृतिग्रहणात् गणधरत्वपुलाकत्वतेजःसमुद्घाताहारक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीरकरणादिलब्धयो वेदितव्याः, एतासां च लब्धीनां मध्येऽर्हत्त्वलब्धिर्वासुदेवत्वलब्धिश्चक्रवर्त्तित्वलब्धिः सम्भिन्नश्रोतोलब्धिर्जङ्घाचारणलब्धिः पूर्वधरलब्धिरित्येताः सप्त लब्धयो भव्यस्त्रीणां नोपजायन्ते, अभव्यपुरुषाणामृजुमतित्वविपुलमतित्वलब्धी अपि, अभव्यस्त्रीणां मध्वाश्रवक्षीराश्रवसर्पिराश्रवलब्धयोऽपि, उक्तं च—"जिणबलचक्कीकेसव संभिन्ने जंघचरण पुवे य । भवियाए इत्थियाए एयाओ न सत्त लद्धीओ ॥१॥" शेषास्तु भवन्तीति सामर्थ्यादवसीयते, "रिजुमइविपुलमईओ, सत्त य एयाओ पुवभणियाओ । लद्धीओ अभवाणं, होंति नराणंपि न कयाइ ॥१॥ अभवियमहिलाणंपिहु एयाओ न होंति सत्त लद्धीओ । महुखीरासवलद्धीवि नेव सेसाओ अविरुद्धा ॥२॥" अन्ये त्वेवमाहुः—आमर्षौषधिलब्धिः १ श्लेष्मौषधिलब्धिः २ जल्लौषधिलब्धि ३ विंड्प्रश्रवणौषधिलब्धिः ४ सर्वौषधिलब्धिः ५ कोष्ठबुद्धिः ६ बीजबुद्धिः ७ पदानुसारी ८ सम्भिन्नश्रोता ९ ऋजुमतिः १० विपुलमतिः ११ क्षीरमध्वाश्रवलब्धिः १२ अक्षीणमहानसलब्धिः १३ वैक्रियलब्धिः १४ जङ्घाचारणलब्धिः १५ विद्याधरलब्धिः १६ अर्हत्त्वलब्धिः १७ चक्रवर्त्तित्वलब्धिः १८ बलदेवत्वलब्धिः १९ वासुदेवत्वलब्धिः २० एता विंशतिलब्धयो भव्यपुरुषाणां भवन्ति, तथा चोक्तम्—"आमोसही य खेले जल्ले विप्पे य होइ सव्वे य । कोट्ठे य बीयबुद्धी पयाणुसारी य संभिन्ने ॥१॥ उज्जुमइ विउल खीरे महु अक्खीणे विउव्वि चरणे य । विज्जाहर अरहंता चक्कीबलवासु वीसइमा ॥२॥ भवसिद्धियाणमेया, वीसंपि हवंति इत्थ लद्धीओ ।" इति, तदेतदसम्यक्, अन्यासामपि भवसिद्धिकयोग्यानां गणधरत्वपुलाकत्वप्रभृतीनां लब्धीनां सद्भावात्, नाप्येता भवसिद्धिकयोग्या एव, वैक्रियविद्याधरत्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लब्धीनामामर्षौषध्यादिलब्धीनामपि चाभव्यानामपि सम्भवात् ॥ सम्प्रति मनःपर्यायज्ञानं लब्धिनिरूपणायां सामान्यतोऽपदिष्टमपि विषयस्वाम्यादिविशेषोपदर्शनाय ज्ञानपञ्चकक्रमायातमभिधित्सुराह—

मणपज्जवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं । माणुसखेत्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवओ ॥ ७६ ॥

मनःपर्यायज्ञानं प्राग्निरूपितशब्दार्थम्, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, स च रूपिविषयक्षायोपशमिकत्वादिसाम्येऽप्यवधिज्ञानादिदं मनःपर्यायज्ञानं स्वाम्यादिभेदाद्भिन्नमिति विशेषयति, तथाहि—अवधिज्ञानमविरतसम्यग्दृष्टेरपि भवति, द्रव्यतोऽशेषरूपिद्रव्यविषयं क्षेत्रतो लोकविषयं कतिपयलोकप्रमाणखण्डापेक्षया लोकालोकविषयं च कालतोऽतीतानागतासङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीविषयं भावतोऽशेषेष्वपि रूपिद्रव्येषु प्रतिद्रव्यमसङ्ख्येयपर्यायविषयं, मनःपर्यायज्ञानं पुनः संयतस्याप्रमत्तस्यामर्षौषध्याद्यन्यतमर्द्धिप्राप्तस्य द्रव्यतः संज्ञिमनोद्रव्यविषयं क्षेत्रतो मनुष्यक्षेत्रगोचरं कालतोऽतीतानागतपल्योपमासङ्ख्येयभागविषयं भावतो मनोगतानन्तपर्यायालम्बनं, ततोऽवधिज्ञानाद्भिन्नम्, एतदेव लेशतः सूत्रकृदाह—जनमनःपरिचिन्तितार्थप्रकटनं, जायन्ते इति जनास्तेषां मनांसि जनमनांसि तैः परिचिन्तितश्चासावर्थश्च जनमनःपरिचिन्तितार्थः स प्रकट्यते—प्रकाश्यतेऽनेनेति जनमनःपरिचिन्तितार्थप्रकटनं, तथा मानुषक्षेत्रनिबद्धं, न तद्बहिर्व्यवस्थितप्राणिमनोद्रव्यविषयमिति भावः, तथा गुणाः—क्षान्त्यादयः ते प्रत्ययाः—कारणं यस्य तद् गुणप्रत्ययम्, चारित्रमस्यास्तीति चारित्रवान् तस्य चारित्रवतोऽप्रमत्तसंयतस्य । इदं मनःपर्यायज्ञानं समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः ऋजुमतिरनन्तानन्तप्रादेशिकान् मनोभावपरिणतपुद्गलस्कन्धान् जानाति, तानेव विपुलमतिर्विशुद्धतरान्, क्षेत्रत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ मन:पर्यवज्ञानस्य वर्णनं क्रियते

ऋजुमतिरधोलौकिकग्रामेषु यः सर्वाधस्तन आकाशप्रदेशप्रतरस्तं यावत् ऊर्ध्वं यावत् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलं तिर्यग्याव-
दर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रेषु अर्द्धतृतीयाङ्गुलहीनेषु संज्ञिनां पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां मनोगतान् भावान् जानाति, विपुलमति-
रर्द्धतृतीयैरङ्गुलैरभ्यधिकान्, कालतः ऋजुमतिरतीतमनागतं च पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागमेव विपुलमतिरभ्यधिकतरं विशु-
द्धतरं च, भावतः ऋजुमतिरनन्तान् भावान् जानाति, तानेव विपुलमतिरभ्यधिकतरान्, इह साक्षात् तानेव मनःपर्या-
यान् परिच्छिनत्ति, मनस्त्वपरिणतैः पुनः स्कन्धैरालोचितान् बाह्यानर्थान् मनोद्रव्याणां तथारूपपरिणामान्यथानुपप-
त्तितः, युक्तं चैतत्, यतो मूर्त्तद्रव्यालम्बनमेवेदं मनःपर्यायज्ञानमिष्यते, मन्तारस्त्वमूर्त्तमपि धर्मास्तिकायादिकं मन्यन्ते,
ततोऽनुमानत एव चिन्तितमर्थमवबुध्यन्ते, नान्यथेति प्रतिपत्तव्यम्, आह च भाष्यकृत्—"मुणइ मणोदव्वाइं नरलोए
सो मणिज्जमाणाइं। काले भूय-भविस्से पलियाऽसंखिज्जभागम्मि ॥ १ ॥ दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएऽणंते।
तेणावभासिए उण जाणइ वज्झेऽणुमाणेणं ॥२॥" (वि.८१३-४)इदं मनःपर्यायज्ञानं मनोद्रव्याणां पर्यायानेव गृह्णन् उपजायते,
पर्यायाश्च विशेषाः, विशेषग्राहकं च ज्ञानमतो मनःपर्यायज्ञानमेव भवति, नतु मनःपर्यायदर्शनमिति, ॥ सत्पदप्ररूपणतादय-
स्त्ववधिज्ञानवदगन्तव्याः, नानात्वं चानाहारकापर्याप्तकौ न प्रतिपद्यमानकौ नापि पूर्वप्रतिपन्नाविति ॥ उक्तं मनःपर्याय-
ज्ञानमिदानीमवसरप्राप्तं केवलज्ञानं प्रतिपादयन्नाह—

अह सव्वदव्वपरिणाम-भावविन्नत्तिकारणमणंतं। सासयमप्पडिवायं, एगविहं केवलण्णाणं ॥ ७७ ॥

अथशब्द इहोपन्यासार्थः, पूर्वमुद्देशसूत्रे मनःपर्यायानन्तरं केवलज्ञानमुपन्यस्तं, तत्सम्प्रति तात्पर्यनिर्देशार्थमुपन्यस्यते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ केवलज्ञानस्य वर्णनं क्रियते

इति, पठितश्चान्यत्राप्युपन्यासार्थोऽथशब्दः, यत उक्तम्"अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्वि"ति, सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च–जीवादीनि तेषां परिणामाः–प्रयोगविस्रसोभयजन्या उत्पादादयः पर्यायाः सर्वद्रव्यपरिणामास्तेषां भावः-सत्तास्वरूपं स्वलक्षणं वा स्वं स्वमसाधारणरूपं तस्य विशेषेण ज्ञपनं विज्ञप्तिः विज्ञानं वा विज्ञप्तिः परिच्छेद इत्यर्थः तस्याः कारणं–हेतुः सर्वद्रव्यपरिणामविज्ञप्तिकारणं, केवलज्ञानमिति सम्बध्यते, उक्तं च–"सव्वदव्वाण पओग–वीससामीसजा जहाजोग्गं । परिणामा पज्जाया जम्मविणासादओ सव्वे (ते उ) ॥ १ ॥ तेसिं भावो सत्ता, सलक्खणं वा विसेसतो तस्स । नाणं विण्णत्तीए कारणं केवलण्णाणं ॥२॥" (वि.८२५-६) तच्च स्वज्ञेयानन्तत्वादनन्तम्, तथा शश्वद् भवं शाश्वतम्, सदोपयोगवदिति भावार्थः, तथा प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति न प्रतिपाति अप्रतिपाति, सदावस्थायीति भावः, ननु यत् शाश्वतं तदप्रतिपात्येव ततः किमनेन विशेषणेन?, तदयुक्तम्, सम्यक्शब्दार्थापरिज्ञानात्, शाश्वतं हि नाम अनवरतं भवदुच्यते, शश्वद्भवं शाश्वतमिति व्युत्पत्तेः,तच्च कियत्कालमपि भवति,यावद्भवति तावन्निरन्तरं भवनात्,ततः सकलकालभावप्रतिपत्त्यर्थमप्रतिपातिविशेषणोपादानं, एष तात्पर्यार्थः–अनवरतं सकलकालं भवतीति,अथवा एकपदव्यभिचारेऽपि विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिज्ञापनार्थं विशेषणद्वयोपादानम्, तथाहि–शाश्वतमप्रतिपात्येव, अप्रतिपाति तु शाश्वतमशाश्वतं च भवति, यथा अप्रतिपात्येवावधिज्ञानमिति,तथा एकविधम्–एकप्रकारं तदावरणक्षयस्यैकरूपत्वात्, उक्तं च–"पज्जायओ अणंतं, सासयमिट्ठं सतोवओगाओ । अक्खयओऽपडिवाई एगविहं सव्वसुद्धीए ॥२॥" (वि.८२८) केवलं च तत् ज्ञानं च केवलज्ञानम् ॥ इह तीर्थकृत्समुपजातकेवलालोकस्तीर्थकरनामकर्मोदयतः तथास्वाभाव्यादुपकार्यकृतोपकारानपेक्षं सकलसत्त्वानुग्रहाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सवितेव प्रकाशं देशनामातनोति, तत्राव्युत्पन्नविनेयानां केषांचिदेवमाशङ्का भवेत्–भगवतोऽपि तीर्थकृतस्तावत् द्रव्यश्रुतं ध्वनिरूपं विद्यते, द्रव्यश्रुतं च भावश्रुतपूर्वकं, ततो भगवानपि श्रुतज्ञानीति, ततस्तदाशङ्कापनोदार्थमाह—

केवलनाणेणऽत्थे नाउं जे तत्थ पन्नवणजोग्गे । ते भासइ तित्थयरो, वइजोगसुयं हवइ सेसं ॥ ७८ ॥

केवलज्ञानेन 'सर्वं वाक्यं सावधारण'मिति न्यायात् केवलज्ञानेनैव, न श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकभावातिक्रमात्, सर्वक्षये देशक्षयाभावात्, अर्थान्–धर्मास्तिकायादीनभिलाप्यानभिलाप्यान् ज्ञात्वा–विनिश्चित्य ये तत्र–तेषामभिलाप्यानां मध्ये प्रज्ञापनयोग्या अभिलाप्या इत्यर्थः तान् भाषते, नेतरान्, तानपि प्रज्ञापनयोग्यान् भाषते, न सर्वान्, तेषामनन्तत्वेन सर्वेषां भाषितुमशक्यत्वात्, वाचः क्रमवर्त्तित्वाच्च, आयुषश्च परिमितत्वात्, किन्तु कतिपयानेवानन्तभागमात्रान्, आह च भाष्यकृत्–"पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं । पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥१॥"(वि.१४१) तत्रापि तान् कतिपयान् भाषते ग्राहकापेक्षया योग्यान्, तत्रापि यावन्मात्रे भणिते शेषं स्वयमप्यभ्यूहितुमीष्टे तावन्मात्रं, न त्वभ्यूह्यमपि, उक्तं च–"तत्थवि जोग्गे भासइ नाजोग्गे गाहगाणुवित्तीए । भणिएवि जंमि सेसं सयमूहइ भणइ तम्मत्तं ॥१॥"(वि.८३१) तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिः प्रोच्यमानस्तस्य भगवतो वाग्योग एव भवति, न श्रुतं, तस्य भाषापर्याप्त्यादिनामकर्मोदयनिबन्धनत्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, स च वाग्योगो भवति श्रुतं शेषम्–अप्रधानं, द्रव्यश्रुतमित्यर्थः, श्रोतॄणां भावश्रुतकारणतया द्रव्यश्रुतं व्यवह्रियते इति तात्पर्यार्थः, अन्ये त्वेवं पठन्ति–'वइयोग सुयं हवइ तेसिं' तत्रायमर्थः–तेषां श्रोतॄणां श्रुतकारणत्वात् स वाग्योगः श्रुतं भवति, श्रुतमिति व्यवह्रियते इत्यर्थः, अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाग्योगश्रुतं द्रव्यश्रुतमिति ॥ तत्केवलज्ञानं स्वामिनमधिकृत्य द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–भवस्थकेवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानं, च, तत्र यद् मनुष्यभवे अवस्थितस्य चतुर्घातिकर्मस्वक्षीणेषु केवलज्ञानं तद् भवस्थकेवलज्ञानं, यत् पुनरशेषेषु कर्मांशेष्वपगतेषु सिद्धत्वावस्थायां तत् सिद्धकेवलज्ञानं, तत्र यद् भवस्थकेवलज्ञानं तद् द्विविधम्, तद्यथा–सयोगिभवस्थकेवलज्ञानमयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, तत्र केवलज्ञानोत्पत्तेरारभ्य यावदद्यापि शैलेश्यवस्थां न प्रतिपद्यते तावत् सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं, शैलेश्यवस्थायामयोगिभवस्थकेवलज्ञानं, तत्र यत्सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं तद् द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानमप्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, तत्र यस्मिन् समये केवलज्ञानमुत्पन्नं तस्मिन् समये तत्प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं, शेषेषु तु समयेषु शैलेशीप्रतिपत्तेरर्वाक् वर्त्तमानमप्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, अथवाऽन्यथा द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानमचरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, तत्र यत्सयोगित्वावस्थायाश्चरमसमये वर्त्तमानं तत् चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं, ततः प्राक् शेषेषु समयेषु वर्त्तमानमचरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं, तथा अयोगिभवस्थकेवलज्ञानमपि द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–प्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानमप्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, अथवा चरमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानमचरमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, प्रथमाप्रथमचरमाचरमसमयभावना प्रागुक्तानुसारेण स्वयं भावनीया। सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं परम्परसिद्धकेवलज्ञानं च, तत्र यस्मिन् समये सिद्धो जायते तस्मिन् समये वर्त्तमानमनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं, सिद्धत्वद्वितीयादिसमयेषु वर्त्तमानं परम्परसिद्धकेवलज्ञानं, तत्रानन्तरसिद्धकेवलज्ञानमुपाधिभेदात् पञ्चदशविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–तीर्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धकेवलज्ञान १ मतीथसिद्धकेवलज्ञानं २ तीर्थकरसिद्धकेवलज्ञान ३ मतीर्थकरसिद्धकेवलज्ञानं ४ स्वयंबुद्धसिद्धकेवलज्ञानं ५ प्रत्येकबुद्धसिद्धकेवलज्ञानं ६ बुद्धबोधितसिद्धकेवलज्ञानं ७ स्त्रीलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं ८ पुरुषलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं ९ नपुंसकलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं १० स्वलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान ११ मन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं १२ गृहिलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं १३ एकसिद्धकेवलज्ञानं १४ अनेकसिद्धकेवलज्ञानं १५ च। तत्र ये तीर्थकराणां तीर्थे वर्त्तमाने सिद्धास्तेषां यत्केवलज्ञानं तत्तीर्थसिद्धकेवलज्ञानम्, यत्पुनस्तीर्थकराणां तीर्थेऽनुत्पन्ने व्यवच्छिन्ने वा सिद्धास्तेषां यत्केवलज्ञानं तदतीर्थसिद्धकेवलज्ञानं, तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं तीर्थकरसिद्धकेवलज्ञानं, शेषाणामतीर्थकरसिद्धकेवलज्ञानं, तथा स्वयंबुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं स्वयंबुद्धसिद्धकेवलज्ञानं, प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं प्रत्येकबुद्धसिद्धकेवलज्ञानम्, अथ स्वयंबुद्धप्रत्येकबुद्धानां कः प्रतिविशेषः?, उच्यते, बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतः, तथाहि–स्वयंबुद्धा बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव बुध्यन्ते, स्वयमेव–बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव निजजातिस्मरणादिना बुद्धाः स्वयंबुद्धा इति व्युत्पत्तेः, आह च चूर्णिकृत्–"सयमप्पणिज्जं जाइस्सरणादिकारणं पडुच्च बुद्धा सयंबुद्धा" इति, ते च द्विधा–तीर्थकरास्तीर्थकरव्यतिरिक्ताश्च, इह तीर्थकरव्यतिरिक्तैरधिकारः, आह च चूर्णिकृत्–"ते सयंबुद्धा दुविहा–तित्थयरा तित्थयरवइरित्ता य, इह वइरित्तेहिं अहिगारो' इति, प्रत्येकबुद्धास्तु बाह्यं प्रत्ययमपेक्ष्य, प्रत्येकं बाह्यं–वृषभादिकं कारणमभिसमीक्ष्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः इति व्युत्पत्तेः, तथा च श्रूयते बाह्यप्रत्ययसापेक्षा करकण्डादीनां बोधिः, बहिःप्रत्ययमपेक्ष्य ते च बुद्धाः सन्तो नियमतः प्रत्येकमेव विहरन्ति, न गच्छवासिन इव संहताः, उक्तं च चूर्णौ–"पत्तेयं बाह्यं वृषभादिकं कारणमभिसमीक्ष्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आव.मल. उपोद्घाते अवधौ ॥ ८४ ॥

एएसिं नियमा पत्तेयं विहारो जम्हा तम्हा य ते पत्तेयबुद्धा" इति, तथा स्वयंबुद्धानामुपधिर्द्वादशविध एव पात्रादिकः, प्रत्येकबुद्धानां तु द्विधा–जघन्यत उत्कर्षतश्च, तत्र जघन्यतो द्विविधः, उत्कर्षतो नवविधः प्रावरणवर्जः, उक्तं च–'पत्तेयबुद्धाणं जहण्णेणं दुविहो, उक्कोसेण नवविधो पावरणवज्जो भवति" इति, तथा स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं भवति वा नवा, यदि भवति ततो लिङ्गं देवता वा प्रयच्छति गुरुसन्निधौ वा गत्वा प्रतिपद्यते, यदि च एकाकिविहरणसमर्थ इच्छा च तस्य तथारूपा जायते तत एकाकी विहरत्यन्यथा गच्छवासेऽवतिष्ठते, अथ पूर्वाधीतं श्रुतं तस्य न भवति तर्हि नियमात् गुरुसन्निधौ गत्वा लिङ्गं प्रतिपद्यते, गच्छं चावश्यं न मुञ्चति, तथा चोक्तं चूर्णौ–"पुव्वाहीअं सुयं से हवइ वा नवा, जइ से नत्थि तो लिङ्गं नियमा गुरुसन्निहे पडिवज्जइ, गच्छे य विहरइ इति, अह पुव्वाहीयसुयसंभवो अत्थि तो से लिङ्गं देवया पयच्छइ, गुरुसन्निहे वा पडिवज्जइ, जइ य एगविहारविहरणसमत्थो इच्छा च से तो एक्को चेव विहरइ, अन्नहा गच्छे विहरइ" इति, प्रत्येकबुद्धानां तु पूर्वाधीतं श्रुतं नियमतो भवति, तच्च जघन्यत एकादशाङ्गानि उत्कर्षतः किञ्चिन्न्यूनानि दश पूर्वाणि, तथा लिङ्गं तस्मै देवता प्रयच्छति, लिङ्गरहितो वा कदाचिद् भवति, तथा चोक्तम्–"पत्तेयबुद्धाण पुव्वाहीअसुयं नियमा हवइ, जहण्णेणं एक्कारस अंगा उक्कोसेणं भिन्नदसपुव्वी, लिङ्गं च से देवया पयच्छइ, लिंगवज्जिओ वा भवइ, जतो भणियं–"रूप्पं पत्तेयबुहा" इति, तथा बुद्धैः–आचार्यादिभिर्बोधितस्य यत्केवलज्ञानं तत् बुद्धबोधितकेवलज्ञानं, स्त्रिया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं, स्त्रीत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः, तच्च त्रिधा, तद्यथा–वेदः शरीरनिर्वृत्तिः नेपथ्यं च, तत्रेह शरीरनिर्वृत्त्या प्रयोजनं, न वेदनेपथ्याभ्यां, वेदे सति सिद्धत्वाभावात्, नेपथ्यस्य चाप्रमाणत्वात्, आह च नन्द्यध्ययनचूर्णि-

परम्पर-सिद्धः केवलभेद ॥ ८४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

कृत्–'इत्थीए लिंगं इत्थिलिंगं, इत्थीए उवलक्खणंतिवुत्तं भवति, तं च तिविहं–वेदो सरीरनिव्वित्ती नेवत्थं च, इह सरीरनिव्वित्तीए अहिगारो, न वेयनेवत्थेहिंति" तस्मिन् स्त्रीलिङ्गे वर्त्तमाना ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं स्त्रीलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं, एवं पुरुषलिङ्गे सिद्धानां केवलज्ञानं पुरुषलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं, एवं नपुंसकलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानमपि भाव्यम्, तथा स्वलिङ्गे-रजोहरणादौ सिद्धानां केवलज्ञानं स्वलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं, अन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं नाम यदन्यस्मिन् लिङ्गे वर्त्तमानाः सम्यक्त्वं प्रतिपद्य भावनाविशेषात् केवलज्ञानमुत्पाद्य केवलोत्पत्तिसमकालमेव कालं कुर्वन्ति तदन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं, यदि पुनस्तेऽन्यलिङ्गस्थिताः केवलमुत्पाद्यात्मनोऽपरिक्षीणमायुः पश्यन्ति ततः साधुलिङ्गमेव परिगृह्णन्ति, गृहलिङ्गे स्थिताः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं गृहिलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानम्, एकसिद्धकेवलज्ञानं नाम यस्मिन् समये स विवक्षितः सिद्धस्तस्मिन् समये यद्यन्यः कोऽपि न सिद्धस्ततस्तस्य केवलज्ञानमेकसिद्धकेवलज्ञानं, एकस्मिन् समयेऽनेकेषां सिद्धानां केवलज्ञानमनेकसिद्धकेवलज्ञानं, एकस्मिंश्च समयेऽनेके सिद्धयन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्या वेदितव्याः, यत उक्तम्—"बत्तीसा अडयाला, सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा । चुलसीओ छन्नउई, दुरहियमट्ठुत्तरसयं च ॥ १ ॥" अस्या विनेयजनानुग्रहाय व्याख्या–अष्टौ समयान् यावत् निरन्तरमेकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ताः सिद्धयन्तः प्राप्यन्ते, किमुक्तं भवति,?–प्रथमे समये जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्सिद्धयन्तः प्राप्यन्ते, द्वितीयेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, एवं यावदष्टमेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, ततः परमवश्यमन्तरम्, तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिंशत्पर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्तः सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते, परतो नियमादन्तरं, तथा एकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरन्तरं सिद्ध्यन्तः उत्कर्षतः षट् समयान् यावत्प्राप्यन्ते, तथैकषष्ट्यादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्तः उत्कर्षतः पञ्च समयान् यावदवाप्यन्ते, ततः परमन्तरं, त्रिसप्तत्यादयश्चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्त उत्कर्षतश्चतुरः समयान् यावत्, तत ऊर्द्धमन्तरं, तथा पञ्चाशीत्यादयः षण्णवतिपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्त उत्कर्षतस्त्रीन् समयान्, परतो नियमादन्तरं, तथा सप्तनवत्यादयो द्व्युत्तरशतपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्त उत्कर्षतो द्वौ समयौ यावत्, परतोऽवश्यमन्तरं, तथा त्र्युत्तरशतादयोऽष्टोत्तरशतपर्यन्ताः सिद्ध्यन्तो नियमादेकमेव समयं यावदवाप्यन्ते, न द्वित्रादिसमयानिति । परम्परसिद्धकेवलज्ञानमनेकविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–अप्रथमसमयसिद्धकेवलज्ञानं, सिद्धत्वद्वितीयसमयकेवलज्ञानमिति भावः, द्विसमयसिद्धकेवलज्ञानं, सिद्धत्वतृतीयसमयकेवलज्ञानमित्यर्थः, एवं त्रिसमयसिद्धकेवलज्ञानं चतुःसमयसिद्धकेवलज्ञानं यावत् सङ्ख्येयसमयसिद्धकेवलज्ञानमसङ्ख्येयसमयसिद्धकेवलज्ञानमनन्तसमयसिद्धकेवलज्ञानम् । तदेवमुक्तं केवलज्ञानस्वरूपमथास्य गत्यादिद्वारविषया सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणादीनि च विभाव्यन्ते, तत्र सत्पदप्ररूपणायां गतिमङ्गीकृत्य सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ च केवलज्ञानम्, इन्द्रियद्वारे नोइन्द्रियाऽतीन्द्रियेषु, कायद्वारे त्रसकायाकाययोः, योगद्वारे सयोगायोगयोः, वेदद्वारेऽवेदकेषु, कषायद्वारेऽकषायेषु, लेश्याद्वारे शुक्ललेश्यालेश्ययोः, सम्यक्त्वद्वारे सम्यग्दृष्टिषु, ज्ञानद्वारे केवलज्ञानिषु, दर्शनद्वारे केवलदर्शनिषु, संयतद्वारे संयतेषु नोसंयतेनोअसंयतेनोसंयतासंयतेषु, उपयोगद्वारे साकारानाकारोपयोगयोः, आहारकद्वारे आहारकानाहारकयोः, भाषकद्वारे भाषकाभाषकयोः, परीत्तद्वारे परीत्तेषु नोपरीत्तापरीत्तेषु च, पर्याप्तद्वारे पर्याप्तेषु नोपर्याप्तापर्याप्तेषु च, सूक्ष्मद्वारे बादरेषु नोसूक्ष्मबादरेषु च, संज्ञिद्वारे संज्ञिषु नोसंज्ञासंज्ञिषु, भव्यद्वारे भव्येषु नोभव्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव्येषु च, चरमद्वारे चरमेषु, भवस्थकेवलिनां चरमत्वात्, अचरमेषु च, सिद्धानां भवान्तरप्राप्त्यभावतोऽचरमत्वात्, पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकयोजना तु स्वधिया कर्त्तव्या, द्रव्यप्रमाणद्वारे प्रतिपद्यमानकानाश्रित्योत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतं केवलिनां प्राप्यते, पूर्वप्रतिपन्नाश्च जघन्यत उत्कर्षतश्च कोटीपृथक्त्वप्रमाणा भवस्थकेवलिनः प्राप्यन्ते, सिद्धाः अनन्ताः, क्षेत्रस्पर्शनाद्वारयोस्तु जघन्यतो लोकस्याप्यसङ्ख्येयभागे केवली लभ्यते, उत्कर्षतस्तु सर्वलोके, कालद्वारे साद्यपर्यवसितं कालं सर्वोऽपि केवली भवति, अन्तरं तु केवलज्ञानस्य न विद्यते, प्रतिपाताभावात्, भागद्वारं मतिज्ञानवत्, भावद्वारे क्षायिके भावे, अल्पबहुत्वद्वारं मतिज्ञानिवत् ॥ तच्च केवलज्ञानं समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः केवलज्ञानी सर्वद्रव्याणि जानाति पश्यति, क्षेत्रतः सर्वं क्षेत्रम्, कालतः सर्वकालम्, भावतः सर्वान् भावान्, उक्तं च केवलज्ञानं, तदभिधानाच्च नन्दी, तदभिधानान्मङ्गलमिति ॥ तदेवं मङ्गलस्वरूपाभिधानद्वारेण ज्ञानपञ्चकमुक्तम्, इह तु प्रकृतेन श्रुतज्ञानेनाधिकारः, तथा चाह निर्युक्तिकृत्—

इत्थं पुण अहिगारो सुयनाणेणं जतो सुएणं तु । सेसाणमप्पणोऽविय अणुयोग पदीवदिट्ठंतो ॥७९॥

अत्र–पुनः प्रकृतेऽधिकारः श्रुतज्ञानेनैव (श्रुतेन) शेषाणां मत्यादिज्ञानानामात्मनोऽपि चानुयोगो व्याख्यानं क्रियत इति वाक्यशेषः, स्वपरप्रकाशकत्वात्, तथा चात्र प्रदीपदृष्टान्तः, यथा हि प्रदीपः स्वपरप्रकाशकत्वात् स एव गृहेऽधिक्रियते एवमिहापि श्रुतज्ञानमिति भावः ॥ पीठिका समाप्ता ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रति मङ्गलसाध्यः प्रकृतोऽनुयोग उपदर्श्यते–स च स्वपरप्रकाशकत्वात् गुर्वायत्तत्वाच्च श्रुतज्ञानस्य, उक्तं च–सो मइनाणाईणं कयरस्स ? सुयस्स, जं न सेसाइं । होंति पराहीणाइं, न य परबोहे समत्थाइं ॥ १ ॥ पाएण पराहीणं, दीवोव्व परप्पबोहगं जं च । सुयनाणं तेण परप्पबोहणत्थं तदणुयोगो ॥ २ ॥"(वि.८३८-९) आह–नन्वावश्यकस्यानुयोगः प्रकृत एव,पुनः श्रुतज्ञानस्येत्ययुक्तं,नैष दोषः,आवश्यकमिदं श्रुतान्तर्गतमित्येतदर्थप्रदर्शकत्वादेतद्वाक्यस्य,ननु यदि आवश्यकस्यानुयोगस्तर्हि तदावश्यकं किमङ्गं अङ्गानि श्रुतस्कन्धः श्रुतस्कन्धाः अध्ययनमध्ययनानि उद्देशक उद्देशकाः?, उच्यते, आवश्यकं श्रुतस्कन्धः अध्ययनानि च, न शेषा विकल्पाः, उक्तं च–"आवस्सयं नो अंगं नो अंगाइं सुयक्खंधो नो सुअक्खंधा नो अज्झयणं अज्झयणा नो उद्देसो नो उद्देसगा इति",(अनु.६) ननु नन्दीव्याख्याने अङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतनिरूपणायामनङ्गसंज्ञा प्रतिपादितैव, ततः कथं किमङ्गमङ्गानीत्याशङ्कासम्भवः, सत्यमेतत्, केवलं तद्व्याख्यानानियमप्रदर्शनार्थमेतद्वाक्यमित्यदोषः, न खल्ववश्यं शास्त्रादौ नन्द्यध्ययनार्थकथनं कर्त्तव्यमिति नियमः, अकृते चाशङ्कासम्भव इति, ननु शास्त्रस्यादावश्यं मङ्गलार्थं नन्द्यभिधानं तावत् कर्त्तव्यम्, ततः कथमनियमः?, नैष दोषः, ज्ञानपञ्चकाभिधानमात्रस्यैव मङ्गलत्वात्, तथाहि–ज्ञानपञ्चकाभिधानमात्रमेवावश्यं शास्त्रस्यादौ मङ्गलार्थं कर्त्तव्यम्, नत्ववयवार्थाभिधानं, अवयवार्थानभिधाने चाशङ्कासम्भवः, किञ्च–आवश्यकव्याख्यानारम्भे शास्त्रान्तरव्याख्यानारम्भोऽसमीचीनोऽप्रस्तुतत्वात्, शास्त्रान्तरं च नन्दी, पृथक्श्रुतस्कन्धत्वात्, यद्येवमिहावश्यकश्रुतस्कन्धानुयोगप्रारम्भे किमिति नन्द्यनुयोगः कृतः?, उच्यते–शिष्यानुग्रहार्थं, न पुनरेष नियम इति ख्यापनार्थम्, अथवा अपवादपदप्रदर्शनार्थम्,तथाहि–कदाचिदुत्कलितप्रज्ञविनीतपुरुषापेक्षया तदनुग्रहार्थं उत्क-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

मेणापि अन्यारम्भे चान्यद्व्याख्यायते, इति कृतं प्रसङ्गेन, तत्र यस्मादिदं शास्त्राभिधानमावश्यकश्रुतस्कन्ध इति तद्भेदाश्चाध्ययनानि ततः आवश्यकं निक्षेप्तव्यम् श्रुतस्कन्धश्च, अपरस्त्वाह—किमिदं शास्त्राभिधानं प्रदीपाभिधानवत् यथार्थं आहोश्चित् पलाशाभिधानवत् अयथार्थं उत डित्थाद्यभिधानवत् अनर्थकं ?, तत्र यदि यथार्थं ततस्तदुपादेयम्, तत्रैव समुदायार्थपरिसमाप्तिभावात्, उच्यते—यथार्थम्, तथाहि—पूर्वसूरिप्रदर्शितेयमस्य व्युत्पत्तिः—अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकम्, श्रमणादिभिरवश्यं उभयकालं क्रियते इति भावः, क्वचिदिति कर्म्मणि बाहुलकात् ड्प्रत्ययः, पृषोदरादय इति निपातनात् शेषरूपसिद्धिः, अथवा ज्ञानादिगुणानामा—समन्तात् वश्या इन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात् तदावश्यकं 'शेषाद्वे'ति कचूप्रत्ययः, यदिवा ज्ञानादिगुणकदम्बकं मोक्षो वा आ—समन्तात् वश्यं क्रियतेऽनेनेत्यावश्यकं, अथवा 'आवस्सयं'ति प्राकृतशैल्या आवासकं, गुणशून्यमात्मानं गुणैरावासयतीत्यावासकं, गुणसान्निध्यमात्मनः करोतीति भावः, तच्चावश्यकं चतुर्विधम्, तद्यथा—नामावश्यकं स्थापनावश्यकं द्रव्यावश्यकं भावावश्यकञ्च, तत्र जीवस्याजीवस्य जीवानां वा अजीवानां वा तदुभयस्य वा तदुभयेषां वा आवश्यकमिति नाम क्रियते तन्नामनामवतोरभेदोपचारात् नामावश्यकं, स्थापनावश्यकं नाम काष्ठकर्मादिष्वक्षवराटकादिषु वा सद्भावस्थापनया वा असद्भावस्थापनया वा यदावश्यकमिति स्थाप्यते तत् स्थापनावश्यकं, द्रव्यावश्यकं द्विधा, तद्यथा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो यस्यावश्यकमिति पदं शिक्षितं स्थितं जितं मितं परिजितं नामसमं घोषसमं अहीनाक्षरमनत्यक्षरमव्याविद्धाक्षरमस्खलितममिलितमव्यत्याम्रेडितं प्रतिपूर्णं प्रतिपूर्णघोषं कण्ठौष्ठविप्रमुक्तं वाचनोपगतं च स्यात् स पुरुष आगमतो द्रव्यावश्यकं, तत्र शिक्षितं नाम यत् पठनक्रियया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ आवश्यक शब्दस्य निक्षेपा: वर्णयते

अन्तं नीतम्, तदेवाविस्मरणतश्चेतसि स्थितत्वात् स्थितं अप्रच्युतमित्यर्थः, परावर्त्तनं कुर्वतः परेण वा क्वचित्पृष्टस्य यत् शीघ्रमागच्छति तत् जितम्, अक्षरसङ्ख्यया पदसङ्ख्यया वा परिच्छिन्नं मितं, परि समन्तात् जितं परिजितं, परावर्त्तनं कुर्वतो यत्क्रमेणोत्क्रमेण वा समागच्छतीति भावः, नामसमं यथा कस्यचित् स्वनाम शिक्षितं स्थितं जितं मितं परिजितं च भवति तथैतदपीति भावः, घोषसमं यथा गुरुणाऽभिहिता घोषास्तथा यत्र शिष्येणापि सम्यगुच्चार्यन्ते तद् घोषसममिति भावः, अहीनाक्षरमेकेनाप्यक्षरेणाहीनम्, अनत्यक्षरमेकेनाप्यक्षरेणानधिकं, तथा न व्याविद्धानि-विपर्यस्तरत्नमालागतरत्नानीव विपर्यस्तान्यक्षराणि यत्र तदव्याविद्धाक्षरम्, उपलशकलाद्याकुलभूभागे लाङ्गलमिव यन्न स्खलति तदस्खलितं, अनेकशास्त्रसम्बन्धीनि सूत्राणि एकत्र मीलयित्वा यत्पठ्यते तन्मिलितं यन्न तथा तदमिलितम्, अव्यत्याम्रेडितमस्थानविरतिरहितं, अत एव प्रतिपूर्णं हीनाधिकाक्षराभावात्, प्रतिपूर्णघोषं गुरुवत् सम्यगुदात्तादिघोषाणामुच्चारणात्, वाचनोपगतं वाचनया प्रश्नेन परिवर्त्तनया धर्म्मकथया नानुप्रेक्षया उपगतं प्राप्तं, शेषं सुगमम्, नोआगमतो द्रव्यावश्यकं त्रिविधम्, तद्यथा—ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यावश्यकं च, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे पूर्ववत्, तद्व्यतिरिक्तं त्रिधा, तद्यथा—लौकिकं कुप्रावचनिकं लोकोत्तरं च, तत्र ये इमे राजेश्वरतलवरमाडंबिकप्रभृतयः प्रातरुत्थाय शरीरचिन्तामुखदन्तप्रक्षालनराजकार्यादि कुर्वन्ति तल्लौकिकं द्रव्यावश्यकं, ये पुनरिमे चरकप्रमुखाः परिव्राजकाः प्रातरुत्थाय स्कन्धादिदेवतागृहसम्मार्जनोपलेपनधूपनादि कुर्वन्ति तत् कुप्रावचनिकमावश्यकं, यत्पुनरेते श्रमणगुणमुक्तयोगिनः षड्जीवनिकायनिरनुकम्पा हया इव उद्दामानो गजा इव निरङ्कुशाः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाण्डुरपटप्रावरणा जिनानामनाज्ञया स्वच्छंदसो विहृत्योभयकालं आवश्यककरणायोपतिष्ठन्ते तल्लोकोत्तरं द्रव्या-
वश्यकं, भावशून्यत्वेनाभिप्रेतफलाभावात्, एत्थ उदाहरणं–वसंतपुरं नगरं, तत्थ गच्छो अगीअत्थसंविग्गो विहरइ, तत्थ
एगो अगीयत्थो समणगुणमुक्कजोगी, सो दिवसे २ उदउल्लससणिद्धआहाकम्माईणि पडिसेवित्ता विआले महया संवेएण
आलोएइ, तस्स पुण गणी अगीअत्थत्तणओ पायच्छित्तं दिंतो भणइ–अहो इमो धम्मसंठिओ साहू, सुहं पडिसेविउं
दुक्खं आलोएउं, एवं नाम एस आलोएइ अगूहंतो, असढत्तणतो एस सुद्धोत्ति, एयं दट्ठूण अन्ने अगीयत्था समणा
पसंसंति, चिंतंति य–नवरं आलोएयव्वं, नत्थेत्थ किंचि पडिसेविएणंति, तत्थन्नया कयाइ कोइ गीयत्थो संविग्गो विहर-
माणो आगतो, सो तं दिवसदेवसियविहिं दट्ठूण उदाहरणं दरिसेइ–गिरिनयरे अ कोइ रयणवाणियगो, सो रयणाण
घरं भरेऊण पलीवेइ, तं पासित्ता सव्वो लोगो पसंसइ, अहो इमो धन्नो भयवंतं हुयासणं तिप्पेइ, अन्नया कयाइ तेण तं
घरं पलीवियं, वातो य पवलो जाओ, दड्ढं सव्वं नयरं, पच्छा रण्णा पडिभणितो, सव्वस्सावहारो से कतो, अन्नहिं नगरे
एगो एवं करेइ, सो रायणा सुतो जहा एवं करेइ, सो सव्वस्सहरणं काऊण विसज्जितो, अडवीए कीस न पलीवेसि ?,
जहा तेण वाणियगेण अवसेसावि दड्ढा एवं तुमंपि एयं पसंसंतो एए साहुणो परिच्चयसि, जाहे न ढाइ ताहे साहुणो
भणिया–एस महानिद्धम्मो अगीयत्थो अलं एयस्स आणाए, जइ एयस्स निग्गहो न कीरइ ताहे अन्नेऽवि विणस्संति,
गतं द्रव्यावश्यकं, सम्प्रति भावावश्यकं वक्तव्यं, तदपि द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो भावावश्यक-
मावश्यकज्ञाता उपयुक्तः, 'उपयोगो भावनिक्षेप' इति वचनात्; नोआगमतो भावावश्यकं त्रिविधं, तद्यथा–लौकिकं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥ ८८ ॥

कुप्रावचनिकं लोकोत्तरं च, तत्र यत्पूर्वाह्णे भारतव्याख्यानम् अपराह्णे रामायणव्याख्यानमेतल्लौकिकं, यत् पुनरेते चरक-प्रभृतयः पाखण्डस्था निजनिजदेवतास्मरणजापप्रमुखमनुष्ठानं कुर्वन्ति तत् कुप्रावचनिकं भावावश्यकं, यत् पुनः श्रमणो वा श्रमणी वा श्रावको वा श्राविका वा एकान्ते विशुद्धचित्त उभयकालं प्रतिक्रमणं करोति तल्लोकोत्तरं नोआगमतो भावावश्यकं, ज्ञानक्रियारूपोभयपरिणामात्मकत्वात्, मिश्रवचनश्चात्र नोशब्दः, अनेन लोकोत्तरेणेहाधिकारः, अस्य चामून्येकार्थिकानि–आवश्यकं अवश्यकरणीयं ध्रुवनिग्रहो विशुद्धिः अध्ययनषट्कवर्गः न्यायः आराधनामार्ग इति, उक्तं च—"आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुवनिग्गहो विसोही य । अज्झयणछक्कवग्गो नाओ आराहणामग्गो" ॥ १ ॥ (अनु०२*) आवश्यकशब्दस्य व्युत्पत्तिप्रदर्शिका चेयं गाथा–"समणेण सावएण य अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा। अंतो अहोनिसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम॥१॥(अनु-३*)"श्रुतमपि चतुर्विधं–तद्यथा–नामश्रुतं स्थापनाश्रुतं द्रव्यश्रुतं भावश्रुतं च, तत्र नामस्था-पने प्रतीते, द्रव्यश्रुतं द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्त्रिविधं–ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे पूर्ववत्, तद्व्यतिरिक्तं पुस्तकपत्रन्यस्तम्, अथवा श्रुत-मिति सूत्रमप्युच्यते, तच्च सूत्रं तद्व्यतिरिक्तं पञ्चधा, तद्यथा–अण्डजं पोण्डजं कीटजं वालजं वल्वजं च, तत्र अण्डजं वटकसूत्रं, पञ्चेन्द्रियहंसगर्भसम्भवमित्यन्ये, पोण्डजं कर्पासप्रभवं, कीटजं पञ्चधा, तद्यथा–पट्टसूत्रं मलयं अंशुकं चीनांशुकं कृमिरागं, अत्र वृद्धव्याख्या—किल यत्र विषये पट्टसूत्रमुत्पद्यते तत्रारण्ये वननिकुञ्जस्थाने मांसचीडादिरूपस्वामिनस्य पुञ्जाः क्रियन्ते, तेषां च पुञ्जानां पार्श्वतो निम्ना उन्नताश्च सान्तरा बहवः कीलका भूमौ निखन्यन्ते, तेषु च वनान्तरेषु

श्रुतनि-क्षेपाः

॥ ८८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र श्रुत शब्दस्य निक्षेपा: वर्णयते

सञ्चरन्तः पतङ्गकीटाः समागत्य मांसाद्यामिषोपभोगलुब्धाः कीलकान्तरेष्वितस्ततः परिभ्रमन्तो लालाः प्रमुञ्चन्ति, ताश्च कीलकेषु लग्नाः परिगृह्यन्ते, एतत्पट्टसूत्रमभिधीयते, अनेनैव क्रमेण मलयविषयोत्पन्नं तदेव मलयं, इत्थमेव चीनविषयव-हिरुत्पन्नमंशुकम्, इत्थमेव चीनविषयोत्पन्नं तदेव चीनांशुकमित्यभिधीयते, क्षेत्रविशेषाद्धि कीटविशेषः, कीटविशेषाच्च पट्टसू-त्रादिव्यपदेशविशेष इति, एवं क्वचिद् विषये मनुष्यादिशोणितं गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजनसम्पुटे स्थाप्यते, तत्र च प्रभूताः कृमयः समुत्पद्यन्ते, ते च वाताभिलाषिणो भाजनच्छिद्रैर्निर्गत्य तदासन्नं पर्यटन्तो यल्लालाजालमभिमुञ्चन्ति तत्कृ-मिरागं पट्टसूत्रमुच्यते, तच्च रक्तवर्णकृमिसमुत्थत्वात् स्वपरिणामत एव रक्तं भवति, अन्ये त्वभिदधति–यदा तत्र शोणिते कृमयः समुत्पन्ना भवन्ति तदा सकृमिकमेव तन्मलित्वा किट्टिसं परित्यज्य रसो गृह्यते, तत्र च कश्चिद्योगः प्रक्षिप्यते, तेन यद्रज्यते पट्टसूत्रं तत्कृमिरागमिति, तच्च धौताद्यवस्थास्वपि न मनागपि रागं मुञ्चति, वालजं पञ्चविधं, तद्यथा— और्णिकमौष्ट्रिकं मृगलोमिकं कौतवं किट्टिसं च, तत्र ऊर्णामयं और्णिकम्, औष्ट्ररोमनिष्पन्नमौष्ट्रिकं, मृगाकृतयो बृहत्पुच्छा आटविका जीवविशेषा मृगास्तल्लोमनिष्पन्नं मृगलोमिकं, उदररोमनिष्पन्नं कौतवम्, ऊर्णादीनां यदुद्धरितं किट्टिसं तन्निष्पन्नं सूत्रमपि किट्टिसं, वल्वजं सणप्रभृति, भावश्रुतं द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः, नोआ-गमतो द्विविधं–लौकिकं लोकोत्तरं च, तत्र लौकिकं भारतरामायणादि, लोकोत्तरं द्वादशाङ्गं गणिपिटकम् । आवश्यकं नोआगमतो भावश्रुतं, नोशब्द एकदेशवचनः, तस्य चेमान्येकार्थिकानि–श्रुतं सूत्रं ग्रन्थः सिद्धान्तः प्रवचनमाज्ञा वचनं उपदेशः प्रज्ञापना आगमः, उक्तं च—"सुयसुत्तगंथसिद्धंतपवयणे आणवयणउवएसे । पण्णवणआगमे या एगट्ठा

Jain Education Intern... For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥ ८९ ॥

पज्जवा सुत्ते॥१॥"(अनु-४*वि.८९४)स्कन्धोऽपि नामादिभेदाच्चतुर्विधः, तत्र नामस्थापने गते, द्रव्य[श्रुत]स्कन्धो द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः, नोआगमतस्त्रिविधो–ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्रतीते, तद्व्यतिरिक्तस्त्रिविधः, तद्यथा–सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च, तत्र सचित्तो द्विपदादिः अचित्तो द्विप्रदेशकादिर्मिश्रः सेनादेर्देशादिः, भावस्कन्धो द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता उपयुक्तो, नोआगमतस्त्विदमावश्यकं, नोशब्दो देशवचनः, सकलश्रुतस्कन्धापेक्षया आवश्यकश्रुतस्कन्धस्य एकदेशत्वात्, सामायिकादीनां श्रुतविशेषाणां स्कन्धः श्रुतस्कन्धः आवश्यकं च तत् श्रुतस्कन्धश्च आवश्यकश्रुतस्कन्धः। आह—कस्मादिदमावश्यकं षडध्ययनात्मकम् ?, उच्यते, षडर्थाधिकारभावात्, ते चामी सामायिकादीनां यथाक्रममर्थाधिकाराः, "सावज्जजोगविरई १ उक्कित्तण २ गुणवतो अ पडिवत्ती ३। खलियस्स निंदणा ४ वणतिगिच्छ ५ गुणधारणा ६ चेव॥१॥" (अनु-६*वि.९०२) अस्या विनेयजनानुग्रहायाक्षरगमनिका–प्रथमे सामायिकलक्षणेऽध्ययने प्राणातिपातादिसर्वसावद्ययोगविरतिरर्थाधिकारः, 'उक्कित्तण' इति द्वितीये चतुर्विंशतिस्तवाध्ययने प्रधानकर्म्मक्षयकारणत्वात् लब्धबोधविशुद्धिहेतुत्वात् पुनर्बोधिफलत्वाच्च सर्वसावद्ययोगविरत्युपदेशकत्वेनोपकारिणां तीर्थकृतां गुणोत्कीर्त्तनाधिकारः, 'गुणवतो अ पडिवत्ती'त्ति गुणाः–मूलगुणोत्तरगुणरूपा व्रतपिण्डविशुद्ध्यादयस्ते विद्यन्ते यस्यासौ गुणवान् तस्य प्रतिपत्तिः वन्दनकादिका कर्त्तव्येति तृतीये वन्दनाध्ययनेऽर्थाधिकारः, चशब्दात्पुष्टालम्बनेऽगुणवतोऽपि प्रतिपत्तिः कर्त्तव्येति द्रष्टव्यं, 'खलियस्स निंदण'त्ति स्खलितस्य–मूलोत्तरगुणेषु प्रमादाचीर्णस्य प्रत्यागतसंवेगस्य जन्तोर्विशुद्धाध्यवसायवतोऽकार्यमिति निन्दा प्रतिक्रमणेऽर्थाधिकारः, 'वणतिगिच्छा'

स्कन्धनिक्षेपाः

॥ ८९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र स्कन्ध शब्दस्य निक्षेपा: वर्णयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

इति कायोत्सर्गाध्ययने व्रणचिकित्सा अर्थाधिकारः, इदमुक्तं भवति—चारित्रपुरुषस्य योऽयमतिचाररूपो भावव्रणस्तस्य दशविधप्रायश्चित्तभेषजेन कायोत्सर्गाध्ययने चिकित्सा प्रतिपादयिष्यते इति, 'गुणधारणा चेवे'ति प्रत्याख्यानाध्ययने गुणधारणा अर्थाधिकारः, इदमत्र हृदयम्—मूलगुणोत्तरगुणप्रतिपत्तिस्तस्याश्च निरतिचारसन्धारणं यथा भवति तथा प्रत्याख्यानाध्ययने प्ररूपणा करिष्यते, चशब्दादन्ये चापान्तरालार्थाधिकारा विज्ञेयाः, एवकारोऽवधारणे इति गाथार्थः॥ एतेषां चार्थाधिकाराणां प्रत्यध्ययनमर्थाधिकारद्वार एवावसरः, केवलमिह प्रसङ्गत उक्ताः। तदेवमावश्यकश्रुतस्कन्धानां न्यास उक्तः, इदानीमध्ययनन्यासप्रस्तावः, तं चानुयोगद्वारक्रमायातं प्रत्यध्ययनमोघनिष्पन्ने नामनिष्पन्ने च लाघवार्थं वक्ष्यामः, एष आवश्यकस्य समुदायार्थः, साम्प्रतमवयवार्थप्रदर्शनाय एकैकाध्ययनं वक्ष्यामः, तत्र प्रथममध्ययनं सामायिकं, प्रथमता चास्य समभावलक्षणत्वाच्चतुर्विंशतिस्तवादीनां च तन्निदत्वात्, अस्य च सामायिकाध्ययनस्य महापुरुषस्येव चत्वारि अनुयोगद्वाराणि भवन्ति, अनुयोगो नाम सूत्रस्य व्याख्यानं तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—तत्प्रवेशमुखानि अनुयोगद्वाराणि, यथा हि अकृतद्वारं नगरमनगरमेव भवति, कृतैकद्वारमपि हस्त्यश्वरथजनसङ्कुलत्वात् दुःखसञ्चारं कार्यातिपत्तये च जायते, कृतचतुर्मूलप्रतोलीद्वारं तु सप्रतिद्वारं सुखनिर्गमप्रवेशं कार्यानतिपत्तये च, सामायिकपुरमप्यर्थाधिगमोपायद्वारशून्यमशक्याधिगमं भवति, कृतैकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेण द्राघीयसा च कालेनाधिगम्यते, विहितसप्रभेदोपक्रमादिद्वारचतुष्टयं तु सुखाधिगममल्पीयसा च कालेनाधिगम्यते, ततः फलवाननुयोगद्वारोपन्यासः, उक्तं च—"अणुओगदाराइं महापुररसेव तस्स चत्तारि। अणुओगोत्ति तदत्थो, दाराइं तस्स उ मुहाइं॥ १॥ अकयदारमनगरं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र अनुयोगद्वाराणि दर्शयते

कएगदारंपि दुक्खसंचारं। चउमूलद्दारं पुण सप्पडिदारं सुहाहिगमं॥२॥ सामाइयपुरमेवं (महपुरमवि) अकयद्दा तहेगदारं वा। दुरहिगमं चउदारं सप्पडिदारं सुहाहिगमं ॥३॥ (वि.९०७-९) तानि चानुयोगद्वाराण्यमूनि--उपक्रमो निक्षेपः अनुगमो नयः, तत्र शास्त्रमुपक्रम्यते-समीपमानीयते निक्षेपस्थानेनेति उपक्रमः, निक्षेपयोग्यतापादनमिति भावः, उपक्रमान्तर्गतभेदैर्हि विचारितं निक्षिप्यते नान्यथेति, निक्षेपणं निक्षेपो-नामादिभेदैः शास्त्रस्य न्यसनं, अनुगमनमनुगम्यते वा शास्त्रमनेनेति अनुगमः-सूत्रस्यानुकूलः परिच्छेदः, तथा नयनं नीयते वा अनेनेति नयः-वस्तुनो वाच्यस्य पर्यायाणां सम्भवतोऽधिगमः। ननूपक्रमादिद्वाराणां किमित्येवं क्रमः ?, उच्यते, इह नानुपक्रान्तं सत् निक्षिप्यतेऽसमीपीभूतत्वात्, गुरुपर्वक्रमलक्षणेन हि सम्बन्धेन समीपमानीतं नामादिभेदैर्निक्षेप्तुं शक्यं, नान्यथेति, न च नामादिभेदैरनिक्षिप्तं यथावदर्थतोऽनुगम्यते, न चार्थतोऽननुगतं नयैर्विचारयितुं शक्यते, ततोऽयमेव क्रमः, उक्तं च-"दारक्कमोऽयमेव उ निक्खिप्पइ जेण नासमीवत्थं। अणुगम्मइ नानत्थं नाणुगमो नयमयविहूणो ॥१॥"(वि.९१५) तत्र उपक्रमो द्विविधः-शास्त्रीय इतरश्च, तत्रेतरः षट्प्रकारः, तद्यथा-नामोपक्रमः स्थापनोपक्रमो द्रव्योपक्रमः क्षेत्रोपक्रमः कालोपक्रमो भावोपक्रमश्च, तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्योपक्रमो द्विधा-आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतः उपक्रमपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्त्रिधा-ज्ञशरीरद्रव्योपक्रमो भव्यशरीरद्रव्योपक्रमो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्योपक्रमश्च, तत्राद्यभेदद्वयं प्रतीतं, तद्व्यतिरिक्तद्रव्योपक्रमस्त्रिविधस्तद्यथा-सचित्तद्रव्योपक्रमोऽचित्तद्रव्योपक्रमः मिश्रद्रव्योपक्रमश्च, सचित्तद्रव्योपक्रमस्तु त्रिधा-द्विपदचतुष्पदापदोपाधिभेदात्, पुनरेकैको द्विधा-परिकर्म्मणि वस्तुनाशे च, तत्र परिकर्म्म नाम द्रव्यस्य गुणविशेषपरिणामकरणं, वस्त्वभावापादनं वस्तुनाशः, तत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिकर्म्मणि द्विपदोपक्रमो यथा पुरुषस्य वर्णादिकरणमथवा कर्णस्कन्धवर्द्धनादि, अन्ये तु शास्त्रगन्धर्वनृत्यादिकलासम्पादनमपि द्रव्योपक्रमं व्याचक्षते, तदसाधु, शास्त्रादिपरिज्ञानस्य विज्ञानविशेषात्मकत्वात् तदुपक्रमस्य भावोपक्रमत्वात्, यदिवा आत्मद्रव्यसंस्कारविवक्षया द्रव्योपक्रमत्वेऽप्यविरोधः, एवं शुकशारिकादीनामपि शिक्षागुणविशेषकरणं भावनीयं, तथा चतुष्पदानां हस्त्यादीनां शिक्षागुणविशेषकरणं चतुष्पदोपक्रमः, अपदानां वृक्षादीनां वृक्षायुर्वेदोपदेशाद्वार्द्धक्यादिगुणापादनमपदोपक्रमः। ननु यत्स्वयं कालान्तरभाव्युपक्रम्यते यथा तरोर्वार्द्धक्यादि तत्र परिकर्म्मणि द्रव्योपक्रमता युक्ता, वर्णकरणं कलादिसम्पादनं च कालान्तरेऽपि विवक्षितहेतुजालमन्तरेण नोपपद्यते ततः कथं तस्य परिकर्म्मणि द्रव्योपक्रमता ?, नैष दोषः, विवक्षितहेतुजालमन्तरेण नोपपद्यते इत्यस्यासिद्धत्वात्, वर्णो हि नामकर्मविपाकोदयसम्भवी कलादयोऽपि च ज्ञानावरणकर्म्मक्षयोपशमभाविनः, ततो विवक्षितहेतुजालमन्तरेणापि कालान्तरे स्वयमप्येते सम्भवन्ति, विभ्रमविलासादीनां युवावस्थायां तथा दर्शनात्, ततः स्वयं कालान्तरभाविनामेतेषां अर्वाक् विवक्षितहेतुजालेन सम्पादनं उपपद्यते परिकर्म्मण्युपक्रमणमिति, वस्तुविनाशे तु पुरुषादीनामुपक्रमणं खड्गादिभिर्विनाशः। आह–परिकर्म्मवस्तुविनाशयोरभेद एव, उभयत्रापि पूर्वरूपपरित्यागेनोत्तरावस्थापत्तेरविशिष्टत्वात्, तदसम्यक्, परिकर्मोपक्रमजनितोत्तररूपापत्तौ हि प्राणिनामविशेषेण प्रत्यभिज्ञानाद्युपजायते, वस्तुनाशोपक्रमसम्पादिते तूत्तरधर्म्मे वस्तुन्यदर्शनमिति महान् विशेषः, अथवा एकत्र नाश एव विवक्षितो नोत्तरावस्थेत्यदोषः, अचित्तद्रव्योपक्रमः परिकर्म्मणि यथा पद्मरागमणेः क्षारमृत्पुटपाकादिना वैमल्यापादनं, वस्तुविनाशे विनाशः, मिश्रद्रव्योपक्रमः परिकर्म्मणि कटकादिविभूषितपुरुषादिद्र-

आव. १६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यस्य शिक्षापादनं, वस्तुविनाशे खड्गादिभिर्विनाशः। कारकयोजना स्वधिया भावनीया, तद्यथा—द्रव्यस्य द्रव्याणां द्रव्येण द्रव्यैर्वा द्रव्ये द्रव्येषु वा उपक्रमो द्रव्योपक्रमः, तत्र द्रव्यस्योपक्रमो यथा एकस्य पुरुषस्य शिक्षाकरणं, द्रव्याणामुपक्रमो यथा तेषामेव बहूनां, द्रव्येणोपक्रमो यथा फलकेन समुद्रतरणं, द्रव्यैरुपक्रमो बहुभिः यथा फलकैर्नावं निष्पाद्य समुद्रोल्लङ्घनं, द्रव्ये उपक्रमो यथा कस्याप्येकस्मिन् फलके उपविष्टस्य शिक्षाकरणं, द्रव्येषूपक्रमो बहूपविष्टस्य, तथा क्षेत्रस्योपक्रमः क्षेत्रोपक्रमः, सोऽपि द्विधा—परिकर्मणि वस्तुविनाशे च, ननु क्षेत्रमाकाशं 'खेत्तं खलु आगास' मिति वचनात्, तच्चामूर्त्तं नित्यं च, ततः कथं तस्य परिकर्म्मविनाशोपपत्तिः ?, उच्यते, इह तद्व्यवस्थितद्रव्यपरिकर्मविनाशौ भवतः उपचारेण खलु क्षेत्रस्यापि परिकर्म्मविनाशौ व्यपदिश्येते, भवति च तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो, यथा—मञ्चाः क्रोशन्ति, ततो न कश्चिद्दोषः, तत्र परिकर्म्मणि क्षेत्रोपक्रमो नावा समुद्रस्योल्लङ्घनं हलकुलिकादिभिर्वा इक्ष्वादिक्षेत्रस्य परिकर्म्मणा, वस्तुविनाशे क्षेत्रोपक्रमो गजबन्धनादिभिः क्षेत्रस्य विरूपीकरणं, तथा कालो नाम वर्त्तनादिरूपत्वात् द्रव्यपर्यायः, ततो द्रव्यस्य परिकर्म्मणि वस्तुविनाशे वा कालस्यापि तावुपचर्येते, इति कालोपक्रमः, उक्तं च—"जं वत्तणाइरूवो कालो दव्वाण चेव पज्जाओ। ता तक्करणविणासे कीरइ कालोवयारोत्थ (इ) ॥१॥" (वि.९२६) अथ ये वर्त्तनादिरूपमेव कालमिच्छन्ति तन्मतेन कालोपक्रम एवंरूपो भवतात्, यस्तु लोकप्रसिद्धो घटिकामुहूर्त्तप्रहरादिरूपस्तस्य कथं परिकर्म्मरूपो विनाशरूपश्च उपक्रमः ?, उच्यते, इह यत् शङ्कादिच्छायया नाडिकया वा यथार्थं प्रहरादिपरिज्ञानं स परिकर्म्मणि कालोपक्रमः, यत्तु ग्रहनक्षत्रादिचारविशेषैर्विरूपीभवनं स वस्तुविनाशे कालोपक्रमः, आह च—"छायाएँ नालियाए व परिकम्मं से जहत्थविण्णाणं। रिक्खा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईचारेहि व तस्स विणासो विवज्जासो ॥ १ ॥" (वि. ९२७) भावोपक्रमो द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः, नोआगमतो द्विधा–प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, भावोपक्रमो हि नाम परहृदयाकूतस्य यथावत्परिज्ञानं, तच्च प्रशस्ताप्रशस्तविषयतया द्विभेदमिति द्विधा भावोपक्रमः–प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, तत्राप्रशस्तो ब्राह्मणीगणिकामात्यादीनां, अत्रोदाहरणानि, एगा मरुगिणी, सा चिंतेइ–किह धूयाओ सुहियाओ होज्जत्ति?, ताहे जेट्ठिया धूया सिक्खविया–जह तुमं वरेण सह कीलंती अवसरं लहेऊण वरं मत्थए पण्हियाए आहणिज्जासि, तीए तहा कयं, सो तुट्ठो पायं महितुमारद्धो, न हु दुक्खाविया तुमंति, ततो पभाए तीए मायाए कहियं, ताए भण्णइ–जं करेहि तं करेहि, न एस तुब्भ अवरज्झइ' इति, बीया सिक्खविया, तीएवि तहा कयं, सो झंखित्ता उवसंतो, मायाए कहियं, सा भणइ–तुमंपि वीसत्था चिट्ठह, नवरं झंखणतो एसत्ति, तइया सिक्खविया, तीएवि पाएण मत्थए आहतो, सो रुट्ठो, तेण दढं पिट्टिता, धाडिया य, तं अकुलपुत्ती जा एवं करेसि, तीए मायाए कहियं, पच्छा कहवि अणुगमिओ, अम्हं एस कुलधम्मोत्ति, धूया य भणिया–जहा देवयस्स तहा वट्टिज्जासि, न अन्नहा इति । गणियादिट्ठंतो–एगंमि नयरे चउसट्ठिकलाकुसला गणिया, तीए परभावोवक्कमणनिमित्तं रइघरंमि सवाओ पगिईओ नियनियवावारं करेमाणीओ आलिहाविया ओ, तत्थ य जो जो एइ वद्धइमाइ सो सो णियं नियं सिप्पं पसंसेइ, नायभावो य सुअणुयत्तो हवइ, अणुयत्तिओ य उवयारं गाहितो बहुयं बहुयं दवजायं वियरइ, एसवि अपसत्थो भावोवक्कमो । इयाणिममच्चदिट्ठंतो–एगंमि नयरे कोइ राया अस्सवाहणियाए अमच्चेण सह निग्गतो, तत्थ य से अस्सेण वच्चंतेण कंमिवि पएसे काइया वोसिरिया, खेलरं वद्धं, तं पुढवीए थिरत्तणतो तद्दिवसं चेव रण्णा पडिनियत्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माणेण सुइरं निज्झाइयं, चिंतियं च रण्णा–इह तलागं सोहणं हवइत्ति, न उण वुत्तं, अमच्चेण य इंगियागारकुसलेण रायाणमणापुच्छिय महासरवरं खणाविय, से पालिए आरामा पचुरा कया, तेणं कालेणं तेणं समएणं रन्ना पुणरवि अस्सवाहणियाए गच्छंतेणं दिट्ठं, भणियं चऽणेण–केणेयं खणाविय ?, अमच्चेण भणियं–सामि ! तुब्भेहिं चेव, राइणा भणियं–कहं ?, अमच्चेण भणियं–अवलोयणाए कहिए परितुट्ठेण रण्णा पसाओ कतो, एसोऽवि अपसत्थो भावोवक्कमो, उक्तोऽप्रशस्तो भावोपक्रमः । इदानीं प्रशस्त उच्यते–तत्र श्रुतादिनिमित्तमाचार्यभावोपक्रमः प्रशस्तः, आह–ननु व्याख्याङ्गप्रतिपादनाधिकारे गुरुभावोपक्रमाभिधानमनर्थकं, तदसम्यक्, तस्यापि व्याख्याङ्गत्वात्, गुर्वधीना हि शास्त्रारम्भास्ततः अवश्यं कर्त्तव्यो गुरुभावोपक्रमः, उक्तं च–"गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि । तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकाङ्क्षिणा भाव्यम् ॥ १ ॥ (प्रश.६९) तथा भाष्यकारेणाप्यभाषि—"गुरुचित्तायत्ताइं वक्खाणंगाइं जेण सवाइं । तो जेण सुप्पसन्नं होइ तयं तं तहा कज्जं ॥१॥ जो जेण पगारेणं तूसइ करणविणयाणुवित्तीहिं । आराहणाएँ मग्गो सोच्चिय अवाहतो तस्स ॥ २॥ आगारिंगियकुसलं जइ सेयं वायसं वए पुज्जा । तहविय सिं नवि कूडे विरहंमि य कारणं पुच्छे ॥ ३॥ निवपुच्छिएणगुरुणा भणितो गंगा कतोमुही वहइ ? । संपाइयवं सीसो जह तह सवत्थ कायवं ॥ ४ ॥ (वि. ९३१–४) एताश्चतस्रोऽपि भाष्यगाथाः सुगमाः, नवरं चरमगाथाया भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–कन्यकुब्जे पुरे केनचिद्राज्ञा सूरिणा सह गोष्ठीप्रबन्धे प्रोक्तं–राजपुत्रा विनीताः, सूरिणाऽभिहितं–साधवः, ततो विवादे सूरिणा प्रोक्तं–युष्मदीयः सर्वोत्कृष्टगुणो विनेयो राजपुत्रः परीक्ष्यतामस्मदीयस्त्वविनीतो भवतां यः प्रतिभासते स एव साधुरिति, ततोऽभ्युपगतं राज्ञा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समादिष्टश्च विनीततया प्रसिद्धो राजपुत्रः–कुतोमुखी गङ्गा वहतीति शोधय, तेनोक्तम्–किमिह शोधनीयं ?, बालानामपि प्रतीतमेतत्–पूर्वाभिमुखी गङ्गा प्रवहतीति, राज्ञा प्रोचे–किमिति त्वमत्रैव वितण्डावादं करोषि ?, गत्वा निरीक्षस्व तावत्, ततो मनस्यसूयां वहन् बहिः संवृतिं कृत्वा महता कष्टेन ततः प्रदेशान्निर्गतः, सिंहद्वारे च गच्छन् केनापि मित्रेण पपृच्छे–भद्र ! क्व गतव्यं ?, तेनासूयया प्रोक्तम्–अरण्ये रोझानां लवणदानार्थं, ततो मित्रेणोक्तम्–कोऽयं व्यतिकरो ?, राजपुत्रेण सर्वमपि राजादिष्टं निवेदितं, मित्रेणोक्तं–यदि राज्ञो ग्रहः संलग्नः तत्किं तवापि संलग्नः ?, गत्वा निवेदय–निरीक्षिता मया गङ्गा, पूर्वाभिमुखी वहति, तथैवानुष्ठितं राजपुत्रेण, प्रच्छन्नहेरिकेण च निवेदितं राज्ञस्तच्चेष्टितं, ततो विलक्षेण राज्ञा प्रोक्तम्—भव्यं, साधुरपि परीक्ष्यतां, ततो यः कश्चिदविनीतो राज्ञा लक्षितस्तद्विषये राज्ञा परीक्षार्थं प्रतिपादितेन गुरुणाऽभिहितः स शिष्यो–गत्वा निरीक्षस्व केन मुखेन गङ्गा वहतीति, तत्र पूर्वाभिमुखी गङ्गा वहतीति गुरवोऽपि विदन्ति, परमत्र केनापि कारणेन भवितव्यमिति चेतसि निश्चित्य तेन प्रोक्तम्–इच्छाम्यादेशमिति, एतच्चाभिधाय निर्गतः प्राप्तो गङ्गां निरीक्षिता सा स्वयं तदनन्तरं पृष्टा परेभ्यः तदनु शुष्कतृणादिवहनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चिता, ततो निवेदितमागत्य गुरुभ्यः–इत्थमित्थं च मया निश्चितं–पूर्वाभिमुखी गङ्गा वहतीति, प्रच्छन्नहेरिकेणाप्यस्य सर्वं निवेदितं, ततोऽभ्युपगतं सहर्षेण राज्ञा गुरुवचनमिति। ननु यद्येवं गुरुभावोपक्रम एवाभिधातव्यो न शेषा निष्प्रयोजनत्वात्, तदयुक्तं, गुरुचित्तप्रसादनार्थं तेषामुपयोगित्वात्, तथाहि–देशकालावपेक्ष्य परिकर्मनाशौ द्रव्याणामुदकौदनादीनामाहारादिकार्येषु कुर्वन् हरति विनेयो गुरूणां चेतः, अथवोपक्रमसामान्यात् प्रकृते निरुपयोगा अप्यन्यत्रोपयो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥ ९३ ॥

क्ष्यन्ते इत्युपन्यस्तास्ततो न कश्चिद्दोष इत्यलं प्रसङ्गेन, उक्त इतर उपक्रमः। सम्प्रति शास्त्रीय उच्यते, स षोढा, तद्यथा–आनुपूर्वी १ नाम २ प्रमाणं ३ वक्तव्यता ४ अर्थाधिकारः ५ समवतारः ६, तत्रानुपूर्वी दशधा, तद्यथा–नामानुपूर्वी स्थापनानुपूर्वी २ द्रव्यानुपूर्वी ३ क्षेत्रानुपूर्वी ४ कालानुपूर्वी ५ गणनानुपूर्वी ६ उत्कीर्त्तनानुपूर्वी ७ संस्थानानुपूर्वी ८ सामाचार्यानुपूर्वी ९ भावानुपूर्वी १०, उक्तं च–"नामं ठवणादविए, खेत्ते काले य गणण अणुपुवी। उक्कित्तण संठाणे सामायारी य भावे य ॥ १ ॥" एतासु दशस्वानुपूर्वीषु यथासम्भवमवतारणीयमिदं सामायिकाध्ययनं, तत्रोत्कीर्त्तनानुपूर्व्यां गणनानुपूर्व्यां चाङ्गसा समवतरति, उत्कीर्त्तनं नाम संशब्दनं यथा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तव इत्यादि, गणनं–परिसङ्ख्यानं, एकं द्वे त्रीणि चत्वारि, सा च गणनानुपूर्वी त्रिप्रकारा, तद्यथा–पूर्वानुपूर्वी पश्चानुपूर्वी अनानुपूर्वी च, तत्र सामायिकं पूर्वानुपूर्व्यां प्रथमं, पश्चानुपूर्व्यां षष्ठम्, अनानुपूर्व्यां त्वनियतं–क्वचित्प्रथमं क्वचिद् द्वितीयमित्यादि, तत्रानानुपूर्वीणामयं करणोपायः,–एगादेगुत्तरगा छगच्छगया परोप्परऽब्भत्था। पुरिमंतिमदुगहीणा परिमाणमणाणुपुवीणं ॥१॥(वि.९४२) अस्या गाथाया अक्षरगमनिका–एकाद्या एकोत्तरकाः अङ्का व्यवस्थाप्यन्ते, एकोत्तरका इति एकैक उत्तरो–वर्द्धमानो येषु ते एकोत्तरकाः ते च षडध्ययनप्रस्तावात् षड्गच्छगताः समवसेयाः, तत्र षण्णां गच्छः–समुदायः षड्गच्छः तं गताः–तत्प्रतिबद्धाः ते च परस्पराभ्यस्ताः–परस्परगुणिताः प्रथमान्तिमभङ्गद्वयरहिताः सर्वसङ्ख्यारूपमनानुपूर्वीणां परिमाणं भवति, तथाहि–एकोत्तरकाः षड्ध्ययनविषयाः षडङ्काः स्थाप्यन्ते, १। २। ३। ४। ५। ६। ते च परस्परं गुण्यन्ते, तद्यथा–एककेन द्विको गुण्यते, जातौ द्वौ, एकेन गुणितं तदेव भवतीति वचनात्, द्वाभ्यां त्रिको गुण्यते जाताः षट्

अनानुपूर्वीभेदाः

॥ ९३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

तैश्चत्वारो गुण्यन्ते जाताः चतुर्विंशतिः तया पञ्च गुण्यन्ते जातं विंशं शतं, तेन षट् गुण्यन्ते, जातानि विंशानि सप्त भङ्गकशतानि ७२०, इह च प्रथमभङ्गः पूर्वानुपूर्वीरूपः चरमभङ्गस्तु पश्चानुपूर्वीरूपस्तदपनयनेऽष्टादशोत्तराणि सप्त शतानि सर्वसङ्ख्यया अनानुपूर्वीभङ्गकपरिमाणं, अथवेयमनानुपूर्वीभङ्गकानामानयनोपायभूता करणगाथा–"पुव्वाणुपुवि हेट्ठा समयाभेएण कुण जहाजेट्ठं। उवरिमतुल्लं पुरओ नसेज्ज पुव्वक्कमो सेसे॥१॥"(वि.९४३) अस्या अपीयमक्षरगमनिका–इह विवक्षितपदानां क्रमेण स्थापना पूर्वानुपूर्वी, तस्या अधस्ताद् द्वितीयादिभङ्गकान् जिज्ञासुः कुरु–स्थापय एकादिपदानीति शेषः, कथमित्याह—ज्येष्ठस्यानतिक्रमेण यथाज्येष्ठं, यो यस्यादौ स तस्य ज्येष्ठः, यथा एकको द्विकस्य ज्येष्ठः, त्रिकस्यानुज्येष्ठः, चतुष्कादीनां तु ज्येष्ठानुज्येष्ठः, एवं त्रिकस्य द्विको ज्येष्ठः, स एव द्विकश्चतुष्कस्यानुज्येष्ठः पञ्चकादीनां ज्येष्ठानुज्येष्ठः, एवं सत्युपरितनाङ्कस्याधस्तात् ज्येष्ठो निक्षिप्यते तस्मिन्नलभ्यमानेऽनुज्येष्ठस्तस्मिन्नप्यलभ्यमाने ज्येष्ठानुज्येष्ठ इति यथाज्येष्ठं निक्षेपं कुरु, किमनियमेन,? नेत्याह–'समयाभेदेन' समयः–संकेतः प्रस्तुतभङ्गरचना व्यवस्था तस्य अभेदः–अनतिक्रमः तेन समयाभेदेन निक्षेपं कुरु, समयस्य च भेदस्तदा भवति यदा तस्मिन्नेव भङ्गके निक्षिप्ताङ्कसदृशोऽपरोऽप्यङ्कः समापतति, तत एवम्भूतं समयभेदं वर्जयन्नेव ज्येष्ठाद्यङ्कनिक्षेपं कुरु, उक्तं च–"जहियम्मि उ निक्खित्ते, पुणरवि सो चेव अंकविन्नासो। सो होइ समयभेदो वज्जेयव्वो पयत्तेणं॥१॥" (अनु.चू.) निक्षिप्तस्य चाङ्कस्य पुरस्तात्–अग्रतः उपरितनाङ्कैः तुल्यं–सदृशं यथा भवति एवं न्यसेत्, उपरितनाङ्कसदृशानेवाङ्कान् पुरतः स्थापयेदित्यर्थः, 'पुव्वक्कमो सेसे' इति यथासङ्ख्यं निक्षिप्ताङ्कस्य यथासम्भवं पृष्ठतः शेषे–उद्धरितशेषाङ्कानाम् पृष्ठतस्तानेवोद्धरितशेषान् पूर्वक्रमेण स्थापयेत्, यः सङ्ख्यया लघुः स प्रथमं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

स्थाप्यते यस्तु सङ्ख्यया महान् स पश्चात् एष पूर्वक्रमः, पूर्वानुपूर्वीलक्षणे प्रथमभङ्गके इत्थमेव क्रमस्य दृष्टत्वादिति करण-गाथार्थः, भावार्थस्तु दिङ्मात्रप्रदर्शनाय सुखाधिगमाय ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाणि त्रीणि पदान्याश्रित्योपदर्श्यते–तत्र एकद्वि-त्रिलक्षणस्य पदत्रयस्याभ्यासे सामान्येन सर्वसङ्ख्यया षड् भङ्गाः, ते चैवमधिकृतेन करणेनानीयन्ते, तत्रायं पूर्वानुपूर्वीलक्षणः प्रथमो भङ्गकः १ । २ । ३ । अस्याश्च पूर्वानुपूर्व्या अधस्ताद् भङ्गकरचनायां क्रियमाणायामेककस्य तावत् ज्येष्ठ एव नास्ति, द्विकस्य तु विद्यते एककः स तदधस्तान्निक्षिप्यते, तस्य चाग्रस 'उवरिमतुल्लं पुरतो नसेज्ज' इति वचनात् त्रिको न्यस्यते, पृष्ठत उद्धरितशेषो द्विको दीयते, ततोऽयं द्वितीयो भङ्गकः सम्पन्नः २ । १ । ३ । अत्र द्विकस्य विद्यते ज्येष्ठः परं नासौ तदधस्तान्निक्षिप्यते, अग्रतः सदृशाङ्कपातेन समयभेदप्रसङ्गात्, एककस्य तु ज्येष्ठ एव नास्ति, त्रिकस्य तु विद्यते ज्येष्ठो द्विकः स तदधस्तान्निक्षिप्यते, अत्र चाग्रभागस्य तावदसम्भव एव, पृष्ठतस्तु स्थापितशेषौ एककत्रिकौ क्रमेण स्थाप्येते, 'पुव्वक्कमो सेसे' इति वचनात्, ततोऽयं तृतीयो भङ्गकः सञ्जातः १ । ३ । २ । अत्राप्येकस्य ज्येष्ठ एव न विद्यते, त्रिकस्य तु ज्येष्ठोऽस्ति द्विको न चासौ तदधस्ताञ्न्यस्यते, अग्रे सदृशाङ्कपातेन समयभेदापत्तेः, ततोऽस्यै-वानुज्येष्ठ एककः स्थाप्यते, अग्रतस्तु द्विको दीयते, 'उवरिमतुल्लं पुरतो नसेज्ज' इति वचनात्, पृष्ठतस्तु स्थापितशेषस्त्रिको व्यवस्थाप्यते इति चतुर्थो भङ्गः ३ । १ । २ । अथत्त्रिकस्य विद्यते द्विको ज्येष्ठः एककश्चानुज्येष्ठः परं तौ न तदधस्ता-न्निक्षिप्येते, पुरतः सदृशाङ्कपातेन समयभेदप्रसङ्गात्, एककस्य तु ज्येष्ठ एव नास्ति, द्विकस्य तु अस्त्येकको ज्येष्ठः स तदधस्ताञ्न्यस्यते, तस्य पृष्ठतस्तु स्थापितशेषौ द्विकत्रिकौ क्रमशः स्थाप्येते इति पञ्चमो भङ्गः २ । ३ । १ अत्र द्विकस्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्येककको ज्येष्ठः किन्त्वसौ न तदधस्तान्निक्षिप्यते, पुरतः सदृशाङ्कन्यासापत्त्या समयभेदप्रसक्तेः, त्रिकस्य तु द्विको ज्येष्ठः, स तदधस्तान्निक्षिप्यते, अग्रतस्त्वेकको दीयते, 'उवरिमतुल्लं पुरतो नसेज्ज' इति वचनात्, पृष्ठतस्तु स्थापितशेषस्त्रिकः

१२३
२१३
१३२
३१२
२३१
३२१

स्थाप्यते, एष षष्ठो भङ्गः ३ । २ । १ षण्णामपि च भङ्गानामियं समुदायस्थापना ॥ अत्राद्यभङ्गस्य पूर्वानुपूर्वीत्वाच्चरमस्य च पश्चानुपूर्वीत्वान्मध्यमा एव चत्वारो भङ्गाः अनानुपूर्वीत्वेन मन्तव्याः, एवं चतुःपञ्चषट्सप्ताष्टादिपदानामपि भङ्गकाः समानेतव्याः । इदानीं नाम वक्तव्यं–प्रतिवस्तु नमनान्नाम, तच्चैकादिदशान्तं यथाऽनुयोगद्वारेषु तथा वक्तव्यं, तत्र सामायिकस्य षण्णाम्न्यवतारः, तत्र च षट् भावा औदयिकादयो निरूप्यन्ते, तत्र सर्वस्यापि श्रुतस्य क्षायोपशमिकत्वात् क्षायोपशमिके भावेऽवतारः । तथा प्रमाणं द्रव्यादि, प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः, तच्च प्रमाणं प्रमेयभेदाच्चतूरूपं, तद्यथा–द्रव्यप्रमाणं क्षेत्रप्रमाणं कालप्रमाणं भावप्रमाणं च, तत्र सामायिकं भावात्मकत्वात् भावप्रमाणविषयं, तच्च भावप्रमाणं गुणनयसङ्ख्याभेदात् त्रिप्रकारं, तद्यथा—गुणप्रमाणं नयप्रमाणं सङ्ख्याप्रमाणं चेति, तत्रेदं जीवगुणरूपत्वात् गुणप्रमाणेऽन्तर्भवतीति, गुणप्रमाणमपि द्विधा–जीवगुणप्रमाणमजीवगुणप्रमाणं च, तत्र जीवादपृथग्भूतत्वात् सामायिकस्य जीवगुणप्रमाणे समवतारः, जीवगुणप्रमाणमपि त्रिधा, तद्यथा–ज्ञानगुणप्रमाणं दर्शनगुणप्रमाणं चारित्रगुणप्रमाणं च, तत्र बोधात्मकत्वात् सामायिकस्य ज्ञानगुणप्रमाणे समवतारः, ज्ञानगुणप्रमाणमपि चतुर्द्धा, तद्यथा–प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्च, तत्र सामायिकस्य प्रायः परोपदेशसव्यपेक्षत्वादागमप्रमाणे समवतारः, आगमोऽपि द्विधा लौकिकलोकोत्तरभेदात्, तत्रेदं सामायिकं सर्वज्ञप्रणीतत्वाल्लोकोत्तरे समवतरति, ननु लोको-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥ ९५ ॥

त्तरोऽप्यागमः सूत्रार्थोभयरूपत्वात् त्रिविध एव तत्रेदं क्वान्तर्भवति ?, उच्यते, सामायिकस्य सूत्रार्थोभयरूपत्वात्रिविधेऽपि लोकोत्तरागमे, उक्तं च–"जीवानन्नत्तणतो जीवगुण बोहभावतो नाणे। लोगुत्तरसुत्तत्थोभयागमे तस्स भावाओ ॥१॥"(वि.९४७) ननु लोकोत्तर आगमस्त्रिधा, तद्यथा–आत्मागमः अनन्तरागमः परम्परागमश्च, ततः केदं समवतरति ?, उच्यते, इदं सूत्रतो गौतमादीनामात्मागमः तच्छिष्याणां जम्बूस्वामिप्रभृतीनामनन्तरागमः, प्रशिष्याणां तु प्रभवप्रमुखाणां परम्परागमः, तथा अर्थतोऽर्हतामात्मागमः गणधराणामनन्तरागमः तच्छिष्याणां परम्परागमः एवं सूत्रतोऽर्थतश्च त्रिविधे प्रमाणेऽन्तर्भवति, उक्तं च–"सुत्ताउ गणहराणं तस्सिसाणं तहा पसिस्साणं। एवं अत्ताणंतरपरम्परागमपमाणंमि ॥१॥" "अत्थेण उ तित्थंकरगणहरसिस्साणमेवमेवेदं ॥(वि.९४८॥)" नयप्रमाणे तु मूढनयं कालिकश्रुतमिति नयस्य नाधुनाऽवतारः, पूर्वं त्वनुयोगानामपृथग्भावे स आसीत्, यदिवा पुरुषं कञ्चनापि समासाद्य नयप्रमाणतत्त्ववित् यथाशक्ति नयेऽपि समवतारं कुर्यात्, आह च–"आसि पुरा सो नियतो अणुओगाणमपुहुत्तभावंमि। संपइ नत्थि पुहुत्ते होज्जवि पुरिसं समासज्ज ॥१॥" (वि.९५०) सम्प्रति सङ्ख्याप्रमाणं चिन्त्यते, तत्र सङ्ख्या नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालौपम्यपरिमाणभावभेदादष्टप्रकारा यथाऽनुयोगद्वारेषु तथा वक्तव्या, तत्रोत्कालिकश्रुतपरिमाणसङ्ख्यायां समवतारः, तत्र सूत्रतः सामायिकं परिमितप्रमाणं अर्थतोऽनन्तपर्यायत्वादपरिमितप्रमाणं। सम्प्रति वक्तव्यता, सा त्रिविधा, तद्यथा–स्वसमयवक्तव्यता परसमयवक्तव्यता उभयसमयवक्तव्यता चेति, तत्र समयः–सिद्धान्तः वक्तव्यता–पदार्थविचारः, तत्र स्वसमयवक्तव्यतायामस्य सामायिकाध्ययनस्य समवतारः, स्वसमयस्यैव अत्र प्रतिपाद्यमानत्वाद्, एवं सर्वाण्यप्यध्ययनानि स्वसमयवक्त-

नामप्रमाणे

॥ ९५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

व्यतायां समवतारणीयानि, परसमयप्रतिपादकानां उभयसमयप्रतिपादकानामपि सम्यग्दृष्टेः स्वसमयत्वात्, हेयोपादेयार्थानां सम्यक् हेयोपादेयतया परिज्ञानात्, आह च–परसमओ उभयं वा सम्मद्दिट्ठिस्स ससमओ जेणं। तो सव—ज्झयणाइं ससमयवत्तव्वनिययाइं ॥१॥(वि.९५३)" इदानीमर्थाधिकारः, स चाध्ययनसमुदायार्थः, स च स्वसमयवक्तव्यतैकदेशः, स च सावद्ययोगविरतिरूपः। इदानीं समवतारः, स च लाघवार्थं प्रतिद्वारं समवतारणाद्वारेण प्रदर्शित एव, उक्त उपक्रमः। इदानीं निक्षेपः, स च त्रिविधस्तद्यथा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च, तत्रौघो नाम सामान्यं शास्त्राभिधानं, तच्चेह चतुर्विधम्–अध्ययन १ मक्षीण २ मायः ३ क्षपणा ४ च, उक्तं च–"ओहो जं सामन्नं, सुयाभिहाणं चउव्विहं तं च। अज्झयणं अज्झीणं आओ झवणा य पत्तेयं॥१॥"(वि.९५८) पुनरेकैकं नामादिभेदाच्चतुर्विधं, तद्यथा–नामाध्ययनं स्थापनाध्ययनं द्रव्याध्ययनं भावाध्ययनं च, तथा नामाक्षीणं स्थापनाक्षीणं द्रव्याक्षीणं भावाक्षीणं, तथा नामायः स्थापनायो द्रव्यायो भावायः, नामक्षपणा स्थापनाक्षपणा द्रव्यक्षपणा भावक्षपणा च, एतानि च यथाऽनुयोगद्वारेषु तथा प्ररूप्येदं सामायिकमध्ययनं भावाध्ययने भावाक्षीणे भावाये भावक्षपणायां चायोज्यं, तत्र यस्मादनेन शुभमध्यात्मं जन्यतेऽथवाऽध्यात्ममानीयते, अधिकं वा अयनं बोधस्य संयमस्य मोक्षस्य वा इदमित्यध्ययनमाद्यव्युत्पत्तिपक्षद्वये पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः, तथा शिष्येभ्योऽनवरतं दीयमानमप्यव्युच्छित्तिनयापेक्षया न क्षयमुपयात्यलोकवदित्यक्षीणं, ज्ञानदर्शनचारित्राणां प्राप्तिहेतुत्वादायः, पापकर्मक्षपणहेतुत्वात् क्षपणा, उक्तं च–"जेण सुहज्झप्पजणणं-अज्झप्पाणयणमहियमत्थं वा। बोहस्स संजमस्स व मोक्खस्स व जं तमज्झयणं॥१॥ अज्झीणं दिज्जंतं अवोच्छित्तिनयतो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलोगोव्व । आयो नाणाईणं झवणा पावाण खवणंति ॥ २ ॥" (वि.९६०-१) नामनिष्पन्ने निक्षेपे सामायिकमिति विशेषनाम, तच्च नामादिभेदाच्चतुर्विधमिदं च निरुक्तिद्वारे सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तौ च प्रपञ्चेन वक्ष्यामः, आह-यदि तदिह नाम अवसरप्राप्तं तर्हि किमिति निरुक्त्यादावस्य स्वरूपप्रतिपादनं? तत्र चेत् स्वरूपाभिधानमस्य तर्हि कस्मादत्रोपन्यासः?, उच्यते, इह निक्षेपद्वारे निक्षेपमात्रस्यैवावसरः, निरुक्तौ तु तदन्वाख्यानस्येत्यदोषः, नन्वेवमपि निरुक्तिद्वार एव यदि सामायिकव्याख्यानं ततः किं सूत्रे पुनरभिधीयते?, तदसम्यक्, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, सूत्रे हि सूत्रालापकव्याख्यानं, न तु नाम्नः, निरुक्तौ तु निक्षेपद्वारन्यस्तं सामायिकमित्यध्ययनाभिधानं निरूप्यते, इत्यलं प्रसङ्गेन, उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः । सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपस्यावसरः, स च प्राप्तावसरोऽपि न निक्षिप्यते, कस्मादिति चेत्, उच्यते, सूत्राभावाद्, असति हि सूत्रे कस्यालापकस्य निक्षेपः?, ततोऽस्तीतः तृतीयमनुयोगद्वारमनुगमाख्यं तत्रैव निक्षेप्स्यामः, आह-यदि प्राप्तावसरोऽप्यसाविह न निक्षिप्यते ततः किमित्युपन्यस्यते?, उच्यते, निक्षेपसामान्यात्, आह च-"इह जइ पत्तोऽवि तओ न नस्सए कीस भण्णए इहइं?। दाइज्जइ सो निक्खेवमित्तसामण्णतो नवरं ॥१॥" (वि.९७०) इदानीमनुगमावसरः, स च द्विधा-निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्च, निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः, तद्यथा-निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शकनिर्युक्त्यनुगमश्च, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमो नाम यदघो नामादिन्यासान्व्याख्यानमुक्तं ततः सोऽनुगत एव, इदानीमुपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमप्रस्तावः, स च उद्देशादिद्वारलक्षणः, ततोऽस्य महार्थत्वात् मा भूद्विघ्न इति प्रारम्भेऽस्य मङ्गलमुच्यते, आह-ननु मङ्गलं प्रागेवोक्तं ततः किं पुनस्तेन?, अथ कृतमङ्गलैरपि पुनर्मङ्गलमभिधीयते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

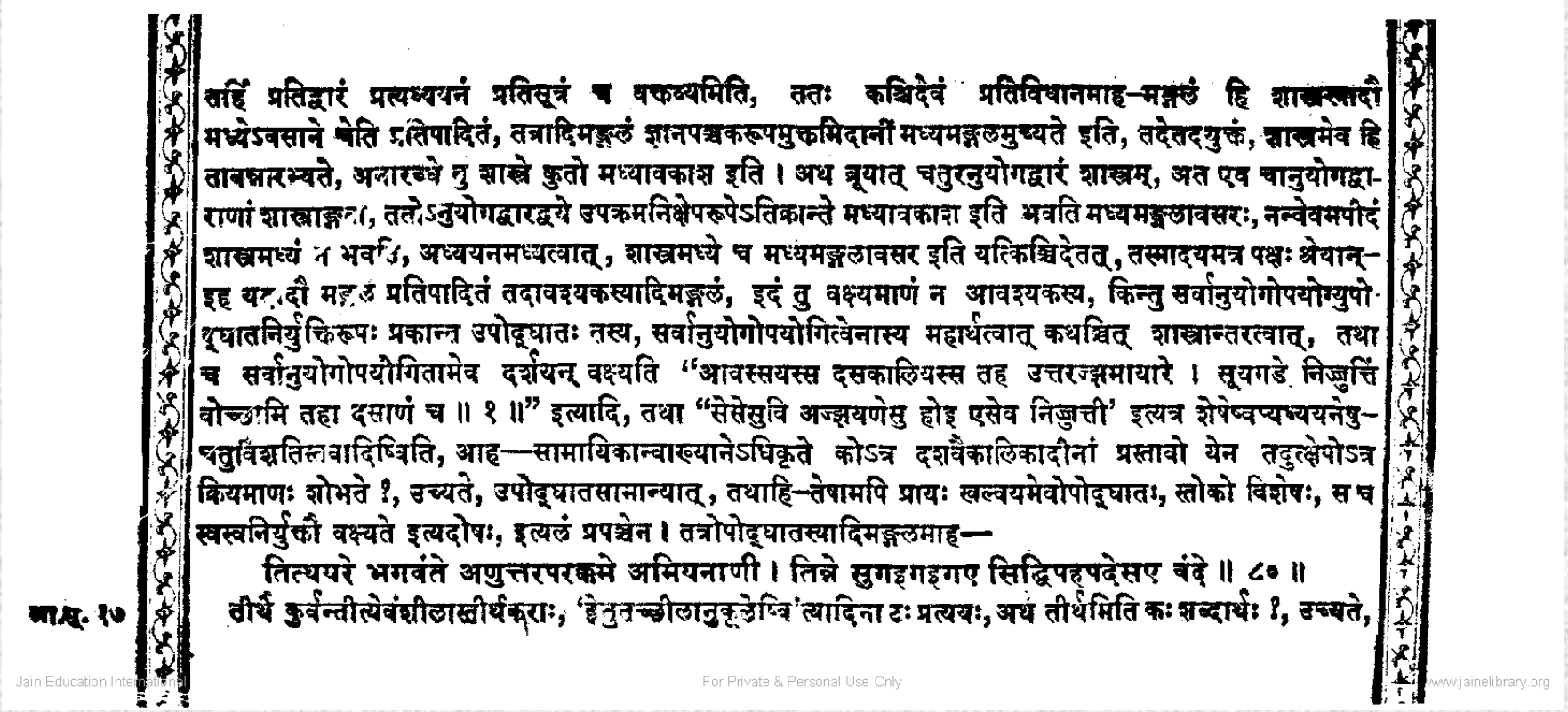

तर्हि प्रतिद्वारं प्रत्यध्ययनं प्रतिसूत्रं च वक्तव्यमिति, ततः कश्चिदेवं प्रतिविधानमाह–मङ्गलं हि शास्त्रस्यादौ मध्येऽवसाने चेति प्रतिपादितं, तत्रादिमङ्गलं ज्ञानपञ्चकरूपमुक्तमिदानीं मध्यमङ्गलमुच्यते इति, तदेतदयुक्तं, शास्त्रमेव हि तावन्नारभ्यते, अनारब्धे तु शास्त्रे कुतो मध्यावकाश इति । अथ ब्रूयात् चतुरनुयोगद्वारं शास्त्रम्, अत एव चानुयोगद्वाराणां शास्त्राङ्गता, ततोऽनुयोगद्वारारब्धे उपक्रमनिक्षेपरूपेऽतिक्रान्ते मध्यावकाश इति भवति मध्यमङ्गलावसरः, नन्वेवमपीदं शास्त्रमध्यं न भवति, अध्ययनमध्यत्वात्, शास्त्रमध्ये च मध्यमङ्गलावसर इति यत्किञ्चिदेतत्, तस्मादयमत्र पक्षः श्रेयान्– इह यदादौ मङ्गलं प्रतिपादितं तदावश्यकस्यादिमङ्गलं, इदं तु वक्ष्यमाणं न आवश्यकस्य, किन्तु सर्वानुयोगोपयोग्युपोद्घातनिर्युक्तिरूपः प्रकान्त उपोद्घातः तस्य, सर्वानुयोगोपयोगित्वेनास्य महार्थत्वात् कथञ्चित् शास्त्रान्तरत्वात्, तथा च सर्वानुयोगोपयोगितामेव दर्शयन् वक्ष्यति "आवस्सयस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे । सूयगडे निज्जुत्तिं वोच्छामि तहा दसाणं च ॥ १ ॥" इत्यादि, तथा "सेसेसुवि अज्झयणेसु होइ एसेव निज्जुत्ती' इत्यत्र शेषेष्वप्यध्ययनेषु–चतुर्विंशतिस्तवादिष्विति, आह—सामायिकान्वाख्यानेऽधिकृते कोऽत्र दशवैकालिकादीनां प्रस्तावो येन तदुत्क्षेपोऽत्र क्रियमाणः शोभते ?, उच्यते, उपोद्घातसामान्यात्, तथाहि–तेषामपि प्रायः खल्वयमेवोपोद्घातः, स्तोको विशेषः, स च स्वस्वनिर्युक्तौ वक्ष्यते इत्यदोषः, इत्यलं प्रपञ्चेन । तत्रोपोद्घातस्यादिमङ्गलमाह—

तित्थयरे भगवंते अणुत्तरपरक्कमे अमियनाणी । तिन्ने सुगइगइगए सिद्धिपहपदेसए वंदे ॥ ८० ॥

तीर्थं कुर्वन्तीत्येवंशीलास्तीर्थकराः, 'हेतुतच्छीलानुकूलेष्वि'त्यादिना टः प्रत्ययः, अथ तीर्थमिति कः शब्दार्थः ?, उच्यते,

आव. १७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र तीर्थंकरस्य विशेषण सह वंदना क्रियते

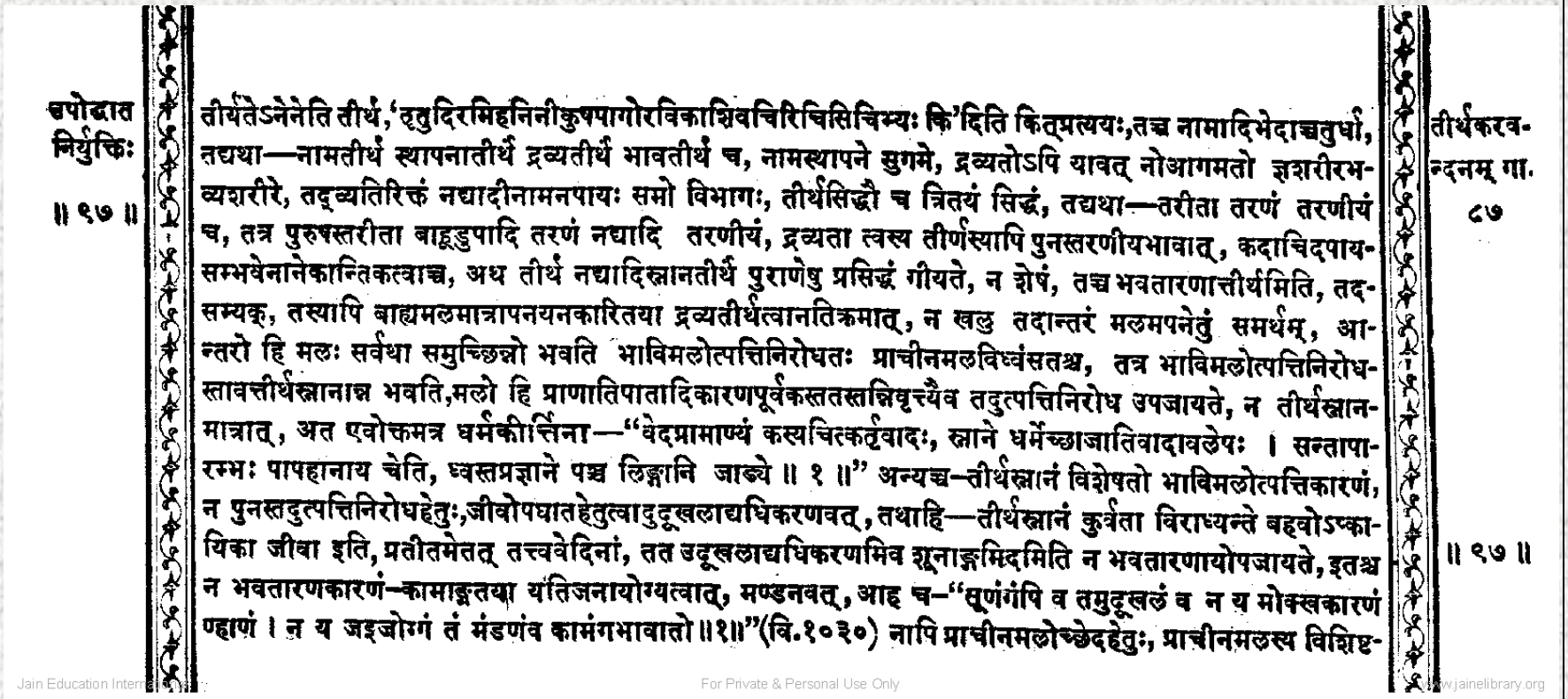

उपोद्घात निर्युक्तिः ॥ ९७ ॥

तीर्यतेऽनेनेति तीर्थं,'तृतुदिरमिहनिनीकुषपागोरविकाशिवचिरिचिसिचिभ्यः कि'दिति कित्प्रत्ययः,तच्च नामादिभेदाच्चतुर्धा, तद्यथा—नामतीर्थं स्थापनातीर्थं द्रव्यतीर्थं भावतीर्थं च, नामस्थापने सुगमे, द्रव्यतोऽपि यावत् नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरे, तद्व्यतिरिक्तं नद्यादीनामनपायः समो विभागः, तीर्थसिद्धौ च त्रितयं सिद्धं, तद्यथा—तरीता तरणं तरणीयं च, तत्र पुरुषस्तरीता बाहूडुपादि तरणं नद्यादि तरणीयं, द्रव्यता त्वस्य तीर्णस्यापि पुनस्तरणीयभावात्, कदाचिदपायसम्भवेनानेकान्तिकत्वाच्च, अथ तीर्थं नद्यादिस्नानतीर्थं पुराणेषु प्रसिद्धं गीयते, न शेषं, तच्च भवतारणात्तीर्थमिति, तदसम्यक्, तस्यापि बाह्यमलमात्रापनयनकारितया द्रव्यतीर्थत्वानतिक्रमात्, न खलु तदान्तरं मलमपनेतुं समर्थम्, आन्तरो हि मलः सर्वथा समुच्छिन्नो भवति भाविमलोत्पत्तिनिरोधतः प्राचीनमलविध्वंसतश्च, तत्र भाविमलोत्पत्तिनिरोधस्तावत्तीर्थस्नानान्न भवति,मलो हि प्राणातिपातादिकारणपूर्वकस्ततस्तन्निवृत्त्यैव तदुत्पत्तिनिरोध उपजायते, न तीर्थस्नानमात्रात्, अत एवोक्तमत्र धर्मकीर्त्तिना—"वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छाजातिवादावलेपः । सन्तापारम्भः पापहानाय चेति, ध्वस्तप्रज्ञाने पञ्च लिङ्गानि जाड्ये ॥ १ ॥" अन्यच्च–तीर्थस्नानं विशेषतो भाविमलोत्पत्तिकारणं, न पुनस्तदुत्पत्तिनिरोधहेतुः,जीवोपघातहेतुत्वादुदूखलाद्यधिकरणवत्, तथाहि—तीर्थस्नानं कुर्वता विराध्यन्ते बहवोऽप्कायिका जीवा इति, प्रतीतमेतत् तत्त्ववेदिनां, तत उदूखलाद्यधिकरणमिव शूनाङ्गमिदमिति न भवतारणायोपजायते, इतश्च न भवतारणकारणं–कामाङ्गतया यतिजनायोग्यत्वात्, मण्डनवत्, आह च–"सूणंगंपि व तमुदूखलं व न य मोक्खकारणं ण्हाणं । न य जइजोग्गं तं मंडणंव कामंगभावातो ॥१॥"(वि.१०३०) नापि प्राचीनमलोच्छेदहेतुः, प्राचीनमलस्य विशिष्ट-

तीर्थकरवन्दनम् गा. ८७

॥ ९७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियासव्यपेक्षाध्यवसायजन्यस्य तत्प्रत्यनीककियासहगताध्यवसायत एव क्षयसम्भवात्, ततो भाविमलोत्पत्तिनिरोधाभावतः प्राचीनमलक्षयाभावतश्च भवतरणानुपपत्तेर्न भावतीर्थं नद्यादितीर्थमिति, भावतीर्थं द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः, नोआगमतः सङ्घः सम्यग्दर्शनादिपरिणामानन्यत्वात्, उक्तं च–"तित्थं भंते! तित्थं तित्थयरे तित्थं?, गोयमा! अरिहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसंघो" इति(१२-६८२) अस्मिंश्च भावतीर्थे तरीता तद्विशेष एव साधुः, सम्यग्दर्शनादित्रयं करणभावापन्नं तरणं, तरणीयः संसारसमुद्रः, आह च–"भावे तित्थं संघो सुयविहिअं तारतो तहिं साहू। नाणाइतियं तरणं तरियव्वो भवसमुद्दो अ॥१॥"(वि.१०३२) अथवा यथा नद्यादिगतः समो विभागोऽनपायः पङ्कप्रक्षालनाद्दाहोपशमात्पिपासाव्यवच्छेदात्तीर्थमिति प्रसिद्धं, पृषोदरादिदर्शनतस्त्रिषु स्थितमिति तीर्थमिति व्युत्पत्तेः, एवं सङ्घोऽपि कर्ममलक्षालनात् क्रोधाग्निदाहोपशमात् लोभरूपतृष्णाव्यवच्छेदाच्च त्रिषु स्थित इति तीर्थमित्युच्यते, उक्तं च–"पङ्कदाहपिपासानामपहारं करोति यत्। तद्धर्मसाधनं तथ्यं, तीर्थमित्युच्युते बुधैः॥१॥" अथवा नद्यादिगतं द्रव्यतीर्थं चतुर्द्धा दृष्टं, तद्यथा—सुखावतारं सुखोत्तारं १ सुखावतारं दुरुत्तारं २ दुःखावतारं सुखोत्तारं ३ दुःखावतारं दुरुत्तारं ४, एवं भावतीर्थमपि चतुर्द्धा द्रष्टव्यं, तत्र यत्र सुखेनैवावतरन्ति–प्रविशन्ति प्राणिनः सुखेनैव च यत उत्तरन्ति–यन्मुञ्चन्ति तत्सुखावतारं सुखोत्तारं, तच्च शैवं द्रष्टव्यं, तत्र रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गमनोवाक्कायजयादिलक्षणदुष्करानुष्ठानाभावतः सुखेनैव प्रवेशात्, निपुणयुक्त्यभावतो निविडवासनाया आकालपरिपालनहेतुभूताया अयोगतः, "शैवो द्वादश वर्षाणि, व्रतं कृत्वा ततः परम्। यद्यशक्तस्त्यजेत् पश्चाद्, यागं कृत्वा व्रतेश्वरे॥ १॥" इत्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिवा दीक्षात्यागस्य निर्दोषताश्रवणाच्च सुखेनैव मोक्षगमसम्भवाच्च, तथा यत् सुखेन स्वीक्रियते दुःखेन परित्यज्यते तत् सुखावतारं दुरुत्तारं, तच्च बौद्धं शासनं, तत्र हि 'मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षा-खण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यसिंहेन दृष्टः ॥ १ ॥" तथा—"मणुण्णं भोयणं भुच्चा, मणुण्णं सयणासणं । मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी ॥२॥" इत्याद्यभिधानतो विषयसुखसिद्धेः सुखेनैव प्रवेशः, तथा निपुणकुयुक्ति-तस्तीव्रवासनोत्पादात् व्रतत्यागे महतः संसारदण्डादेः प्रतिपादनाच्च दुःशकस्तत्परित्यागः, तथा यत्र दुःखेन प्रवेशः सुखेन च विनिर्गमः तद् दुःखावतारं सुखोत्तारं, तच्च दिगम्बरं दर्शनं, तद्धि नाश्यमतिदुष्करं लज्जास्पदत्वादिति दुःखेन प्रविश्यते, अनेषणीयपरिभोगकषायबाहुल्यदर्शनतस्तु तद्विरागोपपत्तेः सुखेन परित्यज्यते इति, चतुर्थभङ्गगतं त्विदं पारमेश्वरं प्रवचनम्, अत्र हि रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गादिजयस्य सदा अप्रमत्तभावस्य शिरोलुञ्चनादिकष्टानुष्ठानस्य च प्रतिपादनाच्महता कष्टेन प्रवेशः प्रविष्टस्य च तत्त्वाधिगमेनामोचनात्, एतद्व्रतं त्विह संसारपरित्राणकारणं व्रतभङ्गे च महान् संसार इति जानानस्य दुष्करपरित्यागः, उक्तं च—"अहव सुहोत्तारोत्तारणाइ दवे चउविहं तित्थं । एवं चिअ भावंमि वि तत्थाइमयं सरक्खाणं ॥१॥ तच्चण्णियाण बीयं विसयसुहकुसत्थभावणाधणियं । तइयं च बोडियाणं चरिमं जइणं सिवफलं तु ॥२॥ (वि.१०४०–१) तत्र दुःखावतारदुःखोत्ताररूपपरमतीर्थकरणशीलास्तीर्थकरास्तान् वन्दे इति योगः, तथा भगः-समग्रैश्वर्यादिलक्षणः स येषामस्तीति भगवन्तः, उक्तं च—"इस्सरियरूवसिरिजसधम्मपयत्ता मया भगाभिक्खा । ते तेसिमसा-धारणा वेत्ति जतो तेण भगवंतो ॥१॥" (वि.१०४८) यान्, ननु तीर्थकरानित्यनेनैव भगवत इति गतं, तीर्थकृतामुत्कलक्षण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगाव्यभिचारात् ततः किमनेन विशेषणेन?, तदयुक्तम् अस्य नयमतान्तरावलम्बिपरिकल्पितबुद्धादितीर्थकरतिरस्कारपरत्वात्, तथाहि–न ते बुद्धादयः स्वस्वदर्शनरूपतीर्थकारिणोऽपि तत्त्ववृत्त्या भगवन्तो, यथोक्तसमग्रैश्वर्यादिगुणकलापायोगादिति, तथा परे–शत्रवः ते च द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मत्सरिणो भावतः क्रोधादयः, इह भावशत्रुभिः प्रयोजनं, तेषामेवोच्छेदतो मुक्तिभावात्, आक्रमणमाक्रमः–पराजयः उच्छेद इतियावत् परेषामाक्रमः पराक्रमः सोऽनुत्तरः–अनन्यसदृशो येषां तेऽनुत्तरपराक्रमास्तान्, वन्दे इति क्रिया सर्वत्र योज्या, आह–ये खल्वैश्वर्यादिभगवन्तस्तेऽनुत्तरपराक्रमा एव, तमन्तरेण विवक्षितभगासम्भवात्, ततोऽनुत्तरपराक्रमानित्येतदतिरिच्यते, नैष दोषः, अस्य अनादिसिद्धैश्वर्यादिसमन्वितपरमपुरुषप्रतिपादनपरनयवादनिषेधपरत्वात्, तथाहि—कैश्चिदनुत्तरपराक्रमत्वमन्तरेणैव हिरण्यगर्भादीनामनादिविवक्षितभगयोगोऽभ्युपगम्यते, उक्तं च–"ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्म्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥" इत्यादि, तथाभूतान् भगवतस्तीर्थकरान् मा ज्ञासिषुर्विनेया इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुत्तरपराक्रमानित्युक्तं, तथा अमितम्–अपरिमितं ज्ञेयानन्तत्वात् ज्ञानं केवलज्ञानं अमितज्ञानं तद्येषामस्ति तेऽमितज्ञानिनस्तान्, ननु ये अनुत्तरपराक्रमास्तेऽमितज्ञानिन एव, क्रोधादिपरिक्षयोत्तरकालमवश्यममितज्ञानस्य भावात्, सत्यमेतत्, केवलं ये क्लेशक्षयेऽप्यमितज्ञानं नाभ्युपगच्छन्ति, तथा च तद्ग्रन्थः, "सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते? ॥ १ ॥" इत्यादि, तन्मतव्यवच्छेदफलमिदं विशेषणमित्यदोषः, तद्व्यवच्छेदश्चैवम्–सर्वभावपरिज्ञानाभावे तत्त्ववृत्त्या एकस्यापि वस्तुनः परिज्ञानायोगात्, सर्वस्यापि यथायोगमनुवृत्तव्यावृत्तधर्म्मतया सर्वैः सह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्यपेक्षत्वात्, आह च–"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः। सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥ १ ॥" आचाराङ्गेऽप्युक्तम्–"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ" इति, (८-१२३) अथवा ये स्वसिद्धान्ते छद्मस्थवीतरागास्तेऽनुत्तरपराक्रमा भवन्ति, कषायादिशत्रूणामाक्रमणात्, न त्वमितज्ञानिनः, केवलज्ञानाभावात्, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमिदं विशेषणमिति, तथा तरन्ति स्म भवार्णवमिति तीर्णास्तान्, तीर्त्वा च भवौघं सुगतिगतिगतान्, तत्र सर्वज्ञत्वात् सर्वदर्शित्वाच्च निरुपमसुखभागिनः सुगतयः–सिद्धास्तेषां गतिः सुगतिगतिः, अनेन तिर्यङ्नरनारकामरगतिव्यवच्छेदेन पञ्चमीं मोक्षगतिमाह, तां गताः–प्राप्ताः सुगतिगतिगतास्तान्, अनेन ये प्राप्ताणिमाद्यष्टविधैश्वर्यं स्वेच्छाविलसनशीलं पुरुषं तीर्णं प्रतिपादयन्ति, तथा च तद्ग्रन्थः–"अणिमाद्यष्टविधं प्राप्यैश्वर्यं कृतिनः सदा। मोदन्ते सर्वभावज्ञास्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥१॥" इत्यादि, तद्व्यवच्छेदमाह, तथा सिद्धेः–पञ्चमगतिरूपायाः पन्थाः सिद्धिपथः तस्य प्रधाना देशकास्तद्धेतुभूतसामायिकादिप्रतिपादनात् प्रदेशकाः सिद्धिपथप्रदेशकास्तान्, अनेनानेकभव्यसत्त्वोपकारितीर्थकरनामकर्मविपाकोदयसमन्वितं भगवतां स्वरूपमाह। एवं तावदविशेषेण ऋषभादीनां मङ्गलार्थं वन्दनमुक्तमिदानीमखिलश्रुतज्ञानार्थप्रदेशकत्वेनासन्नोपकारित्वाद्वर्त्तमानतीर्थाधिपतेर्वर्द्धमानस्वामिनो वन्दनमाह-

वंदामि महाभागं महामुणिं महायसं महावीरं। अमरनररायमहियं तित्थयरमिमस्स तित्थस्स ॥८१॥

'वंदामी'त्यादि दीपकमशेषोत्तरपदानुयायि द्रष्टव्यं, तत्र भागः—अचिन्त्यशक्तिः, आह च भाष्यकृत्–"भागोऽचिंता सत्ती स महाभागो महप्पभावोत्ति। स महामुणी महंतं जो मुणइ मुणिप्पहाणो वा ॥१॥ (वि.१०५८) इति, महान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	*** भगवन् महावीरस्य स्तुति एवं वंदन

भागोऽस्य महाभागो–महाप्रभावस्तं, तथा मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः सर्वज्ञत्वात्, महांश्चासौ मुनिश्च महामुनिः, तथा त्रैलोक्यव्यापित्वान्महद्यशोऽस्येति महायशास्तं, महावीरमित्यभिधानं, तस्येयं व्युत्पत्तिः'शूर वीर विक्रान्तौ' कषायादिशत्रुजयात् महाविक्रान्तो महावीरः, यद्दिवा 'ट्टृ विदारणे' विदारयति कर्म्मरिपुसङ्घातमिति वीरः, अथवा अनन्यानुभूतमहातपःश्रिया विशेषतो राजते इति वीरः, अन्तरङ्गमहामोहबलनिर्दलनाय तपोवीर्यमनन्तं व्यापारयतीति वा वीरः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः, उक्तं च–"विदारयति यत्कर्म्म, तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥" तथा अमराश्च नराश्च अमरनरास्तेषां राजानः–इन्द्रचक्रवर्त्तिप्रभृतयस्तैर्महितः–पूजितस्तं, तीर्थकरं–तीर्थकरणशीलं, कस्य तीर्थस्य करणशीलमित्यत आह–अस्य–वर्त्तमानकालावस्थायिनस्तीर्थस्य । एवं तावदर्थवक्तुर्मङ्गलार्थं वन्दनमुक्तम्, इदानीं सूत्रकर्तृप्रभृतीनामपि पूज्यत्वाद्वन्दनमाह–

एक्कारसवि गणहरे पवायए पवयणस्स वंदामि । सव्वं गणहरवंसं वायगवंसं पवयणं च ॥ ८२ ॥

एकादशेति सङ्ख्यावाचकः शब्दः, अपिः समुच्चये, अनुत्तरं ज्ञानदर्शनादिधर्म्मगणं धारयन्तीति गणधरास्तान्, प्रकर्षेण प्रधाना आदौ वा वाचकाः प्रवाचकास्तान्, कस्य प्रवाचकाः?, प्रवचनस्य-द्वादशाङ्गस्य,वन्दे,एवं तावत् मूलगणधरवन्दनं कृतं, तथा सर्वं–निरवशेषं गणधरा–आचार्यास्तेषां वंशः–परम्परया प्रवाहस्तं,तथा वाचका-उपाध्यायास्तेषां वंशस्तं,तथा प्रवचनम्–आगमं च वन्दे, आह च–तीर्थकृतो मूलगणधराश्च वन्द्याः स्युः, तेषां यथाक्रममर्थसूत्रप्रणेतृत्वात्,वंशद्वयस्य प्रवचनस्य च कथं वन्द्यता?,उच्यते,इह यथा अर्थवक्तारोऽर्हन्तो वन्द्याः सूत्रवक्तारश्च गणधरास्तथा यैरिदमाचार्योपाध्यायैरर्थसूत्ररूपं प्रवचनमा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** गणधर आदे: वंदना

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥१००॥

नीतं तद्वंशोऽप्यानयनद्वारेणोपकारीति वन्द्यः, प्रवचनं तु साक्षाद्वृत्त्यैवोपकारीति वन्द्यमिति। इदानीं प्रकृतमुपदर्शयति—

ते वंदिऊण सिरसा अत्थपुहुत्तस्स तेहिं कहियस्स। सुयनाणस्स भगवओ निज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥ ८३ ॥

तान्—अनन्तरोक्तान् तीर्थकरादीन् शिरसा उपलक्षणत्वात् मनःकायाभ्यां च वन्दित्वा, किम् ?–निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्यामि, कस्य ?–'अर्थपृथक्त्वस्य' अर्थात् कथञ्चिद्भिन्नत्वात् सूत्रं पृथक् उच्यते, प्राकृतत्वाच्च पृथगेव पृथक्त्वम्, अर्थस्तु सूत्राभिधेयः प्रतीत एव, अर्थश्च पृथक्त्वं च अर्थपृथक्त्वं समाहारो द्वन्द्वः तस्य, श्रुतज्ञानविशेषणमेतत्, सूत्रार्थोभयरूपस्येत्यर्थः, तैः–तीर्थकरगणधरादिभिः कथितस्य–प्रतिपादितस्य, कस्येत्याह–श्रुतज्ञानस्य भगवतः, स्वरूपाभिधानमेतत्, सूत्रार्थयोः परस्परं नियोजनं–सम्बन्धनं निर्युक्तिः, तां कीर्त्तयिष्यामि—प्रतिपादयिष्यामि। ननु किमशेषश्रुतज्ञानस्य?, न, किं तर्हि ?, श्रुतविशेषाणामावश्यकादीनाम्, अत आह—

आवस्सयस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे। सूयगडे निज्जुत्तिं वोच्छामि तहा दसाणं च ॥ ८४ ॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमनिउणस्स। सूरिअपण्णत्तीए वोच्छं इसिभासिआणं च ॥ ८५ ॥
एएसिं निज्जुत्तिं वोच्छामि अहं जिणोवएसेणं। आहरण–हेउ–कारणपयनिवहमिणं समासेणं ॥ ८६ ॥

आवश्यकस्य दशवैकालिकस्य तथा 'भामा सत्यभामे'त्यादाविव पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् 'उत्तरज्झे'त्युत्तराध्ययनग्रहणं,ततोऽयमर्थः—उत्तराध्ययनाचारयोः,तथा 'सूत्रकृते' सूत्रकृताङ्गविषयां निर्युक्तिं वक्ष्ये,तथा दशानां च–दशाश्रुतस्कन्धस्य तथा कल्पस्य तथा व्यवहारस्य च परमनिपुणस्य, अत्र परमग्रहणं मोक्षाङ्गत्वात् निपुणग्रहणं त्वन्वंसकत्वात्,

गणधरादिवन्दनं दशनिर्युक्तिप्रतिज्ञा गा. ८२–६

॥१००॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ निर्युक्ति-रचना प्रतिज्ञा क्रियते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

न खल्वयं व्यवहारो मन्वादिप्रणीतव्यवहार इव व्यंसकः 'सच्चपइण्णा खु ववहारा'(।३-२३५)इति वचनात्,तथा सूर्यप्रज्ञप्तेर्वक्ष्ये, तथा ऋषिभाषितानां च—देवेन्द्रस्तवादीनाम्, अनेकशः क्रियाभिधानं शास्त्रान्तरविषयत्वात्, समासव्यासरूपत्वाच्च शास्त्रारम्भस्येत्यदुष्टम्,'एतेषां' श्रुतविशेषाणां निर्युक्तिं वक्ष्याम्यहं जिनोपदेशेन,न तु स्वमनीषिकया, कथंभूतामित्याह—आहरणहेतुपदनिवहाम्, इमाम्--अन्तस्तत्त्वतया निष्पन्नां 'समासेन' सङ्क्षेपेण, तत्र साध्यसाधनान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनमाहरणं, दृष्टान्त इति भावः, साध्ये सत्येव भवति साध्याभावे च न भवत्येवं साध्यधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणो हेतुः, हेतुमुल्लङ्घ्य प्रथमं दृष्टान्ताभिधानं न्यायप्रदर्शनार्थं—क्वचिद्धेतुमनभिधाय दृष्टान्त एवोच्यते, यथा गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायो मत्स्यादीनां सलिलमिव, तथा क्वचिद्धेतुरेव केवलोऽभिधीयते, न दृष्टान्तः, यथा मदीयोऽयमश्वो विशिष्टचिह्नोपलभ्यन्यथानुपपत्तेः, तथा च निर्युक्तिकारेणाभ्यधायि—"जिणवयणं सिद्धं चेव, भन्नई कत्थई उदाहरणं। आसज्ज उ सोयारं हेऊवि कहिंचि भण्णेज्जा॥१॥"(५-४९)इति, कारणम्—उपपत्तिमात्रं, यथा निरुपमसुखः सिद्धः, ज्ञानाबाधप्रकर्षात्, नात्राविद्वदङ्गनादिलोके प्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्ति, आहरणं च हेतुश्च कारणं च आहरणहेतुकारणानि तेषां पदान्याहरणहेतुकारणपदानि तेषां निवहः—सङ्घातो यस्यां निर्युक्तौ सा तथाविधा तां। तत्र 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात् प्रथमतोऽधिकृतावश्यकाध्ययनस्य सामायिकस्योपोद्घातनिर्युक्तिमभिधित्सुराह—

सामाइयनिज्जुत्तिं वोच्छं उवएसियं गुरुजणेणं। आयरियपरंपरएण आगयं आणुपुव्वीए ॥ ८७ ॥

सामायिकस्य निर्युक्तिः सामायिकनिर्युक्तिस्तां वक्ष्ये, कथंभूतामित्याह—उप—सामीप्येन देशिता उपदेशिता तां, केन?-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ सामायिकस्य उपोद्घात् निर्युक्ति: दर्शयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

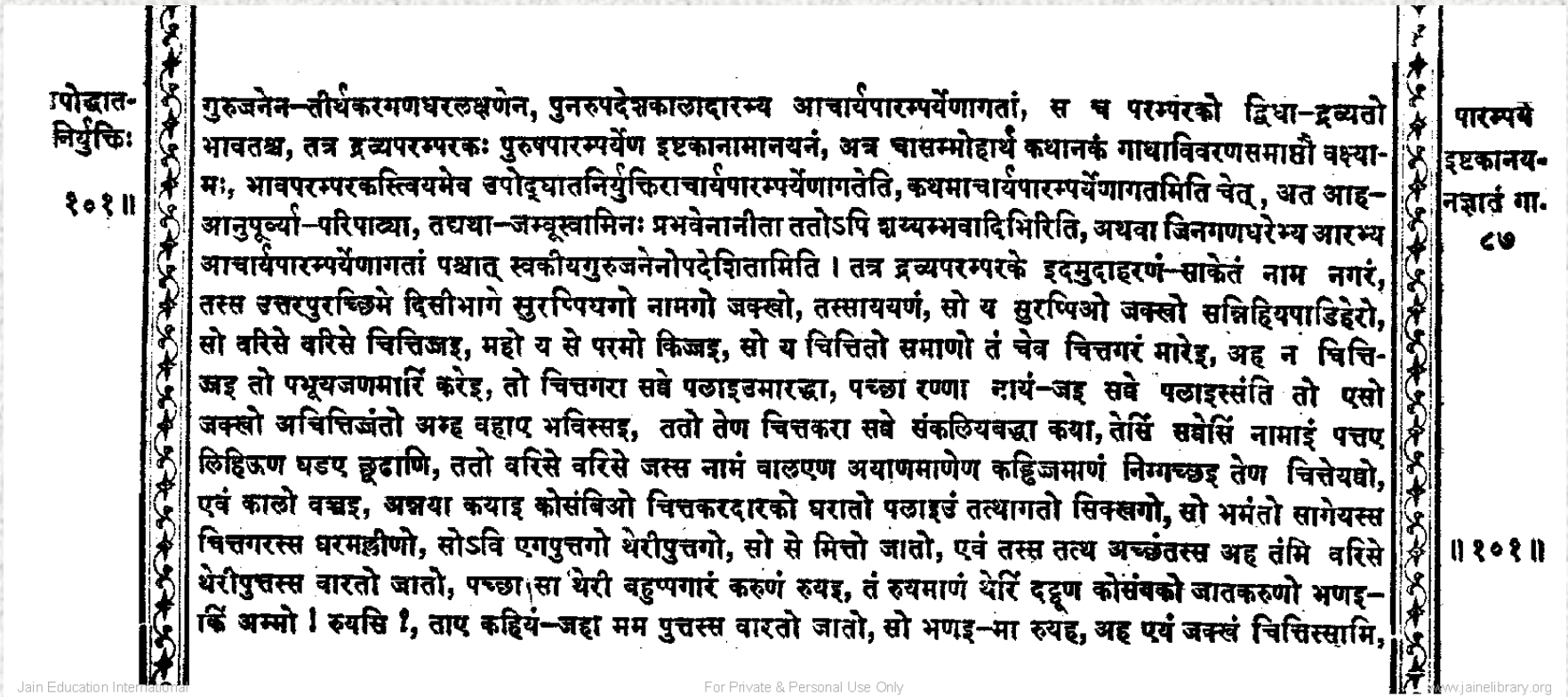

उपोद्घात-निर्युक्तिः १०१॥

गुरुजनेन–तीर्थकरगणधरलक्षणेन, पुनरुपदेशकालादारभ्य आचार्यपारम्पर्येणागतां, स च परम्परको द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यपरम्परकः पुरुषपारम्पर्येण इष्टकानामानयनं, अत्र चासम्मोहार्थं कथानकं गाथाविवरणसमाप्तौ वक्ष्यामः, भावपरम्परकस्त्वियमेव उपोद्घातनिर्युक्तिराचार्यपारम्पर्येणागतेति, कथमाचार्यपारम्पर्येणागतमिति चेत्, अत आह–आनुपूर्व्या–परिपाट्या, तद्यथा–जम्बूस्वामिनः प्रभवेनानीता ततोऽपि शय्यम्भवादिभिरिति, अथवा जिनगणधरेभ्य आरभ्य आचार्यपारम्पर्येणागतां पश्चात् स्वकीयगुरुजनेनोपदेशितामिति । तत्र द्रव्यपरम्परके इदमुदाहरणं–साकेतं नाम नगरं, तस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सुरप्पियगो नामगो जक्खो, तस्सायययणं, सो य सुरप्पिओ जक्खो सन्निहियपाडिहेरो, सो वरिसे वरिसे चित्तिज्जइ, महो य से परमो किज्जइ, सो य चित्तितो समाणो तं चेव चित्तगरं मारेइ, अह न चित्तिज्जइ तो पभूयजणमारिं करेइ, तो चित्तगरा सबे पलाइउमारद्धा, पच्छा रण्णा नायं–जइ सबे पलाइस्संति तो एसो जक्खो अचित्तिज्जंतो अम्ह वहाए भविस्सइ, ततो तेण चित्तकरा सबे संकलियबद्धा कया, तेसिं सबेसिं नामाइं पत्तए लिहिऊण घडए छूढाणि, ततो वरिसे वरिसे जस्स नामं बालएण अयाणमाणेण कड्ढिज्जमाणं निग्गच्छइ तेण चित्तेयबो, एवं कालो वच्चइ, अन्नया कयाइ कोसंबिओ चित्तकरदारको घरातो पलाइउं तत्थागतो सिक्खगो, सो भमंतो सागेयस्स चित्तगरस्स घरमल्लीणो, सोऽवि एगपुत्तगो थेरीपुत्तगो, सो से मित्तो जातो, एवं तस्स तत्थ अच्छंतस्स अह तंमि वरिसे थेरीपुत्तस्स वारतो जातो, पच्छा सा थेरी बहुप्पगारं करुणं रुयइ, तं रुयमाणं थेरिं दट्ठूण कोसंबको जातकरुणो भणइ–किं अम्मो ! रुयसि ?, ताए कहियं–जहा मम पुत्तस्स वारतो जातो, सो भणइ–मा रुयह, अह एयं जक्खं चित्तिस्सामि,

पारम्पर्ये इष्टकानयनज्ञातं गा. ८७

॥ १०१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मृगावते: कथानकं वर्णयते

ताहे सा भणइ–तुमं मे पुत्तो किं न होहिसि ?, तेण भणियं–सव्वं तव पुत्तोऽहं, तहावि अहं चिट्ठामि, अच्छह तुब्भे असोगाओ, ततो तेण छट्ठभत्तं काऊण अहतं वत्थजुयलं परिहित्ता अट्ठगुणाए पोत्तीए मुहं बंधिऊण चोक्खेण पयत्तेण सुईभूतेण नवएहिं कलसेहिं ण्हाविता [वज्रलेपादिकुद्रव्यरहितैः] नवगेहिं कुच्चेहिं नवगेहिं मल्लसंपुडेहिं अलेस्सेहिं वत्थेहिं चिंतिऊण पायवडिओ भणइ–खमह मए जमवरद्धंति, ततो तुट्ठो जक्खो भणइ–वरेहि वरं, सो भणइ–एस चेव मम वरं देहि–मा लोगं मारेहि, जक्खो भणइ–एयं तावट्ठियमेव, जं तुमं न मारिओ, एवमन्नेऽवि न मारेमि, अन्नं भण, सो भणइ—अस्स एगदेसमवि पासामि दुपयस्स वा चउप्पयस्स वा अपयस्स वा तस्स तयणुरूवं रूवं निवत्तेमि, एवं होउत्ति दिण्णो वरो, ततो सो लद्धवरो रण्णा सक्कारितो समाणो गतो कोसंबिनयरिं, तत्थ सयाणितो नाम राया, सो अन्नया कयाइ सुहासणगतो दूयं पुच्छइ–किं मम नत्थि जं अन्नराईणं अत्थि ?, तेण भणियं–चित्तसभा नत्थि, 'मणसा देवाणं वायाए पत्थिवाणं' तक्खणमित्तमेव आणत्ता चित्तगरा, तेहिं सभाओवासा विभइया, पचित्तिया, तस्स वरदिण्णगस्स जो रण्णो अंतेउरकिड्डापदेसो सो दिन्नो, तेण तत्थ तयाणुरूवेसु रूवेसु निम्मिएसु कयाइ मिगावईए जालकडगंतरेण पायंगुट्ठतो दिट्ठो, उवमाणेण नायं—जहा एसा मिगावई, तेण पायंगुट्ठगाणुसारेणं देवीए रूवं निवत्तियं, तीसे चक्खुम्मि उम्मिल्लिज्जंते एगो मसिबिंदू ऊरुअंतरे पडितो, तेण फुसिओ, पुणोवि जातो, एवं तिन्नि वारा, पच्छा तेण नायं–एएण एवं होयवमेव, ततो चित्तसभा निम्माया, ततो राया चित्तसरूवं पलोयंतो तं पएसं पत्तो जत्थ सा देवी, तं निवन्नंतेण सो बिंदू दिट्ठो, तं दट्ठूण रुट्ठो, एएण मम पत्ती धरिसिया इति, ततो वज्झो आणत्तो, चित्तगरसेणी उवट्ठिया–सामि ! एस वरलद्धगोत्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात निर्युक्तिः ॥१०२॥

ततो से खुज्जाए मुहं दाइयं, तेण तयाणुरूवं निवत्तियं, तहावि तेण संडासगो छिंदाविओ, निव्विसओ आणत्तो, सो पुणो जक्खस्स उववासेण ठितो, भणितो य–वामेण चित्तिहिसि, सयाणियस्स पदोसं गतो, तेण चिंतियं–पज्जोतो एयस्स पीइं पिवेज्जा, ततो अणेण मिगावतीए चित्तफलए रूवं चित्तेऊण पज्जोयस्स उवट्ठवियं, तेण दिट्ठं, पुच्छिओ य, तेण कहियं सविसेसं, ततो पज्जोएण सयाणियस्स दूतो पेसिओ–मिगावइं देविं सिग्घं पट्ठवेह, जइ न पट्ठवेसि ततो सबसामग्गीए एहामि, गतो दूतो, तेण असक्कारितो निद्धमणेण निच्छूढो, तेण कहियं पज्जोतस्स, पज्जोतोऽविय दूयवयणेण आसुरुत्तो सबबलेण कोसंबिं एइ, तं आगच्छंतं सोउं सयाणितो अप्पबलो चित्ते खुहितो, अतिसारेण पंचत्तमुवगओ, ताहे मिगावतीए चिंतियं–मा इमो बालो मम पुत्तो विणस्सिहिति, एस खरेण न सक्कए, पच्छा दूतो पट्ठवितो, भणितो य–एस कुमारो बालो, अम्हेहिं गएहिं मा सीमंतराइणा केणइ अण्णेण पिल्लिज्जिहिई ?, सो भणइ—को ममं धरमाणे पिल्लिहिइ ?, सा भणइ–ओसीसए सप्पो जोयणसए विज्जो, किं करेहिइत्ति ?, नगरिं दढं करेह, सो भणइ–आमं करेमि, सा भणइ–चउण्हं इट्ठगाओ बलियाओ ता एयाहिं कीरउ, आमंति, तस्स य चउद्दस राइणो वसवत्तिणो, तेण ते सबला ठाविया, पुरिसपरंपरएण तेहिं इट्टगा आणीयातो, कयं नगरं दढं, ताहे ताए भण्णइ–इयाणिं धन्नस्स भरेहि नगरिं, ततो तेण भरिया, जाहे नगरी रोहगसज्जा जाया ताहे सा विसंवइया, चिंतियं चउण्हं–धन्ना णं ते गामागरनगरपट्टणमडंबसन्निवेसा जत्थ सामी विहरइ, पबज्जामि जइ सामी एज्ज, ततो भगवं समोसढो, तत्थ सबवेरा पसमंति, मिगावती निग्गया, धम्मे कहिज्जमाणे एगो पुरिसो एस सबथुत्तिकाउं पच्छन्नं मणसा पुच्छइ, ततो सामिणा भणितो–वायाए पुच्छ देवाणु-

इष्टकापाकरम्पर्यम् ॥१०२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आस. १८

प्पिया !, वरं बहवे सत्ता संबुज्झंति, एवमवि भणिते तेण भणियं–भयवं! जा सा सा सा!, तत्थ भगवया आमंति भणितो, ततो गोतमसामिणा भणियं–भयवं! किं एएण जा सा सा सेति भणियं! तत्थ तीसे उट्ठाणपारिआवणियं सव्वं भगवं परिकहेइ, तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नाम नयरी, तत्थ एगो सुवण्णगारो इत्थीलोलो, सो पंच पंच सुवण्णसयाणि दाऊण जा पहाणा कन्ना तं परिणेइ, एवं तेण पंचसया पिंडिया, एक्केक्काए तिलगचोद्दसगं अलंकारं करेइ, जंदिवसं जाए समं भोगे भुंजइ तद्दिवसं देइ अलंकारं, सेसकालं न देइ, सो इस्सालुगो तं घरं न कयाइ मुयइ, न वा अन्नस्स अल्लियावं देइ, सो अन्नया मित्तस्स पगते मित्तेण वाहिओ, अणिच्छंतोऽवि बला जेमेउं नीतो, सो तहिं गओत्तिनाऊण ताहिं चिंतियं–किं अम्हं एएणं सुवण्णएणंति?, अज्ज पइरिक्कं ण्हामो समालभामो आविंधामो, ण्हायातो पइरिक्के मज्जियव्वयविहीए, तिलगचोद्दसगेण अलंकारेऊण अद्दागं गहाय पेहमाणीतो चिट्ठंति, सो य ततो आगतो, तं दट्ठूण आसुरत्तो, तेण एक्का महिला ताव पिट्टिया जाव मुयत्ति, ततो अन्नाओ भणंति–एवं अम्हेऽवि एक्केक्का निहंतव्वा, तम्हा एयं एत्थेव अद्दागपुंजं करेमो, तत्थ एगूणेहिं पंचहिं महिलासएहिं पंच एगूणाइं अद्दागसयाइं जमगसमगं पक्खित्ताइं, तत्थ सो अद्दागपुंजो जातो, पच्छा पुणोवि तासिं पच्छायावो जातो, का गई अम्ह पइमारिगाणं भविस्सइ?, लोए य उद्धंसणाओ सहियव्वा, ताहे ताहिं घरकवाडाइं निरंतरं निच्छिद्दाइं दाराइं ठवेऊण से अग्गी दिन्नो सव्वतो समंततो, तेण पच्छाणुतावेण साणुक्कोसयाए ताए य अकामनिज्जराए य मणूसेसु उववण्णा,पंचवि सया चोरा जाया, एगंमि पव्वए परिवसंति,सोऽवि सुवण्णकारो कालमुवगतो तिरिक्खेसु उववन्नो, तत्थ जा सा पढमसारिया सा एक्कं भवं तिरिएसु, पच्छा एक्कंमि वंभणकुले चेडो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** मृगावते: कथा मध्ये 'जासासा" कथा कथयते

आयातो, सो य पंचवरिसो जातो, सो य सुवण्णगारजीवो तिरिक्खेसु भमिऊणं तंमि कुले दारिया जाया, सो चेडो तीसे बालग्गाहो, सा य निच्चमेव रोयइ, तेण ओदरपोप्पयं करेंतेण किहवि सा जोणिद्वारेण हत्थेण आहया, तह चेव ठिया रोइउं, तेण नायं लद्धो मए उवाओ इति,एवं सो निच्चकालं करेइ,सो तेहिं मायापिईहिं नातो, ताहे हणिऊण धाडिओ, साऽवि अपडुप्पन्ना चेव कामाउरेण विप्पणट्ठा, सो चेडो पलायमाणो चिरनगरविणट्ठदुस्सीलायारो जातो, गतो एगं चोरपल्लिं जत्थ ताणि एगूणाणि पंच चोरसयाणि परिवसंति, सावि विणट्ठसीला पइरिक्कं हिंडंती एगं गामं गया, सो गामो तेहिं चोरेहिं पिल्लिओ,सा तेहिं गहिया, सा तेहिं पंचहिवि चोरसएहिं परिभुत्ता,तेसिं चिंता जाया–अह इमा वरागी एत्तियाण खुंदणं सहइ, जइ अन्ना से बिइज्जा लभेज्जामो तो से विस्सामो होज्जा, ततो तेहिं अन्नया कयाइ तीसे बिइज्जा आणीया, जंचेव दिवसं आणीया तद्दिवसं छिद्दाणि सा मग्गइ, केण उवाएण मारेज्जा ?, ते य अन्नया धाडिं घेत्तुं पहाविया, ताए सा भणिया–पेच्छ कूवेहिं किंपि दीसइ, सा दड्ढुमारद्धा, ताए तत्थेव छूढा, ते आगया पुच्छंति, ताए भण्णइ–अप्पणो महिलं कीस न सारवेह ?, तेहिं नायं–जहा एयाए मारिया, ततो तस्स बंभणचेडगस्स हियए ठियं–जहा एसा मम पावकम्मा भगिणित्ति, सुवइ य जहा भयवं महावीरो सव्वन्नू सव्वदरिसी य, ततो एस समोसरणे पुच्छइ, ततो सामी भणइ–सच्चेव सा तव भगिणी, एवं कहिए सो संवेगमावन्नो, पव्वइओ,एवं सोऊण सव्वा सा परिसा पयणुरागा जाया,ततो मिगावई जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–इंछं नवरं पज्जोयं आपुच्छामि,ततो तुब्भं सगासे पवयामित्तिभणिऊण पज्जोयं आपुच्छइ, ततो पज्जोतो तीसे महइमहा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

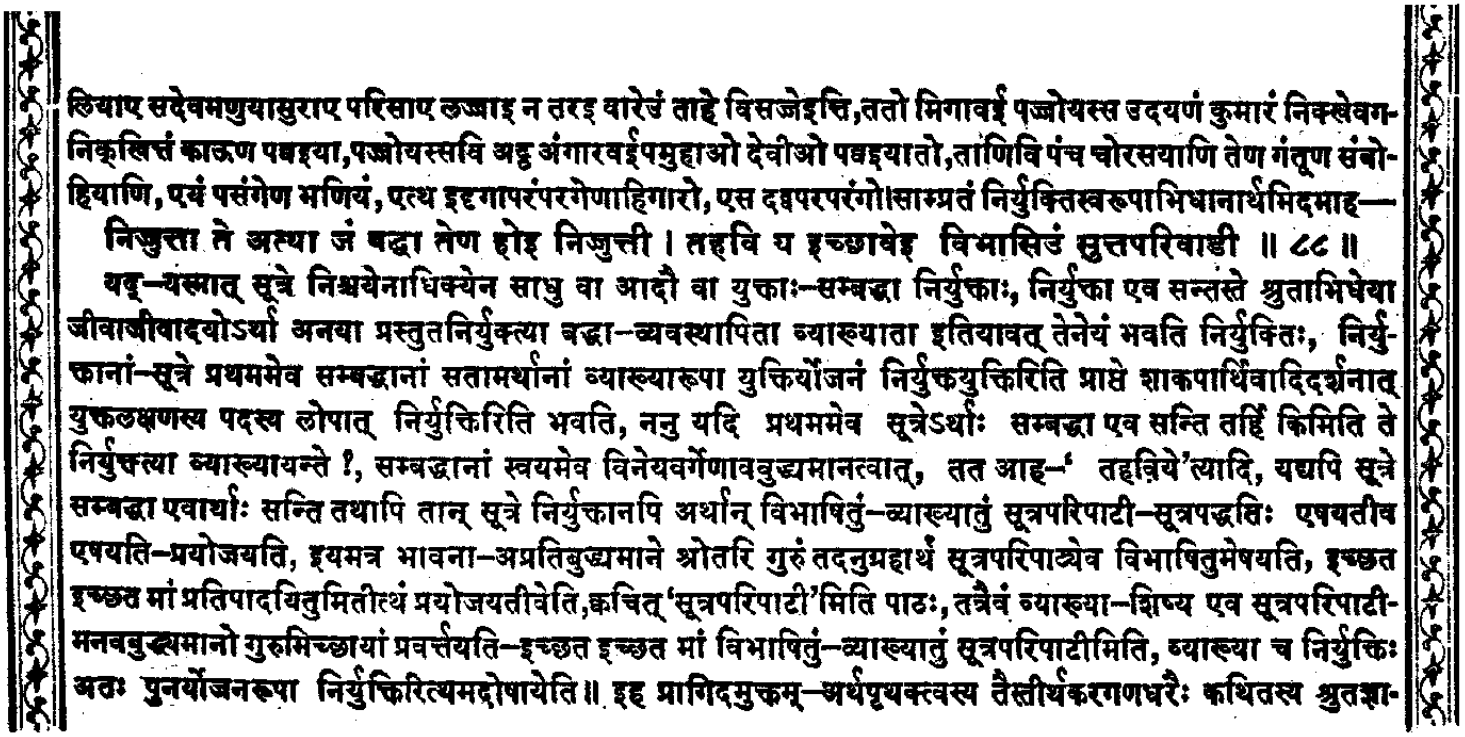

लियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए लज्जाइ न तरइ वारेउं ताहे विसज्जेइत्ति,ततो मिगावई पज्जोयस्स उदयणं कुमारं निक्खेवग-निक्खित्तं काऊण पवइया,पज्जोयस्सवि अट्ठ अंगारवईपमुहाओ देवीओ पवइयातो,ताणिवि पंच चोरसयाणि तेण गंतूण संबो-हियाणि, एवं पसंगेण भणियं, एत्थ इहगापरंपरगेणाहिगारो, एस दव्वपरपरंगो।साम्प्रतं निर्युक्तिस्वरूपाभिधानार्थमिदमाह—

निज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती । तहवि य इच्छावेइ विभासिउं सुत्तपरिवाडी ॥ ८८ ॥

यद्—यस्मात् सूत्रे निश्चयेनाधिक्येन साधु वा आदौ वा युक्ताः—सम्बद्धा निर्युक्ताः, निर्युक्ता एव सन्तस्ते श्रुताभिधेया जीवाजीवादयोऽर्था अनया प्रस्तुतनिर्युक्त्या बद्धा—व्यवस्थापिता व्याख्याता इतियावत् तेनेयं भवति निर्युक्तिः, निर्यु-क्तानां—सूत्रे प्रथममेव सम्बद्धानां सतामर्थानां व्याख्यारूपा युक्तिर्योजनं निर्युक्तयुक्तिरिति प्राप्ते शाकपार्थिवादिदर्शनात् युक्तलक्षणस्य पदस्य लोपात् निर्युक्तिरिति भवति, ननु यदि प्रथममेव सूत्रेऽर्थाः सम्बद्धा एव सन्ति तर्हि किमिति ते निर्युक्त्या व्याख्यायन्ते ?, सम्बद्धानां स्वयमेव विनेयवर्गेणावबुध्यमानत्वात्, तत आह—' तहवि'त्यादि, यद्यपि सूत्रे सम्बद्धा एवार्थाः सन्ति तथापि तान् सूत्रे निर्युक्तानपि अर्थान् विभाषितुं—व्याख्यातुं सूत्रपरिपाटी—सूत्रपद्धतिः एषयतीव एषयति—प्रयोजयति, इयमत्र भावना—अप्रतिबुध्यमाने श्रोतरि गुरुं तदनुग्रहार्थं सूत्रपरिपाट्येव विभाषितुमेषयति, इच्छत इच्छत मां प्रतिपादयितुमितीत्थं प्रयोजयतीवेति,क्वचित् 'सूत्रपरिपाटी'मिति पाठः, तत्रैवं व्याख्या—शिष्य एव सूत्रपरिपाटी-मनवबुध्यमानो गुरुमिच्छायां प्रवर्त्तयति—इच्छत इच्छत मां विभाषितुं—व्याख्यातुं सूत्रपरिपाटीमिति, व्याख्या च निर्युक्तिः अतः पुनर्योजनरूपा निर्युक्तिरित्यमदोषायेति॥ इह प्रागिदमुक्तम्—अर्थपृथक्त्वस्य तैस्तीर्थकरगणधरैः कथितस्य श्रुतज्ञा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** 'निर्युक्ति' शब्दस्य व्याख्या प्रस्तूयते

नस्य निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्यामीति, तत्र तेषामेव तीर्थकरगणधराणां शीलादिसम्पत्समन्विततामतिपादनार्थं गाथाद्वयमाह—

तव-नियम-नाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी । तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए ॥ ८९ ॥

तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं । तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा ॥ ९० ॥

रूपको नामात्रालङ्कारः, तत्र वृक्षो द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतः प्रधानो वृक्षः कल्पवृक्षः, यथा तमारुह्य कश्चिद् गन्धादि-गुणसमन्वितानां कुसुमानां सञ्चयं कृत्वा तदधोभागवर्त्तिनां पुरुषाणां तदारोहणासमर्थानामनुकम्पया कुसुमानि विसृजति, तेऽपि च भूपातरजोगुण्डनभयात् विमलविस्तीर्णपटैः प्रतीच्छन्ति, पुनर्यथोपयोगमुपभुञ्जानाः परेभ्यश्चोपकुर्वाणाः सुखं प्राप्नुवन्ति, एवं भाववृक्षेऽपि सर्वमिदमायोज्यं, तद्यथा—तपश्च नियमश्च ज्ञानं च तपोनियमज्ञानानि तान्येव वृक्षस्तपोनियमज्ञानवृक्षः तम्, अनशनादिबाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं तपः, नियमस्त्विन्द्रियनोइन्द्रियसंयमः, तत्र श्रोत्रादीनां संयमनं इन्द्रियनियमः, क्रोधादीनां विनिग्रहो नोइन्द्रियसंयमः, ज्ञानमिह केवलज्ञानं परिगृह्यते,तस्यैव सम्पूर्णत्वात, उत्तरत्र केवलिग्रहणाच्च, इत्थंभूतं वृक्षमारूढः,इह ज्ञानं सम्पूर्णमसम्पूर्णं च भवति ततः सम्पूर्णज्ञानपरिग्रहार्थमाह—केवलं—सम्पूर्णज्ञानमस्यास्तीति केवली,असावपि त्रिविधः,—तद्यथा श्रुतकेवली क्षायिकसम्यक्त्वकेवली क्षायिकज्ञानकेवली, यदिवा चतुर्विधः,तद्यथा—श्रुतकेवली अवधिकेवली मनःपर्यायज्ञानकेवली केवलज्ञानकेवलीति,तत्र श्रुतादिकेवलिव्यवच्छित्तये केवलज्ञानेन केवलित्वं प्रतिपिपादयिषुराह—अमितज्ञानी,अमितज्ञानेन केवलीति भावार्थः, स चेह प्रक्रमाद् भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशयसम्पन्नस्तीर्थकरः, 'तो'त्ति ततो वृक्षात् ज्ञानरूपकुसुमवृष्टिं कारणे कार्योपचारात् ज्ञानकारणभूतशब्दकुसुमवृष्टिं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** 'गणधर' द्वारा सूत्र-रचनाया: कथनं

किमर्थमित्याह–भव्याश्च ते जनाश्च भव्यजनास्तेषां विबोधनम् तदर्थं–तन्निमित्तम्, अत्र पर आह–ननु कृतकृत्यो भगवान् ततस्तस्य परेभ्यस्तत्त्वकथनमनर्थकम्, प्रयोजनाभावात्, अथास्ति प्रयोजनं तर्हि नासौ कृतकृत्यः, प्रयोजनसापेक्षत्वादस्मदादिवत्, अन्यच्च–सर्वज्ञो वीतरागश्च भगवान् स भव्यानेव विबोधयतीत्ययुक्तं, तथाहि–सर्वज्ञत्वादसावभव्यानामपि विबोधनोपायमवगच्छति, अन्यथा सर्वज्ञत्वव्याघातप्रसङ्गात्, न च तस्य भव्येषु पक्षपातो येन भव्यानेव विबोधयति नाभव्यान् वीतरागत्वादिति, अत्रोच्यते, कृतकृत्यो भगवान् न भवति, तीर्थंकरनामकर्मविपाकोदयस्याद्याप्यनुभूयमानत्वात्, तदनुभवश्च सद्धर्मदेशनादिप्रकारेणेति न तत्त्वकथनमनर्थकं, यदप्युक्तम् ' सर्वज्ञो वीतरागश्च भगवानि'त्यादि, तत्रापि यत एव भगवान् सर्वज्ञोऽत एव भव्यानेव विबोधयति,अभव्यानां बोधनोपायस्य कस्याप्यभावात्, अन्यथा अभव्यत्वायोगात्, ततो न कश्चिद्दोषः, न च पक्षपातो भव्येषु, वीतरागत्वात्,केवलं तस्य भगवतस्त्रैलोक्याधिपतेः पक्षपातनिरपेक्षमविशेषेण सद्धर्मदेशनां कुर्वतो विभिन्नस्वभावेषु प्राणिषु तथा तथा स्वाभाव्याद् विबोधाविबोधकारिणी पुरुषोलूककमलकुमुदादिष्वादित्यस्य प्रकाशनक्रियेव सद्धर्मदेशनक्रियोपजायते, ततो न कश्चिद्दोषः, उक्तं च वादिमुख्येन–"त्वद्वाक्यतोऽपि केषाञ्चिदबोध इति मेऽद्भुतम् । भानोर्मरीचयः कस्य, नाम नालोकहेतवः ? ॥ १ ॥ नैवाद्भुतमुलूकस्य, प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः । स्वच्छा अपि तमस्त्वेन, भासन्ते भास्वतः कराः ॥ २ ॥" किञ्च–यथा सुवैद्यः साध्यमसाध्यं वा व्याधिं चिकित्समानः प्रत्याचक्षाणश्च नातज्ञो न च रागद्वेषवान्, एवं साध्यासाध्यभव्याभव्यकर्मरोगमपनयन्नपनयंश्च नातज्ञो न च रागद्वेषवान्, यथा वा योग्ये दलिके रूपं कुर्वन् अयोग्ये चाकुर्वन् रूपकारो नातज्ञो नवा रागद्वेषवान्

Jain Education Inter... For Private & Personal Use Only ...www.jainelibrary.org

एवं योग्यान् विबोधयन् अयोग्यांश्चाविबोधयन् नातज्ज्ञो नवा रागद्वेषवान् भगवान्, उक्तंच–" सज्झं तिगिच्छमाणो, रोगं रागी न भण्णए वेज्जो । मुणमाणो य असज्झं निसेहयंतो जह अदोसो ॥ १ ॥ तह भवकम्मरोगं, नासंतो रागवं न जिणवेज्जो । नय दोसी अभव्वासज्झकम्मरोगं निसेहंतो ॥ २ ॥ मोत्तुमजोग्गं जोग्गे, दलिए रूवं करेइ रूयारो। न य रागद्दोसिल्लो, तहेव जोग्गे विवोहंतो ॥ ३ ॥ (वि.) " द्वितीयगाथाव्याख्या–तां ज्ञानकुसुमवृष्टिं बुद्धिमयेन–बुद्ध्यात्मकेन पटेन गणधराः–प्रागुक्तस्वरूपा गौतमादयो ग्रहीतुम्–आदातुं निरवशेषां –सम्पूर्णां, गणभृतां बीजादिबुद्धित्वात्, किं कुर्वन्तीत्यत आह–भाषणानि भाषितानि, भावे निष्ठाप्रत्ययः, तीर्थकरस्य भाषितानि तीर्थकरभाषितानि कुसुमकल्पानि ग्रथ्नन्ति, विचित्रकुसुममालावत्, किमर्थमित्याह–प्रगतं प्रशस्तमादौ वा वचनं प्रवचनं –द्वादशाङ्गं गणिपिटकं तदर्थं, कथमिदं प्रवचनं भवेदित्येवमर्थमिति वा, यदिवा प्रवक्तीति प्रवचनम्, बहुलवचनात् कर्त्तर्यनट्, सङ्क्षस्तदर्थमिति, तथा चायमेवार्थो भाष्यकारेणापि पोषितः,–" तुंगं विउलक्खंधं सातिसयो कप्परुक्खमारूढो । पज्जत्तगहियबहुविहसुरभिकुसुमोऽणुकंपाए ॥ १ ॥ कुसुमत्थिभूमिविट्ठियपुरिसपसारियपडेसु पक्खिवइ । गंथंति तेऽवि घेत्तुं सेसजणाणुग्गहट्ठाए ॥ २ ॥ लोगवणसंडमज्झे, चोत्तीसाइसयसंपदोवेतो । तवनियमनाणमइयं स कप्परुक्खं समारूढो ॥ ३ ॥ पज्जत्तनाणकुसुमो, ताइं छउमत्थभूमिसंथेसु । नाणकुसुमत्थिगणहरसियबुद्धिपडेसु पक्खिवइ ॥ ४ ॥ तं नाणकुसुमवुट्ठिं घेत्तुं बीयाइबुद्धयो सव्वं । गंथंति पवयणट्ठा माला इव चित्तकुसुमाणं ॥ ५ ॥ पगयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

वयणं पवयणमिह सुयनाणं कयं सहं होज्ज । पवयणमहवा संघो, गहिंति तयणुग्गहट्ठाए ॥ ६ ॥ (वि.)"
प्रयोजनान्तरं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

घेत्तुं च सुहं सुहगणणधारणा दाउ पुच्छिउं चेव । एएहिं कारणेहिं जीयंति कयं गणहरेहिं ॥ ९१ ॥

इह मुत्कलं भगवता तीर्थकरेणोक्तं वचनवृन्दं मुत्कलकुसुमनिकुरम्बमिव सर्वात्मना ग्रहीतुं न शक्यते, ग्रथितं तु सूत्रीकृतं सत् ग्रहीतुं आदातुं सुखं भवति, सुखेन ग्रहीतुं प्रभूतमपि शक्यते इति भावः, इयमत्र भावना—पदवाक्यप्रकरणाध्यायोद्देशाध्ययनप्राभृतवस्तुपल्लवादिनियतक्रमव्यवस्थापितं जिनवचनमेतावदस्य गृहीतमेतावच्च पुरस्ताद् ग्रहीतव्यमिति विवक्षया प्रवर्द्धमाननोत्साहेन यत्नत एव ग्रहीतुं शक्यते, तथा गुणनं धारणं च गुणनधारणे ते अपि ग्रथिते सति सुखं भवतः, तत्र गुणनं—परावर्त्तनं धारणा त्वविस्मृतिः, तथा दातुं शिष्येभ्यः प्रष्टुं च संशयापनोदार्थं गुरुपादमूले सुखं भवति, सुखेन प्रश्नः शिष्येभ्यश्चातिसर्जनं कर्त्तुं शक्यत इति भावः, एतैरनन्तरोक्तैः कारणैः जीयन्त इति जीवितम्, श्रुतस्योज्जीवनमिदमिति, किमुक्तं भवति ?—जीवितं जीवनरूपं न कदाचिद् व्यवच्छेदमुपयाति तथा श्रुतमप्यव्यवच्छित्तिनयाभिप्रायतो न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते, ततो जीवितमिव जीवितं—सदाऽवस्थानं द्वादशाङ्गस्य स्यादित्येवमर्थं कृतं ग्रथितं गणधरैः, अथवा न सुखादिकारणेभ्य एव, किं तर्हि ? 'जीयंति'त्ति जीवितं—मर्यादा गणधराणामिदं जीवितम्—इयं मर्यादा तन्नामकर्मोदयतस्तत्स्वभावतया कर्त्तव्यमेव श्रुतविरचनमिति तैः सूत्रं ग्रथितम्, अथवा जीयन्त इति जीतम् आचरितं कल्प इत्येकोऽर्थः, ततः सर्वेषां गणभृतामिदं जी[वि]तम्—अयं कल्पो यथा सन्दर्भणीयं तीर्थकरवचनमिति तैः कृतं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥१०६॥

उक्तं च–"सवेहिं गणहरेहिं, जीयंति सुयं जतो न वोच्छिन्नं। गणहरमज्जाया वा जीवं सवाणुचिन्नं वा" ॥१(वि०)॥

अथ तीर्थकरभाषितान्येव क्रमव्यवस्थापितानि सूत्रमस्तु, गणधरसूत्रीकरणे तु को विशेषः ?, उच्यते, इह भगवान् विशिष्ट-मतिसम्पन्नगणधरापेक्षया प्रभूतार्थं स्वल्पमेवार्थमात्रमभिधत्ते, नत्वितरजनसाधारणं ग्रन्थराशिं, ततो गणधराणां सूत्र-कृतिः, तथा चाह—

अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ ॥ ९२ ॥

अर्थम्–अर्थमात्रमेवार्हन् भाषते, न प्रभूतजनसाधारणं ग्रन्थराशिं, ततो गणधराः शासनस्य हितार्थं 'निपुणं' बहु सूक्ष्मार्थप्रतिपादकं निगुणं वा–नियतगुणं सन्निहिताशेषसूत्रगुणमितियावत् 'सूत्रं' द्वादशाङ्गरूपं ग्रन्थन्ति,तत एव सूत्रं जगति प्रवर्त्तते इति, क्वचित्पाठान्तरं 'गणहरा निउणा' इति, तत्र गणधराः विशेष्यन्ते, निपुणाः सूक्ष्मार्थदर्शित्वात्, नियतगुणा निगुणा वा,सन्निहितसमस्तगुणत्वात्॥आह–तत्पुनः सूत्रंकिमादिकं किंपर्यवसानं कियत्परिमाणं को वाऽस्य सार इत्यत आह–

सामाइयमाईयं सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ
तस्सवि सारो चरणं सारो चरणस्स निव्वाणं ॥ ९३ ॥

तत् श्रुतज्ञानं सामायिकमादिर्यस्य तत् सामायिकादि यावत् बिन्दुसारात्–बिन्दुसारं यावत्, बिन्दुसाराख्यचतुर्दशपू-र्वपर्यन्तमित्यर्थः, तच्च मूलभेदापेक्षया द्विभेदं, तद्यथा–अङ्गप्रविष्टमनङ्गप्रविष्टं च, अङ्गप्रविष्टं द्वादशभेदमाचारादिभेदात्, अनङ्गप्रविष्टमनेकभेदमावश्यकतद्व्यतिरिक्तकालिकोत्कालिकादिभेदात्,उक्तं च–"द्व्यनेकद्वादशभेदं श्रुत"(तत्त्व१-)मिति,

सूत्रग्रन्थने हेतुः ९० सूत्रप्रवृ-त्तिः सूत्रा-दि९१–३

॥१०६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** 'गणधर' द्वारा सूत्र-रचनाया: हेतु:

तस्यापि–श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणं, सारशब्दोऽत्र फलवचनः प्रधानवचनश्च मन्तव्यः, तस्य फलं चरणं, यदिवा तस्मादपि श्रुतज्ञानाच्चरणं प्रधानं, ननु चरणं नाम संवररूपा क्रिया, क्रिया च ज्ञानाभावे हता, 'हया अनाणतो किया' इति वचनात्, ततो ज्ञानक्रियाभ्यां समुदिताभ्यामेव मोक्ष इति समानत्वमेवोभयोः, कथं ज्ञानस्य सारश्चरणमिति ?, उच्यते, इह यद्यपि "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वा-१.१) इति समानं ज्ञानचरणयोर्निर्वाणहेतुत्वमुपन्यस्तं, तथापि गुणप्रधानभावोऽस्ति, तथाहि–ज्ञानं प्रकाशकमेव, 'नाणं पयासय'मिति वचनात्, चरणं त्वभिनवकर्मादाननिरोधफलं प्रागुपात्तकर्म्मनिर्जराफलं च, ततो यद्यपि ज्ञानमपि प्रकाशकतयोपकारीति ज्ञानचरणरूपद्विकाधीनो मोक्षः, तथापि प्रकाशकतयैव व्याप्रियते ज्ञानं, कर्ममलशोधकतया तु चरणमिति प्रधानगुणभावाच्चरणं ज्ञानस्य सारः, उक्तं च–"नाणं पयासयं चिय गुत्तिविसुद्धीफलं च जं चरणं। मोक्खो य दुगाहीणो चरणं नाणस्स तो सारो॥ १॥" (वि०) अपिशब्दात् सम्यक्त्वस्यापि सारश्चरणम्, अथवा अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, तस्य–श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणमपि, अपिशब्दान्निर्वाणमपीत्यर्थः, अन्यथा ज्ञानस्य निर्वाणहेतुता न स्यात्, किन्तु चरणस्यैव,अनिष्टं चैतत् 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' तथा 'नाणकिरियाहिं मोक्खो' इत्यादि वचनात्, केवलं सा ज्ञानस्य निर्वाणहेतुता गौणतया प्रतिपत्तव्या, मुख्यतया तु चरणस्य, यतः केवलज्ञानलाभेऽपि न तत्क्षणमेव मुक्तिरुपजायते, किन्तु शैलेश्यवस्थाचरमसमयभाविचरणप्रतिपत्त्यनन्तरम्, अतो मुख्यं कारणं निर्वाणस्य चरणं, तथा चोक्तम्–"जं सवनाणलंभानंतरमहवा न मुच्चए सवो । मुच्चइ य सवसंवरलाभे तो सो पहाणयरो॥ १॥" (वि०) तत उक्तम्–तस्य सारश्चरणमिति, तथा 'सारो चरणस्स निवाण'मित्यत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥ १०७ ॥

सारशब्दः फलवचनः, चरणस्य संयमतपोरूपस्य सारः–फलं निर्वाणम्, इहापि शैलेश्यवस्थाभाविसर्वसंवररूपचारित्रमन्तरेण निर्वाणस्याभावात् तद्भावे चावश्यंभावादिति प्रधानभावमधिकृत्य उपन्यस्तम्, अन्यथा शैलेश्यवस्थायामपि क्षायिकज्ञानदर्शने स्त इति सम्यग्ज्ञानदर्शनादिरूपरत्नत्रयस्य समुदितस्यैव निर्वाणहेतुत्वमिति॥तथा चाह निर्युक्तिकारः—

सुयनाणम्मिवि जीवो वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं । जो तव-संजममइए जोगे न चएइ वोढुं जे ॥ ९४ ॥

श्रुतज्ञाने अपिशब्दान्मत्यादिष्वपि ज्ञानेषु जीवो वर्त्तमानः सन् न प्राप्नोति मोक्षमित्यनेन प्रतिज्ञार्थः सूचितः, यः किंविशिष्ट इत्याह–यस्तपःसंयममयान्–तपःसंयमात्मकान् योगान् न शक्नोति वोढुमित्यनेन हेत्वर्थः, जे इति पादपूरणे 'इजेराः पादपूरणे' इति वचनात्, दृष्टान्तस्तु स्वयमभ्युह्यो वक्ष्यति वा, प्रयोगः–न ज्ञानमेवेप्सितार्थप्रापकं सत्क्रियाविरहात् स्वदेशप्राप्त्यभिलषितगमनक्रियाशून्यमार्गज्ञज्ञानवत्, सौत्रो वा दृष्टान्तः, मार्गज्ञनिर्यामकाधिष्ठितेप्सितदिक्सम्प्रापकपवनक्रियाशून्यपोतवत् ॥ तथा चाह—

जह छेयलद्धनिज्जामओऽवि वाणियगइच्छियं भूमिं । वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णवं तरिउं ॥ ९५ ॥
तह नाणलद्धनिज्जामओऽवि सिद्धिवसहिं न पाउणइ । निउणोऽवि जीवपोओ तव–संजममारुयविहीणो ॥९६॥

' यथा ' येन प्रकारेण 'छेको' दक्षो 'लब्धः' प्राप्तो निर्यामको येन पोतेन स तथाविधः अपिशब्दात् सुकर्णधाराद्यधिष्ठितोऽपि, वणिज इष्टा वणिगिष्टा तां भूमिं महार्णवं तीर्त्वा वातेन विना पोतो न शक्नोति, प्रापुमिति वाक्यशेषः, उपनयमाह–तथा श्रुतज्ञानमेव लब्धो निर्यामको येन जीवपोतेन स तथाविधः, अपिशब्दात्सुनिपुणमतिकर्णधाराद्यधिष्ठितोऽपि,

संयमस्य मुख्यता ९४–६

॥ १०७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष-प्राप्तौ संयमस्य मुख्यताया: कथनं

संयमतपोनियमरूपेण मारुतेन विहीनो निपुणोऽपि जीवपोतो भवार्णवं तीर्त्वा सन्मनोरथवणिजोऽभिप्रेतां सिद्धिवसतिं न प्राप्नोति, तस्मात्तपःसंयमानुष्ठाने खल्वप्रमादवता भवितव्यम् ॥ तथा चात्रौपदेशिकमेव गाथासूत्रमाह–

संसारसागराओ उव्वुड्डो मा पुणो निवुड्डेज्जा । चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुंपि जाणंतो ॥ ९७ ॥

अस्याः पदार्थो दृष्टान्ताभिधानद्वारेण प्रोच्यते, यथा नाम कश्चित् कच्छपः प्रचुरतृणपत्रपटलनिबिडतमशैवलाच्छादितोदकान्धकारमहाह्रदान्तर्गतो विविधानेकजलचरक्षोभादिव्यसनपरम्पराव्यवस्थितमानसः सर्वतः परिभ्रमन् कथमपि शैवालरन्ध्रमासाद्य तेनैव च तत उपरि विनिर्गत्य शरदि पार्वणचन्द्रचन्द्रिकास्पर्शसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वबन्धुस्नेहाकृष्टचेतोवृत्तिस्तेषामपि तपस्विनामदृष्टकल्याणानामहमिदं सुरलोककल्पं किमपि दर्शयामीत्यवधार्य तस्मिन्नेव ह्रदमध्ये निमग्नः, ततः समासादितबन्धुवर्गस्तद्दर्शननिमित्तं विवक्षितरन्ध्रोपलब्धये पर्यटन् अवश्यं कष्टतरं व्यसनमनुभवति स्म, एवमयमपि जीवकच्छपोऽनादिकर्मपटलसन्तानाच्छादितान्मिथ्यादर्शनादितमोऽनुगतान् विविधशिरोनेत्रकर्णवेदनाज्वरकुष्ठभगंदरादिशरीरेष्टवियोगानिष्टसम्प्रयोगादिमानसदुःखजलचरसमूहानुगतान्, संसरणं संसारः, भावे घञ् प्रत्ययः, स एव सागरस्तस्मात् परिभ्रमन् कथञ्चिदेव मनुष्यभवप्राप्तियोग्यकर्मोदयलक्षणं रंध्रमासाद्य मनुष्यत्वप्राप्त्या उन्मग्नः सन् जिनचन्द्रवचनकिरणावबोधमासाद्य दुष्प्रापोऽयं जिनवचनबोधिलाभ इत्येवं जानानः स्वजनस्नेहविषयातुरचित्ततया मा पुनः कूर्मवत् तत्रैव निमज्जेत्, आह–अज्ञानी कूर्मोऽतो निमज्जति, इतरस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारज्ञो ज्ञानी ततः कथं निमज्जति ?,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** चरण-गुणस्य महत्ता प्रतिपादनम्

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥ १०८ ॥

तत आह–चरणगुणैः विविधम्–अनेकप्रकारं प्रकर्षेण हीनश्चरणगुणविप्रहीणः, ततः सुबहुपि जानन् निमज्जति, अथवा निश्चयनयदर्शनेनासावप्यज्ञ एव, ज्ञानफलशून्यत्वाद्, अतो निमज्जतीति प्रकृतमेवार्थं समर्थयमान आह—

सुबहुंपि सुयमहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स ?। अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ॥ ९८ ॥

सुबहपि श्रुतमधीतं चरणविप्रहीणस्य निश्चयतोऽज्ञानमेव, तत्फलाभावात्, ततस्तत्सदपि किं करिष्यति ?, न किञ्चिदपि, अकिञ्चित्करमेवेति भावः, अत्रैव दृष्टान्तमाह–अन्धस्य यथा दीपशतसहस्रकोट्यपि, प्रदीप्तानां दीपानां शतसहस्राणि तेषां कोटी, अपिशब्दात् तद्द्व्यादिकोटयोऽपि, आह च भाष्यकृत्—"संतंपि तमण्णाणं नाणफलाभावओ सुबहुयंपि । सकिरियापरिहीणं, अंधस्स पदीवकोडीवि ॥ १ ॥" व्यतिरेकमाह–

अप्पंपि सुयमहीयं पगासयं होइ चरणजुत्तस्स । एक्कोऽवि जह पईवो, सचक्खुयस्सा पयासेइ ॥ ९९ ॥

अल्पमपि श्रुतमधीतं' चरणयुक्तस्य ' सावद्येतरयोगनिवृत्तिपरिणामरूपचरणलक्षणचक्षुष्मतः प्रकाशकं भवति–हेयोपादेयार्थप्राप्तिपरिहारप्रदर्शकमुपजायते, चरणानुगतयथावस्थितशुद्धपरिणामरूपचक्षुरुपेतत्त्वाद्, तत्रैव दृष्टान्तमाह–एकोऽपि यथा प्रदीपः सचक्षुष्कस्य प्रकाशयति ॥ आह–नन्वित्थं सति चरणरहितानां ज्ञानसम्पत् सुगतिफलापेक्षया निरर्थिका प्राप्नोति, सत्यमेवमेतत्, इष्यते एव निरर्थिका, यत आह–

जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी नहु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी नहु सुग्गईए ॥ १०० ॥

चरणोपदेशः ९७–१००

॥ १०८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

यथा खरश्चन्दनभारवाही सन् भारस्य भागी—चन्दनकाष्ठभारमुद्वहन् तज्जनितश्रमादिकष्टभागी, न तु चन्दनस्य-चन्दनरसक्रियमाणविलेपनादेर्भागी, एवमेव, खुल्लन्दोऽवधारणे, ज्ञानी चरणेन हीनः सन् ज्ञानस्य—ज्ञानपठनपरावर्त्तन-चिन्तनादिजन्यक्लेशपरम्परकस्य भागी, नतु सुदेवत्वसुमानुषत्वसिद्धिलक्षणायाः सुगतेः, उक्तं च—"नहि नाणं विफलं चिय किलेसफलयंपि चरणरहियस्स। निप्फलपरिवहणातो चंदणभारो खरस्सेव ॥१॥" (वि०११५७) सम्प्रति मा भूद्विनेयस्य एकान्तेनैव ज्ञानेऽनादरः क्रियायां च तच्छून्यायां पक्षपात इति द्वयोरपि केवलयोरिष्टफलासाधकत्वमुपदर्शयति—

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया। पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥ १०१ ॥

अत्राक्षरार्थः प्रतीत एव, भावार्थः तदुदाहरणादवसेयः, तच्चेदम्—एगम्मि महानगरे पलीवणं संवुत्तं, तंमि य अणाहा दुवे जणा, तंजहा—पंगुलो अंधलो य, ते य नगरलोए जलणभयसमुब्भंतलोयणे पलायमाणे संते पंगुलत्तो गमणकिरियावियलो जाणंतोवि पलायणमग्गं कमागएण अगणिणा दड्ढो, अंधोऽवि गमणकिरियाजुत्तो पलायणमग्गमजाणंतो तुरियं जल-णाभिमुहं चेव गंतुं पयट्टो, ततो अगणिभरियाए खाणीए पडितो, दड्ढो य, एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—ज्ञान्यपि क्रिया-रहितो न कर्माग्नेः पलायितुं समर्थः, नापीतरः समर्थो, ज्ञानक्रियात्वात्, अत्र प्रयोगो—ज्ञानमेव विशिष्टफलसाधकं न भवति, सक्रियायोगशून्यत्वात्, नगरदाहे पङ्गुपलायनविज्ञानवत्, नापि क्रियैव विशिष्टफलप्रसाधिका सज्ज्ञानरहित-त्वात्, नगरदाह एवान्धस्य पलायनक्रियावत्, नन्वेवं समुदितयोरपि ज्ञानक्रिययोर्निर्वाणप्रसाधकसामर्थ्यानुपपत्तिः, प्रत्ये-कमभावात्, सिकतातैलवत्, आह च—"पत्तेयमभावाओ, निव्वाणं समुदियासुऽवि न जुत्तं। नाणकिरियासु वोत्तुं सिक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥१०९॥

तासमुदायतेलं व ॥१॥(वि.११६३)" नैष दोषः, समुदायसामर्थ्यस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्,तथाहि–ज्ञानक्रियाभ्यां कटादिकार्य-सिद्धय उपलभ्यन्ते एव, नतु सिकतासु तैलं,न च दृष्टमपह्नोतुं शक्यते,एवमाभ्यामदृष्टकार्यसिद्धिरप्यविरुद्धेति न कश्चि-द्दोषः, किञ्च–न सर्वथैवानयोः प्रत्येकं निर्वाणप्रसाधकसामर्थ्ययोगः, देशोपकारित्वाभ्युपगमात्, तथा हि तदेव देशोप-कारित्वं समुदाये समग्रत्वादिष्टफलप्रसाधकं भवति, केवलं तु सामग्रीविकलतयेतरसापेक्षत्वादसाधकमिति केवलयोः सामर्थ्ययोगः, उक्तं च–"वीसुं न सवह च्चिय सिकतातेलं व साहणाभावो। देसोवगारिया जा सा समुदायंमि संपुण्णा ॥ १ ॥ (वि.११६५) एतदेवाह—

संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, नहु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥ १०२ ॥

ज्ञानक्रिययोः संयोगनिष्पत्तावेव मोक्षलक्षणं फलं वदन्ति-व्याचक्षते भगवन्तस्तीर्थकराः, न हि लोकेऽप्येकचक्रेण रथः प्रवर्त्तते, एवमन्यदपि सामग्रीजन्यं कार्यं सर्वमवगन्तव्यम्, अत्रैव दृष्टान्तमाह—अन्धश्च पङ्गुश्च वने समेत्य–मिलित्वा तौ सम्प्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ, समेत्येत्युक्तेऽपि तौ सम्प्रयुक्ताविति पुनरभिधानमात्यन्तिकसम्प्रयोगप्रदर्शना-र्थम्, अत्र उदाहरणं–एगम्मि रण्णे रायभएण नगरातो उवसिय लोगो ठिओ, पुणोवि धाडिभएण पवहणाणि उज्झिय पलातो, तत्थ दुवे अणाहा उज्झिया, गयाए धाडीए लोगग्गिणा वायपलीविएण वणदवो लग्गो, ते य भीया, तत्थ अंधो छुट्टकच्छो अयाणत्तणतो अग्गिसंमुहं चेव पलायइ, ततो पंगुणा भणियं–मा इतो नास, जत्तो इतो चेव अग्गी, तेण

ज्ञानक्रि-याभ्यां फ-लम् १०१–२

॥१०९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** ज्ञान-क्रियाया: पारस्पारिक संबंधम् दर्शयते

भणियं–कुतो पुण गच्छामि?, पंगुणा भणियं–अहंपि पुरतो अतिदूरे मग्गदेसणे न समत्थो, जतो पंगू, ता मं खंधे करेह जेण अहं कंटगजलणादिअपाए परिहरावितो सुहं तं नगरं पावयामि, तेण तहत्ति पडिवज्जिय मणुट्ठियं, गया य खेमेण दोवि नगरं, एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः–एवं ज्ञानक्रियाभ्यां समुदिताभ्यां सिद्धिपुरमवाप्यते इति, प्रयोगश्चात्र–विशिष्टकारणसंयोगोऽभिलषितकार्यप्रसाधकः, सम्यक्क्रियोपलब्धिरूपत्वादन्धपङ्ग्वोरिव नगरावाप्तेः, यः पुनरभिलषितफलसाधको न भवति स सम्यक्क्रियोपलब्धिरूपोऽपि न भवति, इष्टगमनादिक्रियाविकलविघटितैकचक्ररथवदिति व्यतिरेकः, ननु ज्ञानक्रिययोः सहकारित्वे सति किं केन स्वभावेनोपकुरुते?, किमविशेषेण शिविकोद्वाहकवत्, उत भिन्नस्वभावतया गमनक्रियायां नयनचरणादिवत्, उच्यते, भिन्नस्वभावतया, यत आह—

नाणं पयासयं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो। तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ॥१०३॥

इह यथा किञ्चिदुद्घाटद्वारं बहुवातायनजालकरूपच्छिद्रं वाताकृष्टादिप्रचुररेणुकचवरपूरितं शून्यगृहं, तत्र चैव वस्तुकामः कोऽपि तत् शुशोधयिषुर्द्वारवातायनजालकानि सर्वाण्यपि बाह्यरेणुकचवरप्रवेशनिषेधार्थं स्थगयति, मध्ये च प्रदीपं प्रज्वलयति, पुरुषं च कचवराद्याकर्षणाय व्यापारयति, तत्र प्रदीपो रेण्वादिमलप्रकाशनव्यापारेणोपकुरुते, द्वारादिस्थगनं बाह्यरेण्वादिप्रवेशनिषेधेन, पुरुषस्तु रेण्वाद्याकर्षणात् तच्छोधनेन, एवमिहापि जीवापवरक उद्घाटितास्रवद्वारः सद्गुणशून्यो मिथ्यात्वादिहेत्वाकृष्टकर्म्मकचवरापूरितो मुक्तिसुखनिवासहेतोः शोधनीयो वर्त्तते, तत्र ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं, तच्च प्रकाशयतीति प्रकाशकं, ज्ञानं प्रकाशकत्वेनोपकुरुते, तत्स्वभावत्वात्, गृहमलापनयने प्रदीपवदिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** ज्ञान, तप एवं संयमस्य समायोगे मोक्ष-प्राप्ति:

भावः, क्रिया तु तपःसंयमरूपत्वादित्थमुपकुरुते, शोधयतीति शोधकं, किन्तदित्याह–तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्मेति तपः, तत् शोधकत्वेनोपकुरुते, तत्स्वभावत्वात्, गृहकचवरोज्झनक्रियया तच्छोधने कर्मकरपुरुषवत्, तथा संयमनं संयमः, भावेऽल्पप्रत्ययः, आश्रवद्वारविरमणमितियावत्, चशब्दः पृथग्ज्ञानादीनां प्रक्रान्तफलसिद्धौ भिन्नोपकारकत्वाद्व्यवधारणार्थः, गोपनं गुप्तिः, स्त्रियां क्तिप्रत्ययः, आगन्तुककर्म्मकचवरनिरोध इति हृदयं, गुप्तिकरणशीलो गुप्तिकरो, हेतुतच्छीलानुकूलेष्वित्यादिना टप्रत्ययः, किमुक्तं भवति ?–संयमोऽप्यपूर्वकर्म्मकचवरागमननिरोधेनोपकुरुते, तत्स्वभावत्वात्, गृहशोधने पवनप्रेरितकचवरागमननिरोधेन वातायनादिस्थगनवत्, एवं च त्रयाणामेव, अपिशब्दोऽवधारणे, अथवा सम्भावने, किं सम्भावयति ?–त्रयाणामपि ज्ञानादीनां, किंविशिष्टानाम् ?–निश्चयतः क्षायिकाणां, न तु क्षायोपशमिकानामपि, समायोगे–संयोगे मोक्षः–सर्वथा अष्टविधकर्ममलवियोगलक्षणः जिनानां शासनं जिनशासनं तस्मिन् 'भणितः' उक्तः, नन्वेवं सति 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यागमो विरुध्यते, सम्यग्दर्शनमन्तरेणोक्तलक्षणज्ञानादित्रयादेव मोक्षप्रतिपादनाद्, नैष दोषः, ज्ञानग्रहणेन तस्यापि ग्रहणाद्, अन्यथा ज्ञानत्वायोगात्, अत एवान्यत्र चतुष्टयमुक्तं–"ज्ञानं सुमार्गदीपं सम्यक्त्वं तदपराङ्मुखत्वाय । चारित्रमास्रवघ्नं क्षपयति कर्म्माणि तु तपोऽग्निः ॥ १ ॥" इति। इह यत् प्राग्निर्युक्तिकृताऽभ्यधायि–श्रुतज्ञानेऽपि जीवो वर्त्तमानः सन् न प्राप्नोति मोक्षमिति, तत्प्रतिज्ञागाथासूत्रं, तत्रैव सूत्रसूचितः स्वत्वयं हेतुरवगन्तव्यः, कुतः ?, तस्य क्षायोपशमिकत्वात्, दृष्टान्तोऽपि सूत्रसूचितोऽत्रमवधिज्ञानवदिति, क्षायिकज्ञानाद्यवाप्तौ च मोक्षावाप्तिरिति तत्त्वं, ततः श्रुतस्यैव क्षायोपशमिकभावमुपदर्शयति–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

भावे खओवसमिए दुवालसंगंपि होइ सुयनाणं । केवलियनाणलंभो नण्णत्थ खए कसायाणं ॥ १०४ ॥

भवनं भावो भवतीति वा भावस्तस्मिन्, स च औदयिकाद्यनेकभेदस्तत आह–क्षायोपशमिके, द्वादशाङ्गानि यत्र तत् द्वादशाङ्गम्, अपिशब्दादङ्गबाह्यमपि, भवति श्रुतज्ञानम्, उपलक्षणमेतत्, मत्यादिज्ञानत्रयमपि सामायिकचतुष्टयमपि, तथा केवलस्य भावः कैवल्यं–घातिकर्मवियोग इत्यर्थः तस्मिन् ज्ञानं कैवल्यज्ञानं, कैवल्ये सति ज्ञानग्रहणेन इह यो 'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' इति वचनात् प्रकृतिविमुक्तस्य बुद्ध्यभावात् ज्ञानाभाव इति प्रतिपन्नस्तस्य प्रकृतिमुक्तज्ञानिपुरुषप्रतिपादनपरकुनयमतव्यवच्छेदमाह, तस्य लाभः–प्राप्तिः, कथं ?–कषायाणां–क्रोधादीनां क्षये सति, नान्यत्र, तृतीयार्थे सप्तमी, नान्येन प्रकारेण, छद्मस्थवीतरागावस्थायां कषायक्षये सत्यप्यक्षेपेण कैवल्यज्ञानाभावे ज्ञानावरणक्षयानन्तरं चावश्यभावे कषायक्षयग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थं, कषायक्षय एव सति निर्वाणं, नान्यथा, कषायक्षय एव सति त्रयाणामपि सम्यक्त्वादीनां क्षायिकत्वसिद्धेः, नन्वेवं तर्हि यदादावुक्तं श्रुतज्ञानेऽपि वर्त्तमानः सन् जीवो न प्राप्नोति मोक्षं, यस्तपःसंयमात्मकयोगशून्य इति विशेषणं तदनर्थकं, श्रुतेऽपि सति तपःसंयमात्मकसहिष्णोरपि मोक्षाभावात्, सत्यमेतत्, केवलं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वश्रुतचारित्राणामपि समुदितानां क्षायिकसम्यक्त्वादिनिबन्धनत्वेन परम्परया मोक्षहेतुत्वमस्तीत्यदोषः। आह–प्रतिपन्नमस्माभिर्मोक्षकारणकारणं श्रुतादि, परं तस्यैव कथमलाभो लाभो वेति ?, उच्यते—

अट्ठण्हं पयडीणं उक्कोसट्ठिईएँ वट्टमाणो उ । जीवो न लहइ सामाइयं चउण्हंपि एगयरं ॥ १०५ ॥

अष्टानां प्रकृतीनां–ज्ञानावरणीयादिकर्मप्रकृतीनाम् उत्कृष्टा चासौ स्थितिश्च उत्कृष्टस्थितिस्तस्यां वर्त्तमानो जीवो न लभ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** कषायक्षये एव मोक्ष:

*** सामयिक-प्राप्ते: संयोग:

ते–न प्राप्नोति, किन्तदित्याह–सामायिकं, किं तदित्याह-चतुर्णा–सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकदेशविरतिसामायिकसर्वविरतिसामायिकानामेकतरम्–अन्यतमद्, अपिशब्दात् मतिज्ञानादि च न लभते, न केवलमेतानि न लभते, पूर्वप्रतिपन्नोऽप्यायुर्वर्जकर्मोत्कृष्टस्थितौ न भवति, यतोऽवाप्तसम्यक्त्वस्तत्परित्यागेऽपि न भूयो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्योत्कृष्टस्थितीः कर्म्मप्रकृतीर्बध्नाति, 'बंधेण न वोलइ कयाई'ति वचनात्, एष सिद्धान्तिकाभिप्रायः, कर्म्मग्रन्थिकास्तु भिन्नग्रन्थेरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति प्रतिपन्नाः, आयुषस्तूत्कृष्टस्थितौ वर्त्तमानः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोरनुत्तरसुर उपपातकाले पूर्वप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यमानकः, पूर्वमवश्यं प्रतिपन्नत्वात, आयुषस्तु जघन्यस्थितौ वर्त्तमानो न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, आयुर्जघन्यस्थितिः क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणा, सा च वनस्पतिषु, न च वनस्पतिषु सम्यक्त्वस्यापि पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, सास्वादनसम्यक्त्वसहितस्यापि तेष्वनुत्पादात्, 'उभयाभावो पुढवाइएसु' इति वचनात्, प्रकृतीनां चोत्कृष्टेतरभेदभिन्ना स्थितिरियं–ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां उत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः सप्ततिर्मोहनीयस्य नामगोत्रयोर्विंशतिः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्येति, जघन्या तु द्वादश मुहूर्त्ता वेदनीयस्य नामगोत्रयोरष्टौ शेषाणामन्तर्मुहूर्त्तमिति, उक्तं च–"वीसयरोवमाणं कोडाकोडीउ नामगोयाणं। सयरी मोहस्स ठिई सेसाणं तीस उक्कोसा ॥१॥ आउस्स सागराइं तेत्तीसं अवरतो मुहुत्तंतो। अट्ठ उ नामागोए वेयणिए बारस मुहुत्ता ॥२॥"(वि.११८७–८) नन्वेताः कर्म्मप्रकृतयः किं युगपदेवोत्कृष्टां स्थितिमासादयन्ति उत एकस्यामुत्कृष्टस्थितिमापन्नायां सत्यामन्या अपि नियमत उत्कृष्टस्थितयो जायन्ते, आहोस्विदन्यथा वैचित्र्यमिति ?, उच्यते, अन्यथा वैचित्र्यं, तथाहि—मोहनीयस्योत्कृष्टायां स्थितौ शेषाणा-

Jain Education Intern... For Private & Personal Use Only ...w.jainelibrary.org

मपि पण्णामुत्कृष्टैव स्थितिः, आयुषस्तु उत्कृष्टा वा मध्यमा वा, न तु जघन्या, मोहनीयरहितानां तु शेषप्रकृतीनामन्यतमस्या उत्कृष्टस्थितिसद्भावे मोहनीयस्य शेषाणां च उत्कृष्टा वा मध्यमा वा, न तु जघन्येति, उक्तं च—"मोहस्सुक्कोसाए ठिईएँ सेसाण छण्हमुक्कोसा। आउस्सुक्कोसा वा मज्झिमिया वा न उ जहण्णा ॥ १ ॥ मोहविवज्जुक्कोसट्ठिईएँ मोहस्स सेसियाणं च। उक्कोस मज्झिमा वा कस्सइ न जहण्णिया होज्जा ॥ २ ॥ (वि.११८९–९०)" तदेवमुक्तं सम्यक्त्वादीनामलाभकारणम्, अधुना लाभकारणमाह—

सत्तण्हं पयडीणं अब्भिंतरओ उ कोडिकोडीए। काऊण सागराणं जइ लहइ चउण्हमण्णयरं ॥ १०६ ॥

सप्तानामायुर्वर्जानां कर्मप्रकृतीनां या पर्यन्तवर्त्तिनी स्थितिस्तामङ्गीकृत्य सागरोपमाणां कोटाकोटी तस्या अभ्यन्तर एव–मध्य एव, तुशब्दोऽवधारणार्थः, कृत्वा आत्मानमिति गम्यते, यदि लभते–यदि प्राप्नोति चतुर्णा–श्रुतसामायिकादीनामन्यतमत्, तत एव लभते नान्यथा, पाठान्तरं 'काऊण सागराणं ठिइं लभइ चउण्हमण्णयरं' तत्र सागरोपमाणां कोटीकोट्या अभ्यन्तरतो–मध्ये कृत्वा स्थितिं लभते चतुर्णामन्यतमत्, एष गाथाक्षरार्थः, इयमत्र भावना–आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां यदा स्थितिः पर्यन्तवर्त्तिनी पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा अवतिष्ठते तदा घनरागद्वेषपरिणामरूपोऽत्यन्तदुर्भेददारुग्रन्थिवत्कर्मग्रन्थिर्भवति, उक्तं च–"अंतिमकोडाकोडीएँ, सवकम्माण आउवज्जाणं। पलियासंखेज्जइमे भागे खीणे हवइ गंठी ॥१॥ गंठित्ति सुदुब्भेदो कक्खडघणरूढगूढगंठिव्व। जीवस्स कम्मजणितो घणरागद्दोसपरिणामो ॥२॥"(वि.११९४-५)तस्मिंश्च कर्म्मग्रन्थावपूर्वकरणनामविशेषविशुद्धिकुठारधारया भिन्ने परमपदहेतुः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥११२॥

सम्यक्त्वलाभ उपजायते, केवलं कर्म्मग्रन्थेर्भेद एव मनोविघातपरिश्रमादिभिर्दुःसाधः, तथाहि—स जीवः कर्मरिपुमध्यगतस्तं प्राप्य विघातयन्नतीव परिश्राम्यति, प्रभूतकर्म्मारातिसैन्यान्तकारितया सञ्जातखेदत्वात्, महासमरशिरसि दुर्जयापाकृतानेकशत्रुगणः सुभट इव, उक्तं च–"भिन्नंमि तंमि लाभो संमत्ताईण मोक्खहेऊणं । सो य दुलभो परिस्समचित्तविघायाइविग्घेहिं ॥ १ ॥(वि.११९६)" अपरस्त्वाह–ननु किं तेन कर्मग्रन्थिना भिन्नेन ? किं वा सम्यक्त्वादिना अवाप्तेन ? यावता यथाऽतिदीर्घा कर्म्मस्थितिः सम्यक्त्वादिगुणरहितेनैव क्षपिता एवं कर्म्मशेषमपि गुणरहित एव क्षपयित्वा विवक्षितफलभाग् भविष्यतीति, उच्यते, स हि तस्यामवस्थायां प्रवर्त्तमानोऽनासादितगुणान्तरो न शेषक्षपणया विशिष्टफलप्रसाधनायालं, चित्तविघातादिप्रचुरविघ्नसङ्कुलत्वात्, विशिष्टायाश्चाप्राप्तपूर्वफलप्राप्तेः प्रागभ्यस्तक्रियययाऽवासुमशक्यत्वाच्च, अनेकसंवत्सरानुपालिताचाम्लादिपुरश्चरणक्रियाऽऽसादितगुणान्तरसहायक्रियारहितविद्यासाधकवद्, उक्तं च—"कम्मट्ठिई सुदीहा खविया जइ निग्गुणेण सेसंपि । खवेउ निग्गुणच्चिय किं थ पुणो दंसणादीहिं ? ॥१॥ आचार्य आह—"पाएण पुव्वसेवा परिमउई साहणंमि गुरुतरिया । होइ महाविज्जाए किरिया पायं सविग्घा य ॥ २॥ तह कम्मट्ठिइखवणे परिमउई मोक्खसाहणे गुरुई । इह दंसणाइकिरिया, दुलहा पायं सविग्घा य ॥३॥(वि.११९७–२००) अथवा यत एव बही कर्म्मस्थितिरनेनोन्मूलिता अत एवापचीयमानदोषस्य सम्यक्त्वादिगुणलाभः सञ्जायते, अशेषकर्म्मपरिक्षये सिद्धत्ववत्, तत एव च मोक्षः, ततो न शेषमपि कर्म्म गुणरहित एवापाकृत्य मोक्षं प्रसाधयति, आह च–"अहव जउच्चिअ सुबहुं खविअं तो निग्गुणो न सेसंपि । स खवेइ जओ लभए सम्मत्तसुआइगुणलाभं ॥ १ ॥ (वि.१२०१)" इति । सम्प्रति सम्यक्त्वादिगुणा-

सामायिक-हेतुः १०६

॥११२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

वाप्तिविधिरुच्यते, इह जीवा द्विविधा भवन्ति, तद्यथा–भव्याश्च अभव्याश्च, तत्र भव्यानां करणत्रयं भवति, करणं नाम सम्यक्त्वाद्यनुगुणो विशुद्धरूपः परिणामविशेषः, तद्यथा–यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवर्त्तिकरणं, तत्र यथैव–अनादिसंसिद्धेनैव प्रकारेण प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तं क्रियते कर्म्मक्षपणमनेनेति करणं यथाप्रवृत्तं च तत्करणं च यथाप्रवृत्तकरणम्–अनादिकालात्कर्म्मक्षपणाय प्रवृत्तो गिरिसरिदुपलघोलना[न्यायेन] कल्पोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तकरणमिति, तथा अप्राप्तपूर्वमपूर्वं स्थितिघातरसघाताद्यपूर्वार्थनिर्वर्त्तकं वा अपूर्वकं, तच्च तत्करणं च अपूर्वकरणं, निवर्त्तनशीलं निवर्त्ति न निवर्त्ति अनिवर्त्ति–आसम्यग्दर्शनलाभान्न निवर्त्तत इत्यर्थः, ततः प्राग्वत्करणशब्देन सह विशेषणसमासः, एतानि त्रीण्यपि यथोत्तरं विशुद्धविशुद्धतराध्यवसायरूपाणि भवन्ति भव्यानाम्, अभव्यानां त्वाद्यमेव करणं, तत्र अनादिकालादारभ्य यावद् ग्रन्थिस्थानं तावदाद्यं, ग्रन्थिं तु समतिक्रामतो द्वितीयं, प्राक्तनात् विशुद्धतराध्यवसायरूपेण तेन ग्रन्थेर्भेदकरणात्, सम्यग्दर्शनलाभाभिमुखस्य तृतीयम्, उक्तं च—"करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टिमेव भवाणं। इयरेसिं पढमं चिय भन्नइ करणं तु परिणामो ॥ १ ॥ जा गंठी ता पढमं गंठिं समइच्छतो हवइ बीयं । अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥२॥" (वि.१२०२–३) सम्यक्त्वं पुरस्कृतम्–अभिमुखं कृतं येन स सम्यक्त्वपुरस्कृतोऽभिमुखसम्यक्त्व इत्यर्थः तस्मिन् जीवे सम्प्रति करणत्रयमङ्गीकृत्य सामायिकलाभदृष्टान्तानभिधित्सुराह—

पल्लगगिरिसरिओवल-पिवीलिया-पुरिस-पह-जरग्गहिया ।
कोद्दव-जल-वत्थाणि य सामाइयलाभदिट्ठंता ॥ १०७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** सामायिक-करणे लाभ:

। ११३ ॥

इह सामायिकलाभे नव दृष्टान्ताः, तद्यथा–प्रथमः पल्यकदृष्टान्तः १ द्वितीयो गिरिसरिदुपलदृष्टान्तः २ तृतीयः पिपीलिकादृष्टान्तः ३ चतुर्थः पुरुषदृष्टान्तः ४ पञ्चमः पथदृष्टान्तः ५ षष्ठो ज्वरगृहीतदृष्टान्तः ६ सप्तमः कोद्रवदृष्टान्तः ७ अष्टमो जलदृष्टान्तः ८ नवमो वस्त्ररूपः ९ । तत्र प्रथमपल्यकदृष्टान्तभावना–पल्यको नाम लाटदेशे धान्याल्यः, तत्र यथा कश्चित् महापल्ये धान्यं स्वल्पं स्वल्पतरं प्रक्षिपति, प्रचुरं प्रचुरतरं तत आदत्ते, तत एवं ग्रहणनिक्षेपकरणे कालान्तरेण स रिक्तीभवति, एवं कर्म्मधान्यपल्ये जीवोऽनाभोगप्रवृत्तेन यथाप्रवृत्तकरणेन स्वल्पं स्वल्पतरमुपचिन्वन् प्रभूतं प्रभूततरमपचिन्वन् गच्छता कालेन ग्रन्थिमासादयति, पुनस्तं भिन्दानस्यापूर्वकरणं सम्यग्दर्शनलाभाभिमुखस्यानिवर्त्तीति, एष पल्यकदृष्टान्तः, उक्तं च–"जो पल्लेऽइमहल्ले धन्नं पक्खिवइ थोवथोवतरं। सोहेइ बहुबहुतरं झिज्जइ थोवेण कालेण ॥१॥ तह कम्मधन्नपल्ले, जीवोऽणाभोगतो बहुतरागं। सोहंतो थोवतरं, गिण्हंतो पावए गंठिं ॥२॥" (वि.१२०५–६) अत्र पर आह–नन्वेष दृष्टान्तोऽनुपपन्नो, यतः–संसारिणो योगवतः प्रतिसमयं चयापचयावुक्तौ, तत्रासंयतस्य बहुतरस्य चयोऽल्पतरस्यापचयः, अत आगमः–पल्ले महइमहल्ले, कुंभं पक्खिवइ सोहई नालिं। अस्संजए अविरए बहु बंधइ निज्जरइ थोवं ॥ १ ॥ पल्ले महइमहल्ले, कुंभं सोहेइ पक्खिवे नालिं। जे संजए पमत्ते बहुनिज्जर बंधए थोवं ॥ २ ॥ पल्ले महइमहल्ले कुंभं सोहेइ पक्खिव न किंचि। जे संजएऽपमत्ते, बहु निज्जर बंधइ न किंचि ॥ ३ ॥ (श्राव. ३५–३६–३७) ततो नाम पूर्वमसंयतस्य मिथ्यादृष्टेरतिप्रभूततरकर्म्मबन्धस्य कुतो ग्रन्थिदेशप्राप्तिसम्भवो ? यतः सम्यक्त्वावाप्तिरिति, तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्, इदं हि सूत्रं बाहुल्यमङ्गीकृत्य प्रवृत्तं, प्रायेणासंयत उक्तप्रकारेण बध्नाति, नतु सर्व एवासंयत

॥ ११३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवमेव, ततो न कश्चिद्दोषः, उक्तं च–"एयमिह ओघविसयं भणियं सबे न एवमेवत्ति । अस्संजतो य एवं पडुच्च ओसन्नभावं तु ॥ १ ॥" (श्राव. ३८) अथैतदेवं कथमवसीयते यथेदं सूत्रं बाहुल्यविषयं न पुनः सर्व एवासंयत एवमेव वर्त्तातीति, उच्यते, अन्यथा बन्धाभावप्रसङ्गात्, तथाहि–यदि सर्व एवासंयतः सूत्रोक्तप्रकारेण कर्मपुद्गलोपादानमादत्ते ततः कालान्तरे प्रतिदिवसं पुरुषसहस्रदशकेन रूप्यकपञ्चकग्रहणे एकरूप्यकमोक्षे च (ऽर्ध) दिवसत्रयमध्ये लक्षस्य व्यवच्छेद इव सर्वपुद्गलानां जीवैर्ग्रहणतोऽभावः प्राप्नोति, तदभावे च बन्धाभावः, बन्धयोग्यकर्मपुद्गलासम्भवात्, आह च–"पावइ बंधाभावो अन्नहा पोग्गलाणऽभावातो । इयवुड्ढिगहणतो ते सबे जीवेहिं जुज्जंति ॥ १ ॥" (श्राव. ३९) अथ मन्येथाः–गृहीतपुद्गलानामसङ्ख्येयकालादूर्ध्वमवश्यं मोक्षः, पुद्गलानामुत्कर्षतोऽप्यसङ्ख्येयकालस्थितिकत्वात्, ते च मुच्यमानाः प्रतिसमयं सर्वजीवेभ्योऽप्यनन्तगुणाः, ततः कथं पुद्गलानामसम्भवतो बन्धाभावप्रसङ्गः ?, उक्तं च—"मोक्खु असंखेज्जातो, कालातो ते य जं जिएहिंतो । भणियाणंतगुणा खलु न एस दोसो ततो जुत्तो ॥ १ ॥" (श्राव. ४०) तदेतदयुक्तम्, मोक्षो हि गृहीतानां कियत्कालातिक्रमे भवति, ग्रहणं त्ववश्यं प्रतिसमयं प्रतिजीवं च सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानां, ततः कथं प्राक्प्रसञ्जितदोषानवकाश इति, आह च–"गहणमणंताण न किं जायइ समएण ता कहमदोसो ?" ॥ (श्राव. ४०॥) इति, अथ ब्रुवीथाः–एवंरूपस्तावदागमो विजृम्भते 'जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ताव सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छविहबंधए वा एगविहबंधए वा, नो चेव णं अबंधए सिया' (व्याख्या. सू.) इति, तथा संसारोऽपि प्रतिसमय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥ ११४ ॥

बन्धकसत्त्वसंसृतिरूपः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते, तत आगमप्रामाण्यात्संसारदर्शनाच्च न तथा भूयसामनन्तानां पुद्गलानां ग्रहणं यथा बन्धयोग्यकर्म्मपुद्गलासम्भवतो बन्धाभावप्रसङ्ग इति, उक्तं च–"आगमसंसारातो, न तहाणंताण गहणं तु ।" (श्राव. ४१) इति, ननु यद्येवं सम्यक्त्वादेरपि प्रतिपादक आगमो वर्त्तते, "सम्मत्तंमि उ लद्धे पलियपुहुत्तेण सावतो होइ । चरणोवसमखयाणं सागर संखंतरा होंति ॥१॥ एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु । अन्नयरसेढिवज्जं एग-भवेणं च सबाइं ॥२॥"(वि.१२२२–३) तथा मोक्षोऽपि सम्यक्त्वादिगुणघातिनां कर्मपुद्गलानां सिद्ध एव, सम्यक्त्वादि-गुणानां स्वगतानां स्वसंवेदनतः परगतानां त्वनुमानतो दर्शनात्, ततो आगमतो मोक्षाच्च प्राचीनमेव सूत्रमोघविषयं किं नाभ्युपगम्यते ?, एवं ह्यनिष्टकल्पनापरिहारः पूर्वसूरिकृतव्याख्यानबहुमानं (च) तद्बहुमाने च सर्वज्ञाज्ञाराधनं, तस्मात्त-देव व्याख्यानं समीचीनमिति घटते ग्रन्थिदेशप्राप्तिरिति न कश्चिद्दोषः, उक्तं च—"आगममोक्खाउ न किंचि विसेसत्वि-सयत्तणेण सुत्तस्स । तो जाविहऽसंपत्ती न घडइ तम्हा अदोसो उ ॥ १ ॥" (श्राव.४२) इति भावितः पल्यकदृष्टान्तः, कथं पुनरनाभोगतः प्रचुरतरकर्मक्षय इति गिरिसरिदुपलदृष्टान्त उच्यते–गिरेः सरिद्गिरिसरित्तस्थामुपलाः–पाषाणा गिरि-सरिदुपलास्तद्वत्, इयमत्र भावना–यथा गिरिसरिदुपलाः परस्परसन्निकर्षेणोपयोगशून्या अपि विचित्राकृतयो जायन्ते एवं यथाप्रवृत्तकरणतो जीवास्तथाविधविचित्रकर्म्मस्थितिका विचित्रा इति यथाप्रवृत्तकरणतो ग्रन्थिदेशप्राप्तिः, उक्तं च— "गिरिनइवत्तणिपत्थरघडणोवम्मेण पढमकरणेणं । जा गंठी कम्मठिइक्खवणमणाभोगतो तस्स ॥ १ ॥ (वि.१२०७)" अधुना पिपीलिकादृष्टान्तः, पिपीलिका नाम कीटिकाः, तासां क्षितौ गमनं स्वभावतो भवति, कासांचित् स्वभावत एव

ग्रन्थिप्राप्तिसंभवः

॥ ११४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** 'सम्यक्त्व विषयक विशद विवरण

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

स्थाण्वारोहणमपरासां च सञ्जातपक्षाणां तस्मादप्युत्पतनमन्यासां स्थाणुबुध्नेऽवस्थानं कासाञ्चित् स्थाणुबुध्नात् प्रत्यवसर्प्पणम्, एवमिह जीवानां कीटिकानां क्षितौ स्वभावगमनमिव यथाप्रवृत्तकरणं, स्थाण्वारोहणसदृशमप्राप्तपूर्वत्वादपूर्वकरणं, ततः कीलकादुत्पतनमिव जीवानामनिवर्त्तिकरणम्, अनिवर्त्तिकरणबलेन मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादुत्प्लुत्य सम्यग्दृष्टिगुणस्थानगमनात्, स्थाणुबुध्नावस्थानसदृशं ग्रन्थावस्थानं, स्थाणुबुध्नादवसर्पणसदृशं ग्रन्थिदेशात्पुनर्व्यावर्त्तनेन दीर्घकर्म्मस्थितिकरणम्, उक्तं च–"खितिसाहावियगमणं, थाणूसरणं ततो समुप्पयणं । ठाणं थाणुसिरे वा ओरुहणं वा मुइंगाणं ॥ १ ॥ अत्र 'थाणुसिरे वा' इति स्थाणुबुध्ने इति द्रष्टव्यं, बुध्नप्रदेश एव भूतलसम्बद्धो निमग्नस्थाणुप्रदेशापेक्षया शिर इव शिरो विवक्षितम्, "खितिगमणंपिव पढमं थाणूसरणं व करणमप्पुव्वं । उप्पयणंपिव तत्तो, जीवाणं करणमनियट्टी ॥ २ ॥ थाणुव गंठिदेसो गंठियसत्तस्स तत्थऽवत्थाणं । ओयरणंपिव तत्तो पुणोवि कम्मट्ठितिविवड्ढी ॥ ३ ॥" (वि०१२०८-१०) अत्र 'थाणुव' इति स्थाणुवुध्नमिवेत्यर्थः । सम्प्रति पुरुषदृष्टान्तः–यथा केचन त्रयः पुरुषाः महानगरयियासव महाटवीं प्रपन्नाः सुदीर्घमध्वानमतिक्रामन्तः कालातिपातभीरवो भयस्थानमाढौकमानाः शीघ्रतरगतयो गच्छन्तः पुरस्तादुभयतः समुत्खातकरवालपाणी द्वौ तस्करावालोक्य तेषामेकः प्रतीपमनुप्रयातः अपरस्तु ताभ्यामेव गृहीतः अन्यस्तु तौ द्वाप्यतिक्रम्येष्टं नगरमनुप्राप्त इत्येष दृष्टान्तः, अयमुपनयः–इह संसाराटव्यां पुरुषास्त्रयः संसारिणः कल्प्यन्ते, पन्थाः कर्म्मस्थितिरतिदीर्घा, भयस्थानं ग्रन्थिदेशः, द्वौ तस्करौ रागद्वेषौ, तत्र प्रतीपगामी यो यथाप्रवृत्तिकरणेन ग्रन्थिदेशमासाद्य पुनरनिष्टपरिणामः सन् कर्मस्थितिमुत्कृष्टामासादयति, तस्करद्वयावरुद्धः प्रबलरागद्वेषोदयो ग्रन्थिकसत्त्वः, अभिलषितनगरानु-

आ.सू. २०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्तोऽपूर्वकरणतो रागद्वेषचौरावपाकृत्यानिवर्त्तिकरणेनावाप्तसम्यग्दर्शनः, उक्तं च–"जह वा तिण्णि मणूसा जंतऽडविपहं सभावगमणेणं । वेलाइक्कमभीया तुरंति पत्ता य दो चोरा ॥ १ ॥ दट्ठुं मग्गतडत्थे, ते एगो मग्गतो पडिनियत्तो । बिइतो गहितो तइतो समइक्कंतो पुरं पत्तो ॥ २ ॥ अडवी भवो मणूसा जीवा कम्मट्ठिई पहो दीहो । गंठी य भयट्ठाणं राग-दोसा य दो चोरा ॥३॥ भग्गो ठिइपरिवुड्ढी, गहितो पुण गंठिओ गतो तइतो । सम्मत्तपुरं एवं जोइज्जा तिण्णि करणाणि ॥४॥" (वि.१२११-४) अत्र पर आह–ननु ग्रन्थिभेदं कृत्वा सम्यग्दर्शनमुपदेशतो लभते उतानुपदेशतः?, उच्यते, उभयथापि लभते, कथं?, पथः परिभ्रष्टपुरुषत्रयवत्, तथाहि—यथा कश्चित्पथः परिभ्रष्टपुरुष उपदेशमन्तरेणैव परिभ्रमन् स्वयं पन्था-नमासादयति, कश्चित्तु परोपदेशेन, अपरस्तु नासादयत्येव, एवमिहाप्यत्यन्तप्रनष्टसत्पथो जीवो यथाप्रवृत्तकरणतः संसारा-टव्यां परिभ्रमन् कश्चित् ग्रन्थिमासाद्यापूर्वकरणेन तमतिक्रम्यानिवर्त्तिकरणमनुप्राप्य स्वयमेव सम्यग्दर्शनादिरूपं निर्वाणपु-रपन्थानं लभते, कश्चित्परोपदेशाद्, अपरस्तु प्रतीपगामी ग्रन्थिकसत्त्वो वा नैव लभते इति । सम्प्रति ज्वरदृष्टान्तः, यथा ज्वरः कश्चित्स्वयमेवापैति कश्चिद् भेषजोपयोगेन कश्चिन्नैवापैति, एवमिहापि मिथ्यादर्शनमहाज्वरोऽपि कश्चित्स्वयमेवापैति, कश्चि-दर्हद्वचनभेषजोपयोगाद्, अपरस्तु तदौषधोपयोगेऽपि नापैति । कोद्रवदृष्टान्तः, यथा केषाञ्चित् कोद्रवाणां मदनभावः स्वयमेव कालान्तरतोऽपैति, केषाञ्चिद् गोमयादिपरिकर्म्मतोऽपरेषां तथापरिकर्म्मणायामपि नापैति, एवं मिथ्यादर्शन-भावोऽपि केषाञ्चित्स्वयमेव विनाशमुपयाति, अपरेषामुपदेशपरिकर्म्मतः, अन्येषां तु न सर्वथाऽपैति, योऽपि च स्वयमु-पदेशपरिकर्म्मणातो वाऽपैति सोऽप्यपूर्वकरणबलेन, तथाहि—स जीवोऽपूर्वकरणेन शुद्धार्धशुद्धाशुद्धमदनकोद्रवनिदर्श-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

नेन मिथ्यात्वं मिथ्यादर्शनसम्यग्मिथ्यादर्शनसम्यग्दर्शनभेदेन त्रिधा विभजते, तथा चोक्तम्–"मयणा दरनिवलिया निवलिआ य जह कोद्दवा तिविहा। तह मिच्छत्तं तिविहं परिणामवसेण सो कुणइ ॥१॥" (वि.१२२०) ततोऽनिवर्त्तिकरण-विशेषात् सम्यक्त्वं प्राप्नोति, एवं करणत्रययोगवतो भव्यस्य सम्यग्दर्शनप्राप्तिः, अभव्यस्यापि कस्यचिद्यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्यार्हदादिविभूतिसन्दर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्त्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति, न शेषसामायिक-लाभः, उक्तं च–"नासेइ सयं व परिकम्मतो व जह कोद्दवाण मयभावो। नासइ तह मिच्छमओ, सयं व परिकम्मणाए वा ॥ १ ॥ अप्पुव्वेण तिपुंजं, मिच्छत्तं कुणइ कोद्दवोवमया। अनियट्टीकरणेण उ सो सम्मद्दंसणं लहइ ॥ २ ॥ तित्थं-कराइपूयं, दट्ठुं अण्णेण वावि कज्जेणं। सुयसामाइयलंभो होज्ज अभवस्स गंथिंमि ॥३॥" (वि.१२१५-७) सम्प्रति जलदृष्टान्तः, यथाहि–जलं मलिनमर्द्धविशुद्धं शुद्धं चेति त्रिधा भवति, एवं दर्शनमपि मिथ्यादर्शनादिभेदेन अपूर्वकरणतस्त्रिधा करोति, एवं वस्त्रदृष्टान्तेऽपि भावना कार्या, आह च–"जह वेह किंचि मलिणं, दरसुद्धं सुद्धमंबु वत्थं वा। एवं परिणामवसा, करेइ सो दंसणं तिविहं॥१॥" (वि.१२२१) सम्प्रति प्रासङ्गिकमुच्यते-एवं सम्यग्दर्शनलाभोत्तरकालमवशेषकर्म्मणः पल्योपमपृथक्त्व-स्थितिपरिक्षयोत्तरकालं देशविरतिरवाप्यते, पुनः शेषायाः सङ्ख्येयेषु सागरोपमेषु स्थितेरपगतेषु सर्वविरतिः, तदनन्तरमव-शेषस्थितेरपि सङ्ख्येयेष्वेव सागरोपमेषु क्षीणेषु उपशमश्रेणिः, तदनन्तरं भूयोऽप्येवंविशिष्टस्थितेः सङ्ख्येयेषु सागरोपमेष्वपगतेषु क्षपकश्रेणिरिति, इयं च देशविरत्यादिप्राप्तिरेतावत्कालतो देवमनुष्येषूत्पद्यमानस्याप्रतिपतितस्योत्कर्षतो द्रष्टव्या, अन्यथा अन्यतरश्रेणिरहितस्य सम्यक्त्वादिगुणप्राप्तिरेकभवेनाप्यविरुद्धेति, भणितमानुषङ्गिकमिदानीं यद्दयात् सम्यक्त्वसामा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यिकादिलाभो न भवति सञ्जातो वाऽपैति तानिह आवरणरूपान् कषायान् प्रतिपादयन्नाह, यदिवा यदुक्तं 'कैवल्यश्रा-नलाभो नान्यत्र कषायक्षयादि'ति, ते कषायाः के? किंसङ्ख्याका वा? को वा कस्य सम्यक्त्वादिसामायिकस्यावरणं? को वा खलु कस्योपशमादिक्रम? इत्यमुमर्थमभिधित्सुराह-

पढमिल्लुआण उदए नियमा संजोयणाकसायाणं। सम्मद्दंसणलंभं भवसिद्धीयावि न लहंति ॥ १०८ ॥

प्रथमा एव प्रथमेल्लुकाः, देशीवचनमेतत्, यथा 'पढमेल्ला एत्थ घरे'त्यादि, तेषां प्रथमेल्लुकानाम्-अनन्तानुबन्धिनां क्रोधादीनां, तेषां प्राथम्यं सम्यक्त्वाख्यप्रथमगुणविघातित्वात् क्षपणक्रमाद्वा, उदयः-उदयावलिकाप्रविष्टानां तत्पुद्-गलानामुद्भूतसामर्थ्यता तस्मिन्नुदये, नियमेन अस्य पदस्य व्यवहितपदेन सह सम्बन्धः तं च दर्शयिष्यामः, सम्प्रति पुनः प्रथमेल्लुका एव विशेष्यन्ते, किंविशिष्टानां प्रथमेल्लुकानाम्?-कर्म्मणा तत्फलभूतेन वा संसारेण सह संयोजयन्ति जीवमिति संयोजनाः, उक्तं च-"खवणं पडुच्च पढमा पढमगुणविघाइणोत्ति से (वा) जम्हा। संजोयणा कसाया भवादिसंजो-यणातो य॥१॥" (वि.१२२६) ते च कषायाश्च संयोजनाकषायाः, 'कषाया' इति कषन्ति-परस्परं हिंसन्ति प्राणिनोऽस्मिन्निति कषः-संसारः कर्म्म वा ततः कषः-कर्म्म भवो वा तस्य आयो-लाभो येभ्यस्ते कषायाः, अथवा कषं-संसारमाययन्ति-गमय-न्तीति कषायाः, आह च-"कम्मं कसो भवो वा कसमातो सिं जतो कसाया तो। कसमाययंति व जतो गमयंति कसं कसा-यत्ति ॥ १ ॥" (वि.१२२७) तेषां प्रथमेल्लुकानां संयोजनकषायाणामुदये किम्?-नियमेन सम्यक्-अविपरीतं दर्शनं सम्यग्-दर्शनं तस्य लाभः-प्राप्तिः सम्यग्दर्शनलाभः तं, भवे सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकाः, सर्वेषामेव भवे सति सिद्धिर्भवति ततः किं

Jain Education Internat For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** कस्य कषायस्य उदये कस्य अलाभ: वर्तते?

भवग्रहणेन ?, सत्यमेतत्, केवलं भवग्रहणादिह तद्भवो गृह्यते, तद्भवसिद्धिका अपि न लभन्ते, किं पुनः परीत्तसंसारिणः अभव्या वेति ॥ उक्ताः सम्यक्त्वस्यावरणभूताः कषायाः, सम्प्रति देशविरत्यावरणभूतान् तान् प्रतिपादयति—

बीयकसायाणुदए, अपच्चक्खाणनामधेज्जाणं । सम्मद्दंसणलंभं, विरयाविरइं न उ लहंति ॥ १०९ ॥

द्वितीयाश्च ते कषायाश्च द्वितीयकषायास्तेषां, द्वितीयता देशविरतिलक्षणद्वितीयगुणविघातित्वात् क्षपणक्रमाद्वा, उदये, 'प्रत्याख्याननामधेयानां' न विद्यते देशतः सर्वतो वा प्रत्याख्यानं येषूदयप्राप्तेषु तेऽप्रत्याख्यानाः, सर्वनिषेधवाची नञ्, आह च—"सव्वं देसो व जतो, पच्चक्खाणं न जेसिमुदएणं । ते अप्पच्चक्खाणा सव्वनिसेहे मतोऽकारो ॥ १ ॥" (वि. १२३२) अप्रत्याख्यानेना इति नामधेयं येषां तेऽप्रत्याख्याननामधेयास्तेषामुदये, सम्यग्दर्शनलाभं, भव्या लभन्त इति वाक्यशेषः, अयं च वाक्यशेषो विरताविरतिविशेषकतुशब्दसंसूचितो द्रष्टव्यः, आह च—"सम्मद्दंसणलंभं, लहंति भविअत्ति वक्कसेसोऽयं । विरयाविरइविसेसणतुसद्दसंलक्खितोऽयं च ॥ १ ॥" (वि.१२३३) तथा विरमणं विरतं तथा न विरतिरविरतिर्विरतं चाविरतिश्च विरताविरतिर्देशविरतिरित्यर्थः तां नतु लभंते, तुशब्दात् सम्यग्दर्शनं तु लभंते इति भावः ॥ अथ तृतीयस्य सर्वविरतिगुणस्यावारकान् तृतीयकषायानाह—

तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं । देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति ॥ ११० ॥

सर्वविरतिलक्षणतृतीयगुणविघातित्वात् क्षपणक्रमाद्वा तृतीयास्ते च ते कषायाश्च तृतीयकषायास्तेषामुदये, किंविशिष्टानामित्याह—आवृण्वन्तीत्यावरणाः, 'कृदृहुल'मिति कर्त्तर्यनट्, प्रत्याख्यानं—सर्वविरतिलक्षणं तस्यावरणाः प्रत्याख्यानाव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥११७॥

रणाः प्रत्याख्यानावरणा इति नामधेयं येषां ते प्रत्याख्यानावरणनामधेयाः तेषां, नन्वप्रत्याख्याननामधेयानामुदये प्रत्याख्यानं नास्तीत्युक्तं, नञा प्रतिषिद्धत्वात्, इहापि चावरणशब्देन प्रत्याख्यानप्रतिषेध एवाभिधीयते, ततः क एषां प्रतिविशेषः ?, उच्यते, तत्र नञ् सर्वनिषेधवचनः, इह पुनराङ्मर्यादायामीषदर्थे वेति, ईषन्मर्यादया वाऽऽवृण्वन्तीत्यावरणास्ततः सर्वविरतिनिषेध एवायमावरणशब्दो वर्त्तते, न देशविरतिनिषेधे इति महान् विशेषः, आह च–"सव्वं पच्चक्खाणं, वरेंति ते जं न देसमेएणं । पच्चक्खाणावरणा आमज्जादीसदत्थेसु ॥ १ ॥" (वि.१२३५) देशश्च एकदेशश्च देशैकदेशौ, तत्र देशः–स्थूरप्राणातिपातादिः एकदेशस्तु–तस्यैव दृश्यवनस्पतिकायाद्यतिपातः तयोर्देशैकदेशयोर्विरतिः–निवृत्तिस्तां, लभंते इति वाक्यशेषः, अत्रापि वाक्यशेषः 'चरित्तलंभं नउ लहंती'त्यत्र तुशब्दोपदानाल्लभ्यते, यत आह–'चरित्ते'त्यादि, 'चर गतिभक्षणयोः' चरन्ति–गच्छन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं, 'खनसहलूधूवर्त्ते'रिति इत्रप्रत्ययः, चरित्रमेव चारित्रं, किमुक्तं भवति ?–अन्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्म्मसञ्चयापचयाय चरणं–सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिरूपं चारित्रमिति तस्य लाभश्चारित्रलाभस्तं न तु लभन्ते, तुशब्दात् देशैकदेशविरतिं तु लभन्ते एवेति ॥ अमुमेवार्थं सङ्गृह्य विभणिषुस्तथा चतुर्थकषायाणां यथाख्यातचारित्रादिविघातित्वं च दिदर्शयिषुराह–

मूलगुणाणं लंभं, न लहइ मूलगुणघाइणो उदए । संजलणाणं उदए न लहइ चरणं अहक्खायं ॥ १११ ॥

इह सम्यक्त्वं महाव्रतान्यणुव्रतानि च मूलभूता गुणाः मूलगुणाः, उत्तरगुणाधारा इत्यर्थः, तेषां मूलगुणानां लाभं न लभते–न प्राप्नोति, कदेत्याह–मूलगुणान् घातयितुं शीलं येषां ते मूलगुणघातिनः तेषां मूलगुणघातिनाम्–अनन्तानुब-

देशसर्वयथाख्यातचारित्रा वा १०९-१११

॥११७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्ध्यप्रत्याख्यानकषायप्रत्याख्यानावरणानां द्वादशानां कषायाणामुदये, तथा सम्-ईषत्परीषहादिसम्पाते चारित्रिणमपि ज्वलयन्तीति सञ्ज्वलनाः क्रोधादयस्तेषामुदये न लभते चरणं-चारित्रं, किं सर्वमेव ?, नेत्याह-'यथाख्यातं' यथैव तीर्थकरगणधरैराख्यातमकषायं भवति चारित्रमिति तथैव यत् तद् यथाख्यातम्, अकषायमित्यर्थः, सकषायं तु लभते एव ॥ न च यथाख्यातचारित्रमात्रोपघातिन एव सञ्ज्वलनाः, किन्तु शेषचारित्रदेशोपघातिनोऽपि, तदुदये शेषचारित्रस्यापि देशतोऽतिचारसम्भवात्, तथा चाह-

सव्वेवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति । मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥ ११२ ॥

सर्वेऽपि आलोचनादिच्छेदपर्यन्तप्रायश्चित्तशोध्या अपिशब्दात् कियन्तोऽपि अतिचरणान्यतिचाराः-चारित्रस्खलनविशेषाः सञ्ज्वलनानामेवोदयतो भवन्ति, तुशब्द एवकारार्थः, द्वादशानां पुनः कषायाणामुदयतो मूलच्छेद्यं भवति, मूलेन-अष्टमस्थानवर्त्तिना प्रायश्चित्तेन छिद्यते-अपनीयते यत् दोषजातं तत् मूलच्छेद्यम्, अशेषचारित्रोच्छेदकारीति भावः, पुनःशब्दः प्रक्रान्तार्थविशेषक एव, भवति द्वादशानामनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणानां कषायाणामुदये, अथवा मूलच्छेद्यं दोषजातं यथासम्भवतो योज्यते, तद्यथा-प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्टयोदये सर्वविरतिरूपस्य चारित्रस्य मूलच्छेद्यं-सर्वनाशरूपं दोषजातं भवति, अप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयोदये देशविरतिचारित्रस्य, अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयोदये तु सम्यक्त्वस्येति ॥ यतश्चैवमतः-

बारसविहे कसाए, खइए उवसामिए व जोगेहिं । लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच ॥ ११३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

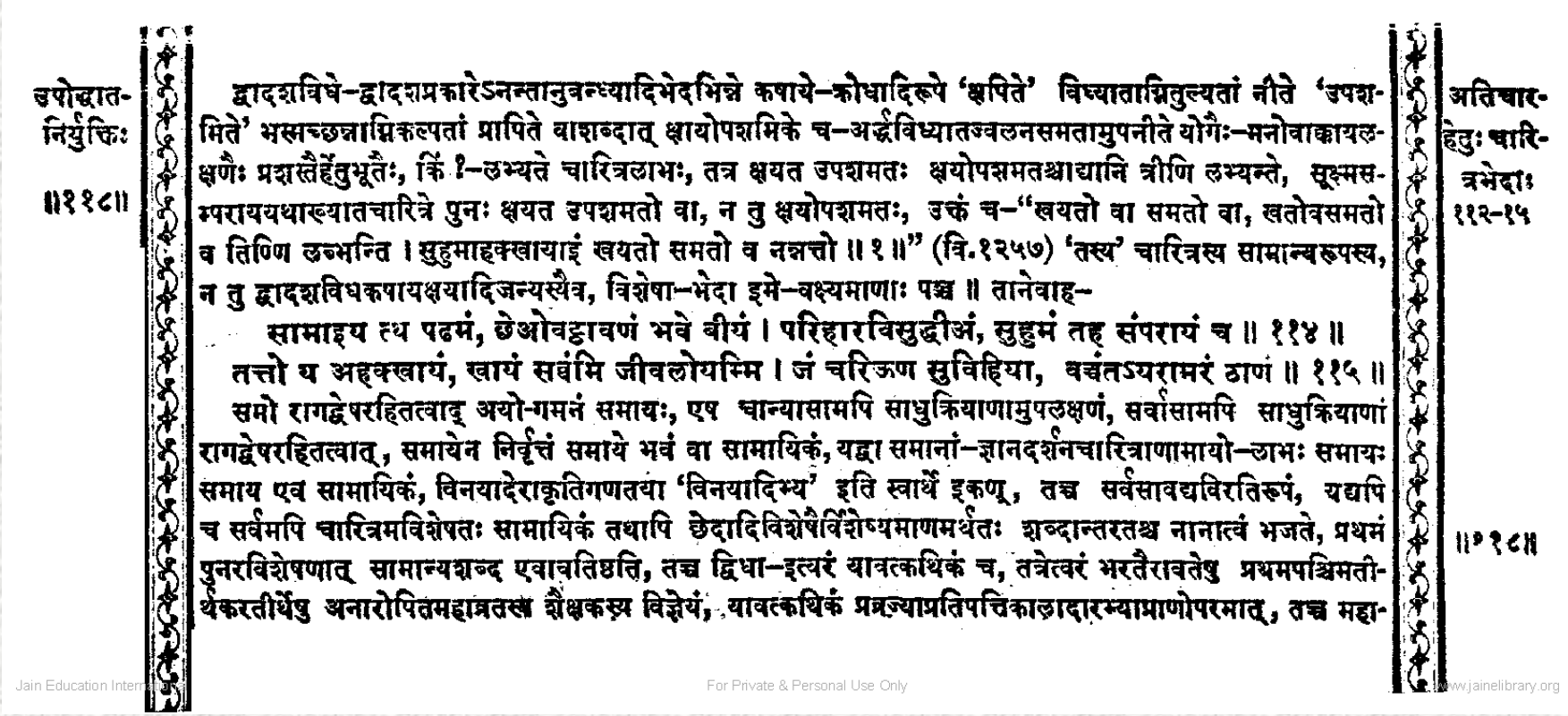

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥११८॥

द्वादशविधे-द्वादशप्रकारेऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्ने कषाये-क्रोधादिरूपे 'क्षपिते' विध्याताग्नितुल्यतां नीते 'उपशमिते' भस्मच्छन्नाग्निकल्पतां प्रापिते वाशब्दात् क्षायोपशमिके च-अर्द्धविध्यातज्वलनसमतामुपनीते योगैः-मनोवाक्कायलक्षणैः प्रशस्तैर्हेतुभूतैः, किं ?-लभ्यते चारित्रलाभः, तत्र क्षयत उपशमतः क्षयोपशमतश्चाद्यानि त्रीणि लभ्यन्ते, सूक्ष्मसम्परायययथाख्यातचारित्रे पुनः क्षयत उपशमतो वा, न तु क्षयोपशमतः, उक्तं च-"खयतो वा समतो वा, खतोवसमतो व तिण्णि लब्भन्ति । सुहुमाहक्खायाइं खयतो समतो व नन्नत्तो ॥ १ ॥" (वि.१२५७) 'तस्य' चारित्रस्य सामान्यरूपस्य, न तु द्वादशविधकषायक्षयादिजन्यस्यैव, विशेषा-भेदा इमे-वक्ष्यमाणाः पञ्च ॥ तानेवाह-

सामाइय त्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीयं । परिहारविसुद्धीअं, सुहुमं तह संपरायं च ॥ ११४ ॥
तत्तो य अहक्खायं, खायं सव्वंमि जीवलोयम्मि । जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंतऽयरामरं ठाणं ॥ ११५ ॥

समो रागद्वेषरहितत्वाद् अयो-गमनं समायः, एष चान्यासामपि साधुक्रियाणामुपलक्षणं, सर्वासामपि साधुक्रियाणां रागद्वेषरहितत्वात्, समायेन निर्वृत्तं समाये भवं वा सामायिकं, यद्वा समानां-ज्ञानदर्शनचारित्राणामायो-लाभः समायः समाय एव सामायिकं, विनयादेराकृतिगणतया 'विनयादिभ्य' इति स्वार्थे इकण्, तच्च सर्वसावद्यविरतिरूपं, यद्यपि च सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि छेदादिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते, प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते, तच्च द्विधा-इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं भरतैरावतेषु प्रथमपश्चिमतीर्थंकरतीर्थेषु अनारोपितमहाव्रतस्य शैक्षकस्य विज्ञेयं, यावत्कथिकं प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालादारभ्याप्राणोपरमात्, तच्च महा-

अतिचार-हेतुः चारित्र-भेदाः ११२-१५

॥११८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** चारित्रस्य भेदानां वर्णनं

विदेहतीर्थकरतीर्थेषु भरतैरावतभाविमध्यद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थेषु च साधूनामवसेयं, तेषामुपस्थापनाया अभावात्, उक्तं च– "सव्वमिणं सामाइय छेयाइविसेसओ पुणो भिन्नं । अविसेसिय सामाइय ठियमिह सामन्नसन्नाए ॥१॥ सावज्जजोगविरइत्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च । इत्तरमावकहंतिय पढमं पढमंतिमजिणाणं ॥२॥ तित्थेसु अणारोवियवयस्स सेहस्स थेवकालीयं । सेसाणमावकहियं तित्थेसु विदेहयाणं च ॥३॥"(वि.१२६२-४) ननु चेत्वरमपि सामायिकं 'करोमि भदन्त! सामायिकं यावज्जीव' मित्येवं यावदायुरागृहीतं, तत उपस्थापनाकाले तत्परित्यजतः कथं न प्रतिज्ञाभङ्गः?, आह च–"नणु जावज्जीवाए इत्तरियंपि गहियं मुयंतस्स । होइ पइण्णालोवो, जहावकहियं मुयंतस्स ॥१॥" (वि.१२६५) उच्यते–ननु प्रागेवोक्तं-सर्वमेवेदं चारित्रमविशेषतः सामायिकं, सर्वत्रापि सर्वसावद्ययोगविरतिसद्भावात्, केवलं छेदादिविशुद्धिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते, ततो यथा यावत्कथिकं सामायिकं छेदोपस्थापनं वा परमविशुद्धिविशेषरूपसूक्ष्मसम्परायादिचारित्रावाप्तौ न भङ्गमास्कन्दति तथेत्वरमपि सामायिकं विशुद्धिविशेषरूपच्छेदोपस्थापनावाप्तौ, यदि हि प्रव्रज्या परित्यज्यते तर्हि तद्भङ्ग आपद्यते, न तु तस्यैव विशुद्धिविशेषच्छेदोपस्थापनावाप्तौ, उक्तं च–"नणु भणियं सव्वं चिय, सामाइयमिणं विसुद्धितो भिन्नं । जावज्जविरइमइयं को वयलोवो विसुद्धीए? ॥१॥उन्निक्खमतो भंगो जो पुण तं चिय करेइ सुद्धयरं। सन्नामेत्तविसिट्ठं सुहुमंपि न तस्स को भङ्गो? ॥२॥"(वि.१२६६-७)तथा छेदोपस्थापनं भवेत् द्वितीयं,तत्र छेदः पूर्वपर्यायस्य उपस्थापना च महाव्रतेषु यस्मिन् चारित्रे तत् छेदोपस्थापनं, तच्च द्विधा–सातिचारं निरतिचारं च, तत्र निरतिचारं यत् इत्वरसामायिकवतः शैक्षस्यारोप्यते, तीर्थान्तरसङ्क्रान्तौ वा, यथा पार्श्वनाथतीर्थाद्वर्द्धमानस्वामितीर्थं सङ्क्रामतः पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ,सातिचारं यन्मूलगुण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥ ११९ ॥

घातिनः पुनर्व्रतोच्चारणं, उक्तं च—"सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा। मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे ॥ १ ॥" (वि.१२६९) 'उभयं चे'ति सातिचारं निरतिचारं च स्थितकल्पे–प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थे, तथा परिहरणं परिहारः–तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिन् चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिः, तच्च द्विधा–निर्विशमानकं निर्विष्टकायकं च, तत्र निर्विशमानका–विवक्षितचारित्रसेवका निर्विष्टकायिका–आसेवितविवक्षितचारित्रकायाः, तद्व्यतिरेकाच्चारित्रमेवमुच्यते, इह नवको गण-श्चत्वारो निर्विशमानकाश्चत्वारश्चानुचारिणः एकः कल्पस्थितो वाचनाचार्यः, यद्यपि च सर्वेऽपि श्रुतातिशयसम्पन्नास्तथापि कल्पत्वात्तेषामेकः कश्चित्कल्पस्थितोऽवस्थाप्यते, निर्विशमानकानां चायं परिहारः–"परिहारियाण उ तवो जहन्न मज्झो तहेव उक्कोसो। सीउण्हवासकाले भणितो धीरेहिं पत्तेयं ॥१॥ तत्थ जहन्नो गिम्हे चउत्थ छट्ठं तु होइ मज्झिमओ। अट्ठममिह उक्कोसो एत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥२॥ सिसिरे उ जहन्नाई, छट्ठाई दसमचरिमगो होइ। वासासु अट्ठमाई बारसपज्जंतगो नेओ ॥ ३ ॥ पारणगे आयामं, पंचसु गहु दोसऽभिग्गहो भिक्खे। कप्पट्ठियाइ पइदिण करेंति एमेव आयामं ॥ ४ ॥ एवं छम्मा-सतवं चरिउं परिहारगा अणुचरंति। अणुचरगे परिहारियपयट्ठिए जाव छम्मासा ॥५॥ कप्पट्ठितोवि एवं छम्मासतवं करेइ सेसा उ। अणुपरिहारगभावं वयंति कप्पठियत्तं वा ॥ ६ ॥ एवेसो अट्ठारसमासपमाणो उ वन्नितो कप्पो। संखेवतो विसेसो विसेससु-त्ताउ नायव्वो ॥७॥ कप्पसमत्तीएँ तयं जिणकप्पं वा उवेंति गच्छं वा। पडिवज्जमाणगा पुण, जिणस्सगासे पवज्जंति ॥ ८ ॥ तित्थ-यरसमीवासेवगस्स पासे व नो उ अन्नस्स। एएसिं जं चरणं परिहारविसुद्धियं तं तु ॥ ९ ॥" (पंचव०) अथैते परिहारविशु-द्धिकाः कस्मिन् क्षेत्रे काले वा भवन्ति ?, उच्यते, इह क्षेत्रादिनिरूपणार्थं विंशतिर्द्वाराणि, तद्यथा–क्षेत्रद्वारं १ कालद्वारं २

सामायि-कादीति

॥ ११९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रद्वारं ३ तीर्थद्वारं ४ पर्यायद्वारं ५ आगमद्वारं ६ वेदद्वारं ७ कल्पद्वारं ८ लिङ्गद्वारं ९ लेश्याद्वारं १० ध्यानद्वारं ११ गणनाद्वारं १२ अभिग्रहद्वारं १३ प्रव्रज्याद्वारं १४ मुण्डापनद्वारं १५ प्रायश्चित्तद्वारं १६ कारणद्वारं १७ निष्पतिकर्म्मताद्वारं १८ भिक्षाद्वारं १९ पथद्वारं २०, तत्र क्षेत्रे द्विधा मार्गणा–जन्मतः सद्भावतश्च, तत्र यत्र क्षेत्रे जातस्तत्र जन्मतो मार्गणा, यत्र च कल्पे स्थितो वर्त्तते तत्र सद्भावतः, उक्तं च–"खेत्ते दुहेह मग्गण जम्मणतो चेव संतिभावे य। जम्मणतो जहिं जातो संतीभावो य जहिं कप्पे ॥१॥" (पंच.१४८५) तत्र जन्मतः सद्भावतश्च पञ्चसु भरतेषु पञ्चस्वैरवतेषु, न तु महाविदेहेषु, न चैतेषां संहरणमस्ति, येन जिनकल्पिका इव संहरणतः सर्वासु कर्म्मभूमिषु अकर्मभूमिषु वा प्राप्येरन्, उक्तं च—"खेत्ते भरहेरवएसु होंति संहरणवज्जिया नियमा।"(पं.१५२९) कालद्वारेऽवसर्प्पिण्यां तृतीये चतुर्थे वा अरके जन्म सद्भावः पञ्चमेऽपि, उत्सर्प्पिण्यां द्वितीये तृतीये चतुर्थे वा जन्म, सद्भावतः पुनः तृतीये चतुर्थे वा, उक्तं च–"ओसप्पिणीए दोसुं, जम्मणतो तीसु संतिभावेणं। उसप्पिणि विवरीतो, जम्मणतो संतिभावे य॥ १॥" (पंच.१४८७) नोत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिणीरूपे चतुर्थारकप्रतिभागे काले न सम्भवन्ति, महाविदेहक्षेत्रेषु तेषामसम्भवात्, चारित्रद्वारे संयमस्थानद्वारेण मार्गणा, तत्र सामायिकस्य छेदोपस्थापनस्य च चारित्रस्य यानि जघन्यानि संयमस्थानानि तानि परस्परतुल्यानि, समानपरिणामत्वात्, ततोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संयमस्थानान्यतिक्रम्योर्ध्वं यानि संयमस्थानानि तानि परिहारविशुद्धिकयोग्यानि, तान्यपि च केवलिप्रज्ञया परिभाव्यमानान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तानि प्रथमद्वितीयचारित्राविरोधीनि, तेष्वपि सम्भवात्, ततः ऊर्ध्वं यानि सङ्क्लातीतानि संयमस्थानानि तानि सूक्ष्मसम्परायययथाख्यातचारित्रयोग्यानि,उक्तं च–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥ १२० ॥

"तुल्ला जहन्नठाणा संजमठाणाण पढमबीयाणं । तत्तो असंखलोगे गंतुं परिहारियट्ठाणा ॥ १ ॥ तेवि असंखा लोगा, अविरुद्धा चेव पढमबीयाणं । उवरिंपि ततोऽसंखा संजमठाणा उ दोण्हंपि ॥ २ ॥" (पंच.१५३०-१) तत्र परिहारविशुद्धिक-कल्पप्रतिपत्तिः स्वकीयेष्वेव संयमस्थानेषु वर्त्तमानस्य भवति, न शेषेषु, यदा त्वतीतनयमधिकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो विवक्ष्यते तदा शेषेष्वपि संयमस्थानेषु भवेत्, परिहारविशुद्धिहेतुकल्पसमाप्त्यनन्तरमन्येष्वपि चारित्रेषु सम्भवात्, तेष्वपि च वर्त्तमान-स्यातीतनयमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्नत्वाविरोधात्, उक्तं च-"सट्ठाणे पडिवत्ती अन्नेसुवि होज्ज पुवपडिवन्नो । तेसुवि नइंतो सो, तीयनयं पप्प वितीए ऊ ॥१॥" (पंच.१५३२) तीर्थद्वारे परिहारविशुद्धिको नियमात्तीर्थे प्रवर्त्तमान एव सति भवति, न तूच्छेदे नानुपपत्त्यां वा, तदभावे जातिस्मरणादिना, उक्तं च-"तित्थत्ति नियमतो च्चिय होइ स तित्थंमि न उण तदभावे । विग-एऽणुप्पन्ने वा जाइस्सरणाइएहिं तु ॥ १ ॥" (पंच.१४९१) पर्यायद्वारे पर्यायो द्विधा-गृहस्थपर्यायो यतिपर्यायश्च, एकैकोऽपि द्विधा-जघन्य उत्कृष्टश्च,तत्र गृहस्थपर्यायो जघन्य एकोनत्रिंशद्वर्षाणि यतिपर्यायो विंशतिः,द्वावपि चोत्कर्षतो देशोनपूर्वकोटी-प्रमाणौ, उक्तं च-"एयस्स एस नेओ गिहिपरियातो जहन्न गुणतीसो । जतिपरियानो वीसा दोसुवि उक्कोस देसूणा ॥१॥"(पंच. १४९४) आगमद्वारं अपूर्वमागमं स नाधीते, यस्मात्तं कल्पमधिकृत्योचितयोगाराधनत एव स कृतकृत्यतां भजते, पूर्वाधीतं तु विश्रोतसिकाक्षयनिमित्तं नित्यमेवैकाग्रमनाः सम्यक् प्रायोऽनुस्मरति, आह च-"अप्पुवं नाहिज्जइ, आगममेसो पडुच्च तं कप्पं । जमुचियपगहितजोगाराहणतो चेव कयकिच्चो ॥१॥पुवाहीयं तु तयं पायं अणुसरइ निच्चमेवेसो । एगग्गमणो सवं विस्सो-यसिगाइखयहेऊ ॥ २ ॥" (पंच.१४९५-६) वेदद्वारे-प्रवृत्तिकाले वेदः पुरुषवेदो वा भवेत् नपुंसकवेदो वा, न स्त्रीवेदः, स्त्रियां

परिहार-विशुद्धिः

॥ १२० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आव.नि.-२१

परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्त्यसम्भवाद्, अतीतनयमधिकृत्य पुनः पूर्वप्रतिपन्नश्चिन्त्यमानः सवेदो वा भवेदवेदो वा, तत्र सवेदः श्रेणिप्रतिपत्त्यभावे, उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तौ वा त्ववेद इति, उक्तं च—"वेदो पवित्तिकाले इत्थी-वज्जो य होइ एगयरो। पुवपडिवन्नगो पुण, होज्ज सवेदो अवेदो वा॥१॥ (पंचव. १४९७)" कल्पद्वारे स्थितकल्प एवायं, नास्थितकल्पे, 'ठियकप्पंमि य नियमा'इति वचनात्, तत्र 'आचेलक्कु १ देसिय २ सिज्जायर ३ रायपिंड ४ किइकम्मे ५। वय ६ जेट्ठ ७ पडिक्कमणे ८ मासं ९ पज्जोसवणकप्पे १० ॥ १ ॥' (पंच. १५००) इत्येवंरूपेषु दशसु स्थानेषु ये स्थिताः साधवस्तेषां कल्पः स्थितकल्पः, ये पुनः—"सेज्जायरपिंडंमी चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य। किइकम्मस्स य करणे चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ॥ १ ॥"। इत्येवंरूपेषु चतुर्ष्ववस्थितेषु कल्पेषु स्थिताः शेषेषु चाचेलक्यादिषु षट्सु अस्थितास्तत्कल्पो-ऽस्थितकल्पः उक्तं च—"ठिय अट्ठितो य कप्पो, आचेलक्काइएसु ठाणेसु। सवेसु ठिया पढमो चउठिय छसु अट्ठिया बीओ ॥ १ ॥" (पंच. १४९९) लिङ्गद्वारे नियमतो द्विविधेऽपि लिङ्गे भवति, तद्यथा–द्रव्यलिङ्गे भावलिङ्गे च, एकेनापि विना विवक्षितकल्पोचितसामाचार्ययोगात्, लेश्याद्वारे तेजःप्रभृतिकासु उत्तरासु तिसृषु विशुद्धासु लेश्यासु परिहारविशुद्धिकं कल्पं प्रतिपद्यन्ते, पूर्वप्रतिपन्नः पुनः कथञ्चित्सर्वास्वपि लेश्यासु भवति, तत्रापीतरासु अविशुद्धासु लेश्यासु नात्यन्तं सङ्क्लिष्टासु वर्त्तते, तथाभूतासु च तासु वर्त्तमानो न प्रभूतं कालमवतिष्ठते, किन्तु स्तोकं, यतः स्ववीर्यवशात् झटित्येव ताभ्यो व्यावर्त्तते, अथ प्रथमत एव कस्मात्प्रवर्त्तते ?, उच्यते–कर्मवशात्, उक्तं च—"लेसासु विसुद्धासु य पडिवज्जइ तीसु न उण सेसासु। पुवपडिवन्नतो पुण होज्जा [illegible]सुवि कहंचि ॥ १ ॥ नऽच्चंतसंकिलिट्ठासु थोवकालं च हंदि इयरासु। चित्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम्माण गई तहावि विरियं फलं देइ ॥ २॥" (पंच. १५०३-४) ध्यानद्वारे धर्म्मध्यानेन प्रवर्द्धमानेन परिहारिकं कल्पं प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नः पुनरार्त्तरौद्रयोरपि भवति, केवलं प्रायेण निरनुबन्धः, आह च-"झाणंमिवि नियमेणं पडिवज्जइ सो पवहमाणेणं । इयरेसुऽवि झाणेसुं पुव्वपवन्नो न पडिसिद्धो ॥ १ ॥ एवं च कुसलजोगे उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामो । रोद्दट्टेसुऽवि भावो, इमस्स पायं निरणुबन्धो ॥ २ ॥" (पंच. १५०५-६) गणनाद्वारे जघन्यतस्त्रयो गणाः प्रतिपद्यन्ते, उत्कर्षतः शतसङ्ख्याः, पूर्वप्रतिपन्ना जघन्यत उत्कर्षतो वा शतशः, पुरुषगणनया जघन्यतः प्रतिपद्यमानाः सप्तविंशतिरुत्कर्षतः सहस्रं, पूर्वप्रतिपन्नकाः पुनर्जघन्यतः शतशः उत्कर्षतः सहस्रशः, आह च—"गणतो तिन्नेव गणा जहन्न पडिवत्ति सयस उक्कोसा । उक्कोस जहन्नेणं सयसोच्चिय पुव्वपडिवन्ना ॥१॥ सत्तावीस जहन्ना, सहस्समुक्कोसतो य पडिवत्ती । सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्न जहन्न उक्कोसा ॥२॥" (पंच. १५३४-५) अन्यच्च—यदा पूर्वप्रतिपन्नकल्पमध्यादेको निर्गच्छति अन्यः प्रविशति तदोनप्रक्षेपे प्रतिपत्तौ कदाचिदेकोऽपि भवति पृथक्त्वं वा, पूर्वप्रतिपन्नोऽप्येवं भजनया कदाचिदेकः प्राप्यते पृथक्त्वं वा, उक्तं च-"पडिवज्जमाण भयणाएँ होज्ज एक्कोऽवि ऊणपक्खेवे । पुव्वपडिवन्नयावि य, भइया एक्को पुहुत्तं वा ॥ १ ॥" (पंच. १५३६) अभिग्रहद्वारे अभिग्रहाश्चतुर्विधाः, तद्यथा-द्रव्याभिग्रहाः क्षेत्राभिग्रहाः कालाभिग्रहा भावाभिग्रहाश्च, एते चान्यत्र चर्चिता इति न भूयश्चर्च्यन्ते, तत्र परिहारविशुद्धिकस्यैतेऽभिग्रहा न भवन्ति, यस्मादेतस्य कल्प एव यथोदितरूपोऽभिग्रहो वर्त्तते, उक्तं च-"दव्वाईय अभिग्गह, विचित्तरूवा न होंति पुण केई । एयस्स जाव कप्पो कप्पोच्चियऽभिग्गहो जेणं ॥ १॥ एयंमि गोयराई नियया नियमेण निरववादा य। तप्पालणं चिय परं एयस्स विसु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

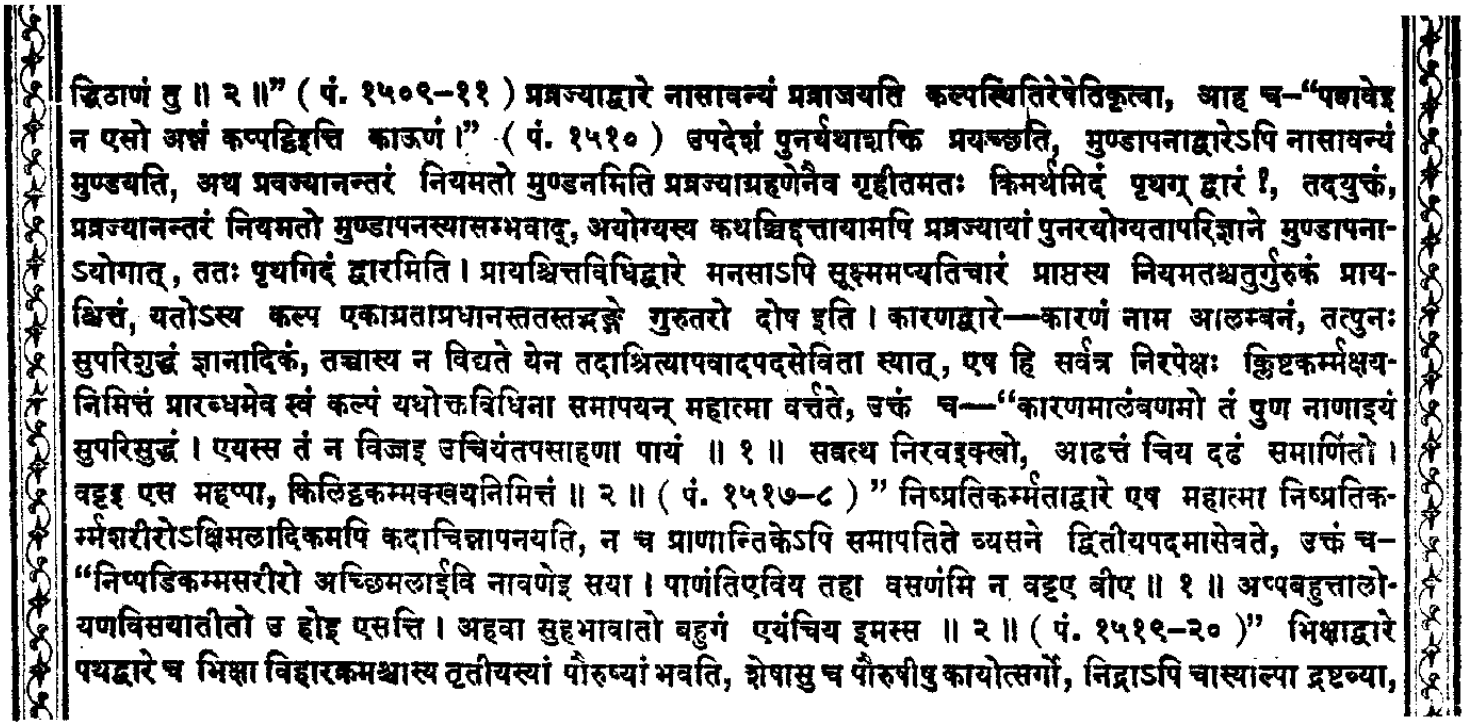

द्धिठाणं तु ॥ २ ॥" (पं. १५०९–११) प्रव्रज्याद्वारे नासावन्यं प्रव्राजयति कल्पस्थितिरेषेतिकृत्वा, आह च–"पढवेइ न एसो अन्नं कप्पट्ठिइत्ति काऊणं।" (पं. १५१०) उपदेशं पुनर्यथाशक्ति प्रयच्छति, मुण्डापनाद्वारेऽपि नासावन्यं मुण्डयति, अथ प्रवज्यानन्तरं नियमतो मुण्डनमिति प्रव्रज्याग्रहणेनैव गृहीतमतः किमर्थमिदं पृथग् द्वारं ?, तदयुक्तं, प्रव्रज्यानन्तरं नियमतो मुण्डापनस्यासम्भवाद्, अयोग्यस्य कथञ्चिद्दत्तायामपि प्रव्रज्यायां पुनरयोग्यतापरिज्ञाने मुण्डापनाऽयोगात्, ततः पृथगिदं द्वारमिति। प्रायश्चित्तविधिद्वारे मनसाऽपि सूक्ष्ममप्यतिचारं प्राप्तस्य नियमतश्चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तं, यतोऽस्य कल्प एकाग्रताप्रधानस्ततस्तद्भङ्गे गुरुतरो दोष इति। कारणद्वारे—कारणं नाम आलम्बनं, तत्पुनः सुपरिशुद्धं ज्ञानादिकं, तच्चास्य न विद्यते येन तदाश्रित्यापवादपदसेविता स्यात्, एष हि सर्वत्र निरपेक्षः क्लिष्टकर्म्मक्षयनिमित्तं प्रारब्धमेव स्वं कल्पं यथोक्तविधिना समापयन् महात्मा वर्त्तते, उक्तं च—"कारणमालंबणमो तं पुण नाणाइयं सुपरिसुद्धं। एयस्स तं न विज्जइ उचियंतपसाहणा पायं ॥ १ ॥ सव्वत्थ निरवइक्खो, आढत्तं चिय दढं समाणिंतो। वट्टइ एस महप्पा, किलिट्ठकम्मक्खयनिमित्तं ॥ २ ॥ (पं. १५१७–८)" निष्प्रतिकर्म्मताद्वारे एष महात्मा निष्प्रतिकर्म्मशरीरोऽक्षिमलादिकमपि कदाचिन्नापनयति, न च प्राणान्तिकेऽपि समापतिते व्यसने द्वितीयपदमासेवते, उक्तं च–"निप्पडिकम्मसरीरो अच्छिमलाईवि नावणेइ सया। पाणंतिएवि तहा वसणंमि न वट्टए बीए ॥ १ ॥ अप्पबहुत्तालोयणविसयातीतो उ होइ एसत्ति। अहवा सुहभावातो बहुगं एयंचिय इमस्स ॥ २ ॥ (पं. १५१९–२०)" भिक्षाद्वारे पथद्वारे च भिक्षा विहारक्रमश्चास्य तृतीयस्यां पौरुष्यां भवति, शेषासु च पौरुषीषु कायोत्सर्गो, निद्राऽपि चास्याल्पा द्रष्टव्या,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥१२२॥

यदि पुनः कथमपि जङ्घाबलमस्य परिक्षीणं भवति तथाप्येषोऽविहरन्नपि महाभागो न द्वितीयपदमापद्यते, किन्तु तत्रैव यथाकल्पमात्मीययोगं विदधातीति, उक्तं च—"तइयाए पोरिसीए भिक्खाकालो विहारकालो उ । सेसासु उ उस्सग्गो पायं अप्पा य निद्देति ॥ १ ॥ जंघाबलंमि खीणे अविहरमाणो उ न वीअमावज्जे । तत्थेव अहाकप्पं कुणइ य जोगं महाभागो ॥ २ ॥" (पं. १५२१–२) एते च परिहारविशुद्धिका द्विविधाः, तद्यथा–इत्वरा यावत्कथिकाश्च, तत्र ये कल्पसमाप्त्यनन्तरं तमेव कल्पं गच्छं वा समुपयास्यन्ति ते इत्वराः, ये पुनः कल्पसमाप्त्यनन्तरमव्यवधानेन जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते यावत्कथिकाः, उक्तं च–"इत्तरिय थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहियत्ति ।" (पं. १५२३) अत्र स्थविरकल्पमुपलक्षणं स्वकल्पे चेति द्रष्टव्यं, तत्रेत्वराणां कल्पप्रभावादेव देवमनुष्यतिर्यग्योनिककृता उपसर्गाः सद्योघातिनः आतङ्का अतीवाविषह्याश्चातीव वेदना न प्रादुष्यन्ति, यावत्कथिकानां पुनः सम्भवेयुरपि, ते हि जिनकल्पं प्रतिपत्स्यमाना जिनकल्पभावमनुविदधति, जिनकल्पिकानां चोपसर्गादयः सम्भवन्तीति, उक्तं च—"इत्तरियाणुवसग्गा आयंका वेयणा य न हवंति । आवकहियाण-भइया" इति ॥ (पं. १५२६) 'सुहुमं तह संपरायं चे'ति 'तथे'त्यानन्तर्ये गाथाभङ्गभयाद् व्यवहितस्योपन्यासः, सूक्ष्ममित्यनुस्वारोऽप्यलाक्षणिकः, सूक्ष्मसम्परायं चतुर्थं चारित्रं, तत्र संपर्येति संसारमनेनेति सम्परायः–कषायोदयः सूक्ष्मो–लोभांशावशेषः सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायं, तच्च द्विधा–विशुद्ध्यमानकं सङ्क्लिश्यमानकं च, तत्र विशुद्ध्यमानकं क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं वा समारोहतः, सङ्क्लिश्यमानकं तूपशमश्रेणितः प्रच्यवमानस्य, उक्तं च—"सेढिं विलग्गतो तं विसुज्झमाणं ततो चयंतस्स । तह संकिलिस्समाणं परिणामवसेण विन्नेयं ॥ १ ॥" (वि. १२७८)'तत्तो अ अहक्खाय'मित्यादि, ततश्च–सूक्ष्म-

सूक्ष्मसंपरायः ॥१२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्परायान्तरं 'अथाख्यातम्' अथशब्दो यथार्थे आङ् अभिविधौ यथातथ्येन अभिविधिना च यत् ख्यातं—कथितमकषायं चारित्रमिति तत् अथाख्यातं, उक्तं च—"अहसद्दो जाहऽत्थे आङभिविहीय कहियमक्खायं । चरणमकसायमुदितं तमहक्खायं जहक्खायं ॥१॥" (वि.१२७९) यथाख्यातमिति द्वितीयं नाम, तस्यायमन्वर्थः—यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं—प्रसिद्धमकषायं भवति चारित्रमिति तथैव यत् तद्यथाख्यातं, तथा चाह—ख्यातं—प्रसिद्धं सर्वस्मिन् जीवलोके, यत् कथंभूतमित्याह—यच्चरित्वा—आसेव्य शोभनं विहितम्—अनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः—सुसाधवो व्रजन्त्यजरामरं—न विद्यते जरा यत्र तदजरं न म्रियते प्राणी यत्र तदमरम्, अच्प्रत्ययो बाहुलकात्, अजरं च तदमरं च अजरामरं—मोक्षलक्षणं स्थानं, इदं च द्विधा, तद्यथा—छाद्मस्थिकं कैवलिकं च, तत्र छाद्मस्थिकमुपशान्तमोहगुणस्थाने क्षीणमोहगुणस्थानके वा, कैवलिकं सयोगिकेवलिभवं अयोगिकेवलिभवं च । इह सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातचारित्रं च उपशमक्षयलभ्यमतः कर्मोपशमक्रमप्रदर्शनार्थमाह—

अण-दंस-नपुंसि-त्थीवेय-छक्कं च पुरिसवेयं च । दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ११६ ॥

इह उपशमश्रेणिप्रारम्भको भवत्यप्रमत्तसंयत एव, अन्ये त्वविरतदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतानामन्यतम इति, उपशमश्रेणिपर्यवसाने त्वप्रमत्तसंयतप्रमत्तसंयतदेशविरताविरतानामन्यतमः, उक्तं च—"उवसामगसेढीए पट्ठवगो अप्पमत्तविरतो उ । पज्जवसाणे सो वा होइ पमत्तो अविरतो वा ॥ १ ॥ अन्ने भणंति अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं । अन्नयरो पडिवज्जइ दंसणसमणम्मि उ नियट्टी ॥२॥ (वि. १२८५-६) स चेत्थमुपशमश्रेणिमारभते—'अण'त्ति 'अणरणे'त्यादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दण्डकधातुः, अणन्तीव–अविकलहेतुत्वेनासातवेद्यं नरकाद्यायुष्कं च शब्दयन्त्याकारयन्तीत्यणाः–आद्याः क्रोधादयश्चत्वारः कषायाः, अथवा 'पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् अण' इत्यनन्तानुबन्धिन इति द्रष्टव्यं, तत्रासौ प्रतिपत्ता प्रशस्तेष्वध्यवसायेषु वर्त्तमानः प्रथमं युगपदन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण कालेनानन्तानुबन्धिनः क्रोधादीनुपशमयति, ततो दर्शनं दर्शस्तं–दर्शनं, तच्च त्रिविधं, तद्यथा—मिथ्यादर्शनं सम्यग्मिथ्यादर्शनं सम्यग्दर्शनञ्च, एतानि त्रीण्यपि युगपदन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणोपशमयति, एवं सर्वत्र युगपदुपशमकालोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण एव द्रष्टव्यः, यदि पुरुषः प्रारम्भकः ततो 'नपुंस'त्ति अनुदीर्णमपि नपुंसकवेदमन्तर्मुहूर्त्तेनोपशमयति, ततः स्त्रीवेदं, तदनन्तरं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं हास्यषट्कं, ततः पुरुषवेदम्, अथ स्त्रीप्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदमुपशमयति, पश्चात् पुरुषवेदं तदनन्तरं हास्यादिषट्कं अथ नपुंसकः प्रारम्भकस्ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदमुपशमयति ततः पुरुषं वेदं तदनन्तरं स्त्रीवेदम्, ततः हास्यादिषट्कं ततो नपुंसकवेदमिति, 'दो दो एगंतरिए' इत्यादि, इत ऊर्ध्वं द्वौ द्वौ–क्रोधादी एकान्तरितौ–संज्वलनक्रोधान्तरितौ सदृशौ–क्रोधादितया परस्परं तुल्यौ सदृशं युगपदेव प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तेनोपशमयति, एतदुक्तं भवति–अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधौ क्रोधत्वेन सदृशौ युगपदन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणोपशमयति, ततः सञ्ज्वलनक्रोधमेकाकिनमेवान्तर्मुहूर्त्तमात्रेणोपशमयति, ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानादरणमानौ युगपदेव ततः सञ्ज्वलनमानमेकाकिनमेव, ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमाये युगपत् ततः सञ्ज्वलमायामेकाकिनीं, ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभौ ततः सञ्ज्वलनलोभं, तं चोपशमयन् त्रिधा करोति, तत्र द्वौ भागौ युगपदुपशमयति, तृतीयभागं सङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, तान्यपि पृथक्पृथक्का-

॥१२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लभेदेनोपशमयति, तत एतेषां सङ्ख्येयानां खण्डानां यच्चरमं खण्डं तदसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, ततः समये समये एकैकं खण्डमुपशमयति, इह दर्शनसप्तके उपशान्तेऽपूर्वकरणोऽनिवृत्तिबादरो वाऽभिधीयते, स चानिवृत्तिबादरस्तावद् यावत् सङ्ख्येयान्तिमचरमखण्डं । ननूपशमश्रेणिप्रस्थापकोऽप्रमत्तसंयत एव 'उवसागमसेढीए पट्ठवगो अप्पमत्तविरतो य' इति वचनात्, अप्रमत्तसंयतश्च अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वानामुपशमाद् भवति, अन्यथा तेषामुदये सम्यक्त्वादिलाभायोगात्, तथा चाभिहितं प्राक्–'पढमेल्लुयाण उदये'इत्यादि, ततः कथमिदानीं तेषामुपशमो भण्यते ? इति, तदसत्, सम्यक् सिद्धान्तापरिज्ञानात्, पूर्वं हि तेषां क्षयोपशम एवासीत्, नोपशमः, इदानीं तूपशमः क्रियते । ननु क्षयोपशमोऽप्युदिते कर्मांशे क्षीणेऽनुदिते च उपशान्ते भवति, उपशमोऽपि चेत्थंभूत एव, ततः कोऽनयोः प्रतिविशेषो येनैवमुच्यते–पूर्वं क्षयोपशम आसीत् इदानीं तूपशमः क्रियते इति, उच्यते, इह क्षयोपशमे तदावारकस्य कर्मणः प्रदेशतोऽनुभवोऽस्ति, उपशमे तु स न भवतीति प्रतिविशेषः, आह च भाष्यकृत्—"वेएइ संतकम्मं खतोवसमिएसु नाणुभावं सो । उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मंपि ॥१॥" (वि. १२९३) ननु यदि सत्यपि क्षयोपशमेऽनन्तानुबन्ध्यादिकषायमिथ्यात्वानां प्रदेशतोऽनुभवोऽस्ति तर्हि कथं न सम्यक्त्वादिगुणविघात उपजायते ?, तदुदये ह्यवश्यं सम्यक्त्वादिगुणलाभः सन्नप्यपगच्छति, यथा सास्वादनसम्यग्दृष्टेरिति, नैष दोषः, प्रदेशतोऽनुभवस्य मन्दानुभावत्वात्, मन्दानुभावो ह्युदयो न स्वावार्यगुणविघातमाधातुमलं, यथा चतुर्ज्ञानिनो मतिज्ञानावरणादीनां विपाकतोऽप्युदयः, तथाहि—मतिज्ञानावरणादिकं कर्म्म ध्रुवोदयं ध्रुवोदयत्वाच्चावश्यं सर्वदा विपाकतोऽनुभवनीयं, विपाकानुभवापेक्षयैव ध्रुवोद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्वाभिधानात्, अथ च तत् सकलचतुर्ज्ञानिनो गौतमादेरिव न मत्यादिज्ञानविघातकृत् भवति, तदनुभवस्य मन्दानुभावत्वात्, तद्यदि विपाकतोऽप्यनुभूयमानं मन्दानुभावोदयत्वान्न स्वावार्यगुणविघाताय प्रभवति ततः प्रदेशतोऽनुभूयमानमनन्तानुबन्ध्यादि सुतरां न प्रभविष्यति, तदुदयस्यातीव मन्दानुभावत्वाद्, आह च भाष्यकृत्—"किह दंसणाइघातो न होइ संजोयणाइ वेदयतो ?। मंदाणुभावयाए जहाणुभावंमिवि कहंचि ॥१॥ निच्चोदिण्णंपि जहा, सगलचउण्णाणिणो तदावरणं। न विघाइ मंदयाए पएसकम्मं तहा नेयं ॥२॥" (वि. १२९७-८) इह सङ्ख्येयानि लोभखण्डानि उपशमयन् वादरसम्पराय उच्यते, चरमस्य तु सङ्ख्येयखण्डस्यासङ्ख्येयानि खण्डानि, प्रतिसमयमेकैकखण्डमुपशमन् सूक्ष्मसम्परायः ॥ तथा चाह—

लोभाणू वेयंतो जो खलु उवसामओ व खवओ वा। सो सुहुमसंपराओ अहखाया ऊणओ किंचि ॥ ११७ ॥

लोभस्य—सञ्ज्वलनलोभस्य अणून्—सङ्ख्येयतमस्य खण्डस्यासङ्ख्येयानि खण्डानि वेदयमानः—अनुभवन् उपशमकः क्षपको वा भवति, सोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत्सूक्ष्मसम्परायो भण्यते, अयं च यथाख्यातात्किञ्चिदूनः, किमुक्तं भवति ?—सूक्ष्मसम्परायावस्थामन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालमानामनुभूय उपशमकनिर्ग्रन्थो यथाख्यातचारित्री भविष्यतीति, इह यदि बद्धायुरुपशमश्रेणिप्रतिपन्नः श्रेणिमध्यगतगुणस्थानानुवर्त्ती उपशान्तमोहो वा भूत्वा कालं करोति तदा नियमेनानुत्तरसुरेषूत्पद्यते, श्रेणिप्रतिपतितस्य तु कालकरणेऽनियमः, नानामतित्वेन नानास्थानगमनात्, अथाबद्धायुस्तां प्रतिपन्नः तद्भवान्तर्मुहूर्त्तमुपशान्तमोहो भूत्वा नियमतः पुनरप्युदितकषायः कात्स्न्र्येन श्रेणिप्रतिलोममावर्त्तते, उक्तं च—"बद्धाऊ पडिवन्नो सेढिगतो वा पसंतमोहो वा। जइ कुणइ कोइ कालं वच्चइ तोऽणुत्तरसुरेसुं ॥ १ ॥ अनिबद्धाऊ होउं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पसंतमोहो मुहुत्तमेत्तद्धं । उदितकसाओ नियमा नियत्तए सेढिपडिलोमं॥ २(वि. १३०३-४) ॥ तथा च एतदेव दुरन्तं कषायसामर्थ्यमुत्कीर्त्तयन्नाह—

उवसामं उवणीया, गुणमहया जिणचरित्तसरिसंपि । पडिवायंति कसाया, किं पुण सेसे सरागत्थे? ॥ ११८॥

उपशमनमुपशमः तम् , अपिशब्दात् क्षयोपशममपि, उपनीताः, केनेत्याह—गुणैर्महान् गुणमहान् तेन गुणमहता-उपशमकेन, प्रतिपातयन्ति कषायाः संसारे, कम् ?–तमेवोपशमकं, कथम्भूतमित्याह–'जिनचारित्रसदृशमपि' जिनस्य-केवलिनश्चारित्रेण कृत्वा सदृशः–तुल्यो जिनचारित्रसदृशो, द्वयोरपि कषायोदयरहितचारित्रयुक्तत्वात् , तमेवंभूतमपि प्रतिपातयन्ति, किं पुनः शेषान् सरागस्थान् ?, तान् सुतरां प्रतिपातयन्ति, अथोपशान्ताः सन्तः कषायाः कथं स्वस्वरूपमुप-दर्शयन्ति ?, उच्यते, इह यथा भस्मच्छन्नोऽग्निः स्वरूपेणाद्यापि सत्त्वात् पवनादिसहकारिकारणान्तरमासाद्य पुनः स्वं स्वरू-पमुपदर्शयति यथा वा अङ्गनद्रुमो वनदवध्यामितोऽप्यंतः सारस्य अद्यापि सचेतनत्वाद् उदकसेकादिकारणसामग्रीमवाप्य पुनरपि अङ्कुरपुष्पपत्रप्रवालादिरूपं निजस्वरूपमुपदर्शयति एवमुपशान्ता अपि कषायाः स्वरूपेणाद्यापि सन्त इति तथाविधं किञ्चिन्निमित्तमासाद्य स्वस्वरूपं प्रकटन्ति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तान्नियमेन प्रतिपतति, उक्तं च—"दवदूमियंजणदुमो छारच्छन्नाग-णिव पच्चयतो। दावेइ जह सरूवं तह स कसातोदयो भुज्जो ॥१॥"(वि. १३०७) प्रतिपतितश्च संसारं पर्यटति, तथाहि—स तावद् तद्भव एव निर्वाणं न लभते, उत्कर्षतस्तु देशोनमर्द्धपुद्गलपरावर्त्तमपि संसारमनुभवति, उक्तं च—"तंमि भवे

Jain Education Internat For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निव्वाणं न लभइ उक्कोसतो व संसारं। पोग्गलपरियट्टद्धं, देसूणं कोइ हिंडेज्जा ॥ १ ॥" (वि. १३०८) यत एवं तीर्थकरोपदेशोऽत औपदेशिकं गाथाद्वयमाह—

जइ उवसंतकसातो लहइ अणंतं पुणोऽवि पडिवायं। न हु भे वीससियव्वं थेवेऽवि कसायसेसम्मि ॥११९॥

अणथोवं वणथोवं अग्गीथोवं कसायथोवं च। न हु भे वीससियव्वं थेवंपि हु तं बहुं होइ ॥ १२० ॥

यद्युपशान्तकषायोऽप्यनन्तं भूयोऽपि प्रतिपातं लभते ततः स्तोकेऽपि कषायशेषे 'न हु' नैव 'भे' भवद्भिर्विश्वसितव्यम्, अमुमेवार्थं सदृष्टान्तं भावयति–'अणथोव'मित्यादि, ऋणस्य स्तोकं ऋणस्तोकं व्रणस्तोकमग्निस्तोकं कषायस्तोकं च दृष्ट्वा 'न हु' नैव भवद्भिर्विश्वसितव्यं, यतः स्तोकमपि तत्–ऋणादि बहु–प्रभूतं भवति, तथा चानेकदोषसम्भवः, तथाहि–ऋणं प्रवर्द्धमानं गच्छता कालेनातिप्रभूतं सद्दासत्वमुपनयति, यथा वणिग्दुहितुः साधुभगिन्याः, व्रणश्च विसर्प्पन् अतिप्रभूतो भूत्वा स्तोककालेन मरणं, वह्निर्वातादिसामग्रीवशादतिप्रसरमधिरोहन् सर्वस्यापि ग्रामनगरादेर्दाहं, कषायाः पुनः प्रवर्द्धमाना भवमनन्तमिति, उक्तं च–"दासत्तं देइ अणं अचिरा मरणं वणो विसप्पंतो। सव्वस्स दाहमग्गी देंति कसाया भवमणंतं ॥ १ ॥" (वि. १३११) उक्तमौपशमिकं चारित्रमिदानीं क्षायिकमाह, अथवा सूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रे उपशमश्रेण्यङ्गीकरणेनोक्ते, सम्प्रति क्षपकश्रेण्यङ्गीकरणतः प्रतिपादयति—

अण–मिच्छ–मीस–सम्मं, अट्ठ नपुंसित्थिवेय–छक्कं च। पुमवेयं च खवेइ कोहाईए य संजलणे ॥ १२१ ॥

इह यः क्षपकश्रेणिप्रस्थापकः सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकाच्चोपरि वर्तमान उत्तमसंहननशुद्धध्यानाप्पिंतमना अविरत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतमः, आह च–"पडिवत्तीए अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं । अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥१॥" (वि. १३१४) केवलं यद्यप्रमत्तसंयतः पूर्ववित् ततः शुक्लध्यानोपगतः श्रेणिमारभते, शेषस्तु धर्मध्यानोपगतः, तत्र क्षपकश्रेणिमारोहन् स प्रथममनन्तानुबन्धिनश्चतुरोऽपि क्रोधादीनन्तर्मुहूर्त्तेन युगपत् क्षपयति, तदनन्तभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य मिथ्यात्वं सहैव तेन युगपत् क्षपयति, यथा ह्यतिसम्भृतो दवानलः खल्वर्द्धदग्धेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्य उभयमपि दहति, एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वादवशेषमन्यत्र प्रक्षिप्य क्षपयति, तदनन्तरं तथैव सम्यग्मिथ्यात्वं तदनन्तरमेव च सम्यक्त्वम्, इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते अनन्तानुबन्धिक्षयानन्तरं च मरणसम्भवतो व्युपरमते ततः कदाचिन्मिथ्यादर्शनोदयात् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्धीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात्, क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु न उपचिनोति, बीजाभावात्, क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषु मध्ये समुत्पद्यते, प्रतिपतितपरिणामस्तु नानागतिसम्भवात् यथापरिणामं सर्वगतिभाग् भवति, उक्तं च—"बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा । ता मिच्छत्तोदयतो चिणिज्ज भूतो न खीणंमि ॥ १ ॥ तंमि मतो जाइ दिवं तप्परिणामो य सत्तए खीणे । उवरयपरिणामो पुण पच्छा नाणामइगइओ ॥ २॥" (वि. १३१६–७) बद्धायुः कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमादधाति, आह च—"बद्धाऊ पडिवन्नो नियमा खीणंमि सत्तए ठाए ।" अत्राह–ननु यदि दर्शनत्रिकमपि क्षयमुपनीतं ततः किमसौ सम्यग्दृष्टिरुतासम्यग्दृष्टिः ?, उच्यते, सम्यग्दृष्टिः, सम्यग्दर्शनाभावे सम्यग्दृष्टित्वमनुपपन्नमिति चेत्, तदसद्, अभिप्रा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यापरिज्ञानात्, इह निमर्दनीकृतमदनकोद्रवकल्पा अपगतमिथ्यात्वभावा मिथ्यात्वपुद्गला एव यत् सम्यग्दर्शनं तदेव क्षीणं, यत्पुनरात्मपरिणतिस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं तन्न क्षीणम्, अपि च-तदतीव श्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमेन मनुष्यस्य दृष्टिरिव शुद्धजलानुगतं शुद्धं वस्त्रमिव वा जलक्षये विशुद्धतरस्वरूपं भवति, आह च—"खीणंमि दंसणतिए किं होइ ततो तिदंसणातीतो ?। भण्णइ सम्मद्दिट्ठी सम्मत्तखए कुतो सम्मं ?॥ १ ॥ निव्वलियमयणकोद्दवरूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं। खीणं न उ जो भावो सद्दहणालक्खणो तस्स ॥ २॥ सो तस्स विसुद्धयरो जायइ सम्मत्तपुग्गलक्खयए। दिट्ठिव सण्हसुद्धब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥ ३ ॥ जह सुद्धजलाणुगयं वत्थं सुद्धं जलक्खए सुतरं । सम्मत्तसुद्धपोग्गलपरिक्खए दंसणं एवं ॥४॥" (वि. १३१८–२१) यदि पुनरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यदाह—"इयरो अणुवरतो च्चिय, सयलं सेढिं समाणेइ।" तत्क्षपणक्रमश्चायं–सम्यक्त्वस्य क्षपितशेषेऽवतिष्ठमान एवाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं समकमेव क्षपयितुमारभते, एतेषु चार्द्धक्षपितेष्वन्याः षोडश प्रकृतीः क्षपयति, तत्प्रतिपादकमिदं गाथाद्वयम्-

गइआणुपुव्वि दो दो जाती नामं च जाव चउरिंदी। आयावं उज्जोयं, थावरनामं च सुहुमं च ॥ १२२ ॥
साहारमप्पजत्तं निद्दानिद्दं च पयलपयलं च। थीणं खवेइ ताहे अवसेसं जं च अट्ठण्हं ॥ १२३ ॥

गतिश्च आनुपूर्वी च गत्यानुपूर्व्यौ द्वे द्वे, तद्यथा–नरकगतिनाम नरकानुपूर्वीनाम तिर्यग्गतिनाम तिर्यगानुपूर्वीनाम, तथा जातिनाम एकेन्द्रियादिजातिनाम यावच्चतुरिन्द्रियाः, किमुक्तं भवति?–एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजा-

॥ १२६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

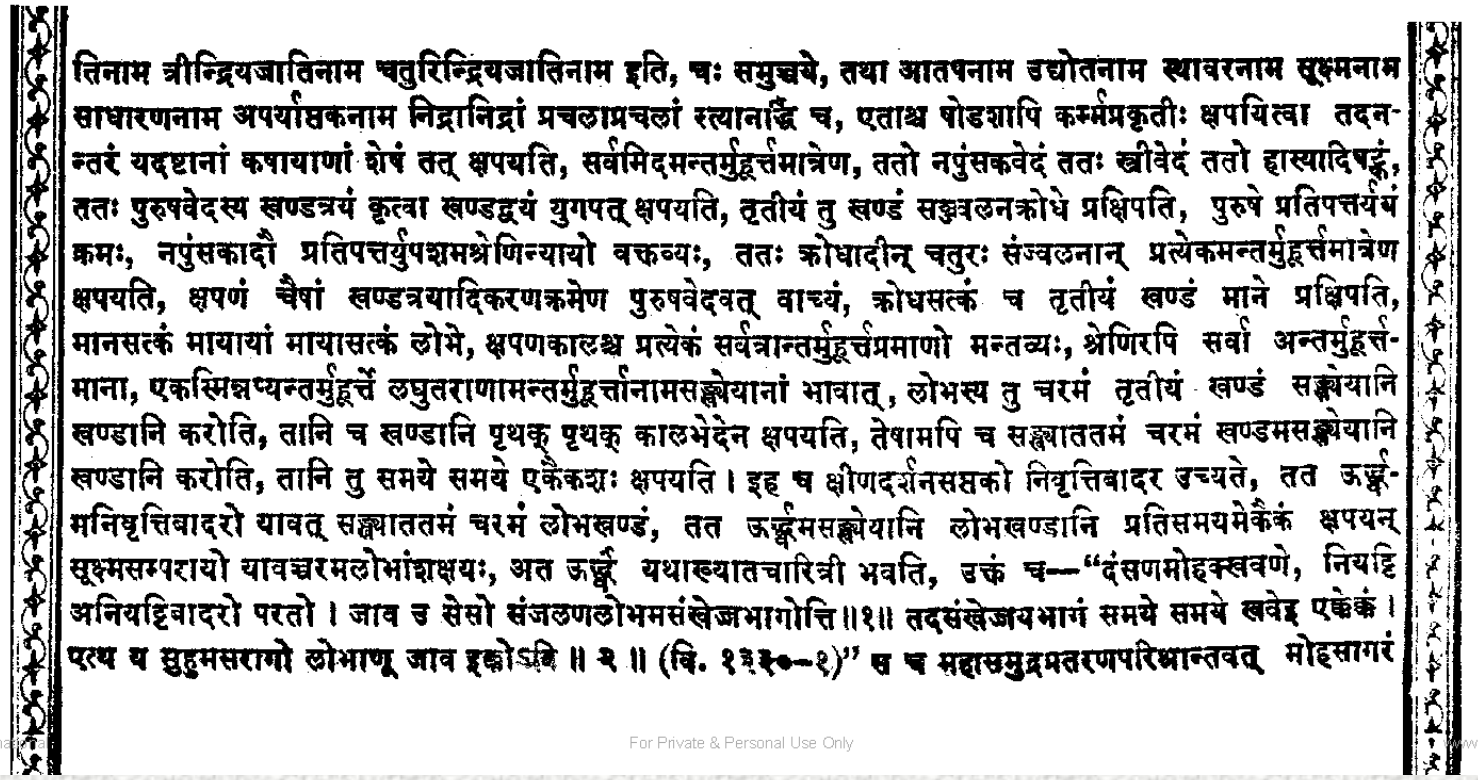

तिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम इति, चः समुच्चये, तथा आतपनाम उद्योतनाम स्थावरनाम सूक्ष्मनाम साधारणनाम अपर्याप्तकनाम निद्रानिद्रां प्रचलाप्रचलां स्त्यानर्द्धिं च, एताश्च षोडशापि कर्म्मप्रकृतीः क्षपयित्वा तदनन्तरं यदष्टानां कषायाणां शेषं तत् क्षपयति, सर्वमिदमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण, ततो नपुंसकवेदं ततः स्त्रीवेदं ततो हास्यादिषट्कं, ततः पुरुषवेदस्य खण्डत्रयं कृत्वा खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, तृतीयं तु खण्डं सञ्ज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति, पुरुषे प्रतिपत्तर्यमं क्रमः, नपुंसकादौ प्रतिपत्तुर्यपशमश्रेणिन्यायो वक्तव्यः, ततः क्रोधादीन् चतुरः संज्वलनान् प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण क्षपयति, क्षपणं चैषां खण्डत्रयादिकरणक्रमेण पुरुषवेदवत् वाच्यं, क्रोधसत्कं च तृतीयं खण्डं माने प्रक्षिपति, मानसत्कं मायायां मायासत्कं लोभे, क्षपणकालश्च प्रत्येकं सर्वत्रान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणो मन्तव्यः, श्रेणिरपि सर्वा अन्तर्मुहूर्त्तमाना, एकस्मिन्नप्यन्तर्मुहूर्त्ते लघुतराणामन्तर्मुहूर्त्तानामसङ्ख्येयानां भावात्, लोभस्य तु चरमं तृतीयं खण्डं सङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, तानि च खण्डानि पृथक् पृथक् कालभेदेन क्षपयति, तेषामपि च सङ्ख्याततमं चरमं खण्डमसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, तानि तु समये समये एकैकशः क्षपयति। इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादर उच्यते, तत ऊर्द्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावत् सङ्ख्याततमं चरमं लोभखण्डं, तत ऊर्द्ध्वमसङ्ख्येयानि लोभखण्डानि प्रतिसमयमेकैकं क्षपयन् सूक्ष्मसम्परायो यावच्चरमलोभांशक्षयः, अत ऊर्द्ध्वं यथाख्यातचारित्री भवति, उक्तं च—"दंसणमोहक्खवणे, नियट्टि अनियट्टिबादरो परतो। जाव उ सेसो संजलणलोभमसंखेज्जभागोत्ति॥१॥ तदसंखेज्जयभागं समये समये खवेइ एक्केकं। एत्थ य सुहुमसरागो लोभाणू जाव इक्कोऽवि ॥ २ ॥ (वि. १३३०–१)" स च महासमुद्रमतरणपरिश्रान्तवत् मोहसागरं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥१२७॥

तीर्त्वा अनाभोगनिर्वर्त्तितेन करणेन विश्राम्यति, ततः छद्मस्थवीतरागत्वद्विचरमसमययोः प्रथमे समये निद्राप्रचले क्षपयति चरमसमये पञ्चविधं ज्ञानावरणं चतुर्विधं दर्शनावरणं पञ्चविधमन्तरायमिति चतुर्दश प्रकृतीर्युगपत् क्षपयित्वा अनन्तरसमये केवलज्ञानं केवलदर्शनं चोत्पादयति, आह च चूर्णिकृत्–"जं संखेज्जइमं लोभस्स खंडं तं असंखेज्जे भागे करेइ, तेवि कमेण खवेइ, तत्थ खवओ सुहुमसंपराओ, जाहे तंपि खविअं होइ ताहे खवगनियंठो लब्भइ, इत्थंतरा वीसमइ अणाभोगनिवत्तिएणं करणोवाएणं, जहा कोइ महासमुद्दं तरिऊण जाहे अणेण थाहो लद्धो हवइ ताहे अंतोमुहुत्तं अच्छिऊण सेसं तरइ, एवं सो अणेगभवसंचियं कम्मं खविऊण ताहे मुहुत्तंतरं आसत्थो, एत्थंतरे जाव अच्छइ ताहे नियंठो लब्भइ जाव दोहिं समएहिं सेसेहिं केवलनाणं उप्पज्जिस्सइत्ति ताहे जो एगो समओ तत्थ निद्दं पयलं च खवेइ, जो चरमसमयो तत्थ पंचविहं नाणावरणिज्जं चउव्विहं दरिसणावरणिज्जं पंचविहमंतरायं एताओ चउद्दस कम्मपगडीओ जुगवं खवित्ता अणंतं केवलनाणं दंसणं उप्पाडेइ" इति, भाष्यकारोऽप्याह–"खीणे खवगनियंठो, वीसमए मोहसागरं तरिउं । अंतोमुहुत्तमुदहिं, तरिउं थाहे जहा पुरिसो ॥ १ ॥ छउमत्थकालदुचरमसमए निद्दं खवेइ पयलं च । चरमे केवललाभो, खीणावरणंतरायस्स ॥ २ ॥ (वि. १३३२–३)" इह चरमे समये क्षीणावरणान्तरायस्य–क्षीणज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकस्यानन्तरसमये केवललाभ इति प्रतिपत्तव्यम्, अन्ये त्वेवमभिदधति–द्विचरमे समये क्षीणमोहो निद्रां प्रचलां च क्षपयति, नाम्नश्चेमाः प्रकृतीस्तद्यथा— देवगतिदेवानुपूर्व्यौ वैक्रियद्विकं प्रथमवर्जानि पञ्च संहननानि उदितवर्जानि पञ्च संस्थानानि आहारकनाम तीर्थकर-

क्षपक-श्रेणिः

॥१२७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम च यद्यस्यातीर्थकरः प्रतिपत्ता इति, अत्रार्थे च तन्मतेन तिस्रोऽन्यकर्तृका इमा गाथाः—"वीसमिऊण नियंठो दोहि उ समएहिं केवले सेसे। पढमं निद्दं पयलं नामस्स इमाउ पयडीतो ॥ १ ॥ देवगइआणुपुवी वेउव्वियसंघयणपढमवज्जाइं। अन्नयरं संठाणं तित्थयराहारनामं च ॥ २ ॥ चरमे नाणावरणं पंचविहं दंसणं चउविकप्पं । पंचविहमंतरायं खवइत्ता केवली होइ ॥ ३ ॥" एतच्च मतमसमीचीनं, चूर्णिकृतो भाष्यकृतः सर्वेषां च कर्मग्रन्थकाराणामसम्मतत्वात्, केवलं वृत्तिकृता केनाप्यभिप्रायेण लिखितमिति, सूत्रेऽप्येता गाथाः प्रवाहपतिताः, निर्युक्तिकारकृतास्त्वेता न भवन्ति, चूर्णौ भाष्ये चाग्रहणादिति, उत्पन्नकेवलज्ञानकेवलदर्शनश्च भगवान् सर्वं वस्तु जानाति ॥ तथा चाह निर्युक्तिकारः—

संभिन्नं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं । तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ १२४ ॥

सम्—एकीभावेन भिन्नं सम्भिन्नं, यथा बहिस्तथा मध्येऽपीत्यर्थः, अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं सर्वमपि ज्ञेयं विषयत्वेन दर्शनीयं, तत्र सम्भिन्नमिति द्रव्यं विशेष्यं सूचितं, कालभावौ तद्विशेषकौ, कालभावौ हि द्रव्यस्य पर्यायौ, तताभ्यां सनन्तात्भिन्नं द्रव्यमिति सम्भिन्नग्रहणेन त्रितयमपि सूचितम्, एतत्पश्यन्—उपलभमानो लोकं—धर्माद्याधारभूतं क्षेत्रमलोकं च—तद्विपरीतं क्षेत्रम्, अनेन क्षेत्रं प्रतिपादितम्, एतावदेव चतुर्विधं ज्ञेयं, नान्यदिति, किमेकया दिशा पश्यन्नित्याह—सर्वतः—सर्वासु दिक्षु, तास्वपि किं कियदपि द्रव्यादि उत नेत्याह—'सर्वं' निरवशेषं, अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

१ निर्युक्तीनां सर्वासां चूर्ण्यादावग्रहात् न युक्तमिदं, क्षपकोपशमकते प्रकृते मोहमाश्रित्येति न नामविचारश्चूर्ण्यादौ, मतभेदस्तु नासंभवीति ता गाथा वृत्तौ व्याख्याताः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥१२८॥

तन्नास्ति किमपि ज्ञेयं भूतम्–अतीतं भवतीति भव्यं–वर्त्तमानं भविष्यच्च यन्न पश्यति केवलीति, इत्थं तावदुपोद्घात-निर्युक्तौ प्रसूतायां प्रसङ्गतो यदुक्तम् ' तपोनियमज्ञानवृक्षमारूढः केवली'ति अयमसौ केवली निदर्शितः, एतस्मात् सामायिकादिश्रुतमाचार्यपारम्पर्येणायातम्, एतस्माच्च जिनप्रवचनप्रसूतिरित्यादि, सर्वं प्रासङ्गिकं निर्युक्तिसमुत्थानप्रसङ्गे-नोक्तं, साम्प्रतमपिच केयं जिनप्रवचनोत्पत्तिः? कियदभिधानं चेदं जिनप्रवचनं? को वाऽस्याभिधानविभाग? इत्येतत् प्रासङ्गिकशेषं शेषद्वारसंग्रहं चाभिधित्सुराह—

जिणपवयणउप्पत्ती पवयणएगट्ठिया विभागो य। दारविही य नयविही वक्खाणविही य अणुओगो॥ १२५॥

इह जिनप्रवचनोत्पत्तिः प्रवचनैकार्थिकानि एकार्थिकविभागश्चेति त्रितयमपि प्रसङ्गशेषं, द्वाराणि–उद्देशनिर्देशादीनि तेषां विधिः–प्ररूपणं द्वारविधिः, अयमुपोद्घातोऽभिधीयते, नयविधिस्तूपक्रमादीनां मूलानुयोगद्वाराणां चतुर्थमनुयो-गद्वारं, तथा व्याख्यानस्य विधिर्व्याख्यानविधिः–शिष्याचार्यपरीक्षाभिधानम्, अनुयोगः–सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः सूत्रानुग-मश्चेति समुदायार्थः। आह–चतुर्थमनुयोगद्वारं नयविधिमभिधाय पुनस्तृतीयानुयोगद्वाराख्यानुयोगाभिधानं किमर्थम्?, उच्यते, नयानुगमयोः सहचरभावप्रदर्शनार्थं, तथाहि–नयानुगमौ प्रतिसूत्रं युगपदनुगच्छतः, नयमतशून्यस्यानुगमस्या-भावात्, यदि युगपन्नयानुगमौ गच्छतस्तर्ह्येतदुपन्यासोऽपि युगपदेवास्तु, किमर्थमनुयोगद्वारचतुष्टयोपन्यासे नयानामन्ते उपन्यासः?, उच्यते, युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्, आह च मूलटीकाकृत्–"अनुयोगद्वारचतुष्टयोपन्यासे तु नया-नामन्तेऽभिधानं युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्"दिति। अपरस्त्वाह–चतुरनुयोगद्वारात्मकं शास्त्रं, ततश्चतुरनुयोगद्वारातिरिक्तस्य

केवलस्व-रूपं प्रवच-नोत्पत्त्या-दि१२४-५

॥१२८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्यानविधेरुपन्यासो निरर्थकः, तदयुक्तम्, अनुगमाङ्गतया निरर्थकत्वायोगात्, अनुगमाङ्गता च व्याख्याङ्गत्वादिति, तत्र जिनप्रवचनोत्पत्तिर्निर्युक्तिसमुत्थानप्रसङ्गतोऽभिहिता, अर्हद्वचनत्वात् प्रवचनस्य, आह च 'सुयमिह जिणप्पवयणं तस्सुप्पत्ती पसंगतोऽभिहिया' इति ॥ सम्प्रति प्रवचनैकार्थिकानि तद्विभागं च प्रतिपादयन्नाह-(ग्रन्थाग्रं ५०००)

एगट्ठियाणि तिन्नि उ पवयण सुत्तं तहेव अत्थो य । एक्कस्स य एत्तो नामा एगट्ठिया पंच ॥ १२६ ॥

एकोऽर्थो येषां तान्येकार्थिकानि त्रीण्येव, कानि पुनस्तानीत्यत आह-प्रवचनम्-उक्तशब्दार्थं सूचनात्सूत्रं अर्यते इत्यर्थः-अभिधेयं, चः समुच्चये, अत ऊर्ध्वं एकैकस्य-प्रवचनस्य सूत्रस्य अर्थस्य च नामान्येकार्थिकानि पञ्च, इह प्रवचनं सामान्यं श्रुतज्ञानं, सूत्रार्थौ तु तद्विशेषौ, उक्तं च-"जमिह पगयं पसत्थं पहाणवयणं च पवयणं तं च । सामन्नं सुयनाणं विसेसतो सुत्तमत्थो य ॥ १ ॥ (वि. १३६७)" आह-सूत्रार्थयोः प्रवचनेन सहैकार्थता युक्ता, तयोस्तद्विषयत्वात्, सूत्रार्थौ च परस्परविभिन्नौ, तथाहि-सूत्रं व्याख्येयमर्थस्तु तद्व्याख्यानमिति, अथवा त्रयाणामप्येषां भिन्नार्थतैव युक्त्युपपन्ना, प्रत्येकमेकार्थिकविभागसद्भावात्, घटपटशकटवद्, अन्यथा एकार्थतायां सत्यां भेदेनैकार्थिकाभिधानमयुक्तं, घटकुम्भयोरिवेति, अत्रोच्यते, इह यथा मुकुलविकसितयोः पद्मविशेषयोः सङ्कोचविकाशरूपपर्यायभेदेऽपि कमलसामान्यरूपत्वेनाभेदः तथा सूत्रार्थयोरपि प्रवचनापेक्षया परस्परतश्चाभेदः, तथाहि-अविवृतं मुकुलतुल्यं सूत्रं, तदेव विवृतं प्रबोधितं विकचकल्पमर्थः, प्रवचनं तूभयमपि, यथा च तेषां कमलसङ्कोचविकाशानामेकार्थिकविभाग उपलभ्यते, कमलमरविन्दं पङ्कजमित्यादि पद्मैकार्थिकानि तथा मुकुलं वृतं सङ्कुचितमित्यादीनि मुकुलैकार्थिकानि तथा विकचं फुल्लं विबुद्धमित्यादीनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्तिः

विकसितैकार्थिकानि, तथा प्रवचनसूत्रार्थानामपि पद्ममुकुलविकसितकल्पानामेकार्थिकविभागो न विरुद्ध इति, अथवा अन्यथा व्याख्यायते–एकार्थिकानि त्रीण्येवाश्रित्य वक्तव्यानि, तद्यथा—प्रवचनमेकार्थिकगोचरस्तथा सूत्रमर्थश्च, शेषं पूर्ववत्, आह–यद्येवं द्वारगाथायां यदुक्तं प्रवचनैकार्थिकानि इति तद् व्याहन्यते, सूत्रार्थयोरप्येकार्थिकाभिधानात्, नैष दोषः, प्रवचनस्य सामान्यविशेषरूपतया सूत्रार्थयोरपि प्रवचनविशेषरूपत्वेन प्रवचनत्वोपपत्तेः, आह—यद्येवं तर्हि विभागश्चेति पृथग्द्वाराभिधानमनर्थकं, तदसम्यक्, विभागश्चेति किमुक्तं भवति ?–नाविशेषेण सामान्यविशेषरूपस्य प्रवचनस्य पञ्चदशैकार्थिकानीति, किं तर्हि ?–विभागश्च वक्तव्यः, विशेषगोचराभिधानपर्यायाणां सामान्यगोचराभिधान-पर्यायत्वानुपपत्तेः, नहि चूतसहकारादयो वृक्षादिशब्दपर्याया भवन्ति, लोके तथा व्यवहाराभावादिति ॥ तत्र प्रवचनसू-त्रयोस्तावत् पञ्च पञ्च एकार्थिकान्याह—

सुयधम्म तित्थ मग्गो पावयणं पवयणं च एगट्ठा । सुत्तं तंतं गंथो पाढो सत्थं च एगट्ठा ॥ १२७ ॥

श्रुतस्य धर्मः–स्वभावः श्रुतधर्मः, श्रुतस्य बोधस्वभावात् श्रुतस्य धर्मो बोधो बोद्धव्यः, अथवा श्रुतं च तत् धर्मश्च सुगतिधारणात् श्रुतधर्म्मः, यदिवा जीवपर्यायत्वात् श्रुतस्य श्रुतं च तत् धर्म्मः श्रुतधर्म्मः, उक्तं च—"बोहो सुयस्स धम्मो, सुयं व धम्मो स जीवपज्जातो। सुगईए संजमंमि य धरणातो वा सुयं धम्मो ॥१॥" (वि. १३७९) तथा तीर्यते संसारस-मुद्रोऽनेनेति तीर्थं, तच्च सङ्घ इत्युक्तम्, इह तु तदुपयोगानन्यत्वात् प्रवचनं तीर्थमुच्यते, आह च—"तित्थंति पुव्वभणियं, संघो जो नाणचरणसंघातो। इह पवयणंपि तित्थं, तत्तोऽणत्थंतरं जेण ॥ १॥" (वि. १३८०) तथा मृज्यते–शोध्यतेऽनेनात्मा इति

॥१२९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

मार्गः मार्गणं वा मार्गः, शिवस्यान्वेषणमिति भावः, उक्तं च—"मज्जिज्जइ सोहिज्जइ, जेणत्ता पवयणं तओ मग्गो। अहवा सिवस्स मग्गो, मग्गणमन्नेसणं पंथो ॥१॥"(वि.१३८१)इति, तथा प्रगतमभिविधिना जीवादिषु पदार्थेषु वचनं प्रावचनं,प्रवचनमुक्तशब्दार्थम्, उक्तानि पञ्च प्रवचनैकार्थिकानि, सम्प्रति पञ्च सूत्रैकार्थिकान्याह–'सुत्त'मित्यादि, सूचनात् सूत्रं, तन्यतेऽनेन अस्मादस्मिन्निति वा तन्त्रं ग्रथ्यतेऽनेन अस्मादस्मिन्निति वा अर्थ इति ग्रन्थः, ग्रथ्यते इति वा ग्रन्थः, पठनं पाठः पठ्यते वा तदिति पाठः, पठ्यते–व्यक्तं क्रियतेऽनेन अस्मादस्मिन्नभिधेयमिति वा पाठः, तथा शिष्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वा ज्ञेयमात्मा वा इति शास्त्रम्, एकार्थिकानीति पुनरभिधानं सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद्भेदख्यापनार्थमिति । अथ अर्थैकार्थिकानि वक्तव्यानि, तत्र अर्थो व्याख्यानमनुयोग इत्यनर्थान्तरम्, अतोऽनुयोगैकार्थिकानि विभणिषुराह—

अणुओगो य निओगो, भास विभासा य वत्तियं चेव। एए अणुओगस्स उ, नामा एगट्ठिया पंच ॥ १२८ ॥

सूत्रस्यार्थेन सहानुकूलं योजनमनुयोगः अथवाऽभिधेये व्यापारः सूत्रस्य योगः अनुकूलोऽनुरूपो वा योगोऽनुयोगः, यथा घटशब्देन घटस्य प्रतिपादनमिति, उक्तं च—"अनुयोजणमणुजोगो सुयस्स नियएण जमभिधेएणं । वावारो वा जोगो, जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥१॥"(वि. १३८६) तथा नियतो निश्चितो वा योगः–सम्बन्धो नियोगः, यथा घटशब्देन घटस्यैव प्रतिपादनं न पटादेरिति, तथा भाषणं भाषा व्यक्तीकरणमित्यर्थः, यथा घटनात् घटः, चेष्टावानर्थो घट इति, तथा विविधा भाषा विभाषा–पर्यायशब्दैः स्वरूपकथनं यथा घटः कुटः कुम्भ इति, वार्त्तिकं त्वशेषपर्यायकथनमिति, एतान्यनुयोगस्य नामान्येकार्थिकानि पञ्च, एष गाथासमुदायार्थोऽवयवार्थं तु प्रतिद्वारं वक्ष्यति, तत्र यद्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र अनुयोगस्य वर्णनं क्रियते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥१३०॥

प्रवचनादीनामेकार्थिकाभिधानप्रक्रमस्तथाप्यनुयोगस्यानुयोगादीनामेकार्थिकानां भेदोपन्यासेनान्वाख्यानमर्थगरीयस्त्व-ख्यापनार्थम्, उक्तं च–"सुत्तहरा अत्थहरो अत्थहरा होइ तदुभयधरो उ।" इत्यादि, तत्रानुयोगाख्यप्रथमद्वारस्वरूपं व्याचिख्यासुराह–

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले वयण–भावे य । एसो अणुओगस्सा, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥ १२९ ॥

नामानुयोगो यस्य जीवादेरनुयोग इति नाम क्रियते, नाम्नो वा अनुयोगो नामानुयोगो–नामव्याख्या, यदिवा नाम्ना-ऽनुरूपो योगो नामानुयोगः, उक्तं च–"नामस्स जोऽणुयोगो, अहवा जस्साभिहाणमणुयोगो। नामेण व जो जोग्गो जोगो नामाणुजोगो सो॥ १॥" (वि. १३८९) स्थापना–अक्षनिक्षेपादिरूपा, तत्र योऽनुयोगं कुर्वन् स्थाप्यते सोऽनुयोगानुयोगवतो-रभेदोपचारात् स्थापनानुयोगः, स्थापना चासावनुयोगश्च स्थापनानुयोगः, यदिवा स्थापनाया अनुयोगो–व्याख्या स्थाप-नानुयोगः अथवा यः स्थापनाया अनुकूलो योगः–सम्बन्धः, किमुक्तं भवति ?–यस्य स्थापना स्थाप्यमाना देशकालाद्य-पेक्षया युक्ता प्रतिभासते इति स स्थापनानुयोगः, उक्तं च–"ठवणाए जोऽणुयोगोऽणुयोग इति वा ठवेज्जए जं तु। जा वेह जस्स ठवणा जोग्गा ठवणाणुजोगो सो ॥ १ ॥" द्रव्यानुयोगो द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आग-मतोऽनुयोगपदार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, नोआगमतस्त्रिधा, तद्यथा–ज्ञशरीरद्रव्या-नुयोगो भव्यशरीरद्रव्यानुयोगस्तद्व्यतिरिक्तश्च, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्रसिद्धे, तद्व्यतिरिक्तस्त्वनेकधा–द्रव्यस्य द्रव्याणां द्रव्येण द्रव्यैर्द्रव्ये द्रव्येषु वा अनुयोगो द्रव्यानुयोगः, एवं क्षेत्रादिष्वपि षड्भेदयोजना कार्या, तत्र द्रव्यस्यानुयोगो

अनुयोगे पर्यायाः निक्षेपाश्च १२८–९

॥१३०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

द्विधा, तद्यथा–जीवद्रव्यस्यानुयोगोऽजीवद्रव्यस्यानुयोगश्च, एकैकोऽपि चतुर्धा, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, उक्तं च—"दवस्स उ अणुयोगो, जीवदवस्स वा अजीवस्स। एकेकंमि य एत्तो, हवंति दवाइया चउरो॥ १॥" (वि. १३९३) तत्र द्रव्यतो जीव एकं द्रव्यं क्षेत्रतोऽसङ्खेयप्रदेशावगाढः कालतोऽनाद्यपर्यवसितः भावतोऽनन्तज्ञानानन्तदर्शनचारित्र-देशचारित्राचारित्रागुरुलघुपर्यायवान्, एष जीवद्रव्यस्य द्रव्यादिभेदाच्चतुर्द्धाऽनुयोगः, अजीवद्रव्याणि परमाण्वादीनि, तत्राजीवद्रव्यस्य द्रव्यादिभेदाच्चतुर्द्धाऽनुयोग एवं–द्रव्यतः परमाणुरेकं द्रव्यं क्षेत्रतो एकप्रदेशावगाढः कालतो जघन्ये-नैकं समयं द्वौ वा उत्कर्षतस्त्वसङ्खेया उत्सर्पिण्यवसर्पिणीर्यावत् भावतस्त्वेकरस एकवर्ण एकगन्धो द्विस्पर्श इति, एतेषां स्वस्थानेऽनन्ता रसादिपर्याया एकगुणतिक्तादिभेदेन द्रष्टव्याः, एवं द्व्यणुकादीनामपि अनन्ताणुकस्कन्धावसानानां स्वरूपं द्रष्टव्यम्। उक्तो द्रव्यस्यानुयोगः, साम्प्रतं द्रव्याणामनुयोगोऽभिधीयते, सोऽपि द्विधा–जीवद्रव्याणामजीवद्र-व्याणां च, एकैकोऽपि चतुर्धा, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र अनन्तानि जीवद्रव्याणि इति द्रव्यतः, जीवद्रव्याणि सर्वलोकापन्नानीति क्षेत्रतः, अनाद्यनिधनानि जीवद्रव्याणि इति कालतः, तथा अनन्तानि परमाण्वादी-न्यजीवद्रव्याणि इति द्रव्यतः तानि समस्तलोकाश्रितानीति क्षेत्रतः तत्तत्सामग्रीवशात् तथा २ सादिपर्यवसानानि अनाद्यनिधनानि धर्मास्तिकायादिनीति वा कालतः, भावतोऽनुयोगो जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च यथा प्रज्ञापनायां, तथा च तत्र सूत्रम्—"कइविहा णं भंते ! पज्जवा पन्नत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा–जीवपज्जवा य अजीव-पज्जवा य, जीवपज्जवा णं भंते ! किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ?, गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता, एव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥ १२१ ॥

अजीवपज्जवावि अणंता"इत्यादि, उक्तो द्रव्याणामनुयोगः, सम्प्रति द्रव्येण द्रव्यैर्वा द्रव्ये द्रव्येषु वा अनुयोगो भाव्यते, तत्र एकया खटिकया एकेन प्रलेपनैकेनाक्षादिना वा कृत्वा योऽनुयोगः क्रियते स द्रव्येणानुयोगः, यस्तु बहुभिरक्षादिभिः स द्रव्यैरनुयोगः, यस्तु द्रव्ये फलकादावुपविष्टेनानुयोगः क्रियते स द्रव्येऽनुयोगः, यस्तु बहुषु फलकेषु प्रभूतासु वा निषद्यासूपविष्टेन स द्रव्येष्वनुयोगः, तथा क्षेत्रस्यैकस्य जम्बूद्वीपादेरनुयोगो यथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः, तस्या जम्बूद्वीपलक्षणैकक्षेत्रव्याख्यानरूपत्वात्, बहूनां क्षेत्राणामनुयोगो यथा द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः, बहूनां द्वीपसमुद्राणां तया व्याख्यानात्, क्षेत्रेणानुयोगो यथा पृथिवीकायिकादिसङ्ख्याव्याख्यानं जम्बूद्वीपं प्रस्थकं कृत्वा, उक्तं च—"जंबुद्दीवपमाणा, पुढविजियाणं तु पत्थयं काउं। एवं मविज्जमाणा हवंति लोगा असंखेज्जा ॥ १ ॥" (वि. १४००) क्षेत्रैरनुयोगो यथा बहुद्वीपसमुद्रप्रमाणं प्रस्थकं कृत्वा पृथिवीकायादिसङ्ख्याभणनम्, उक्तं च—"खेत्तेहिं बहुदीवेहिं पुढविजियाणं तु पत्थयं काउं। एवं मविज्जमाणा हवंति लोगा असंखेज्जा ॥१॥" (१४०२) क्षेत्रेऽनुयोगस्तिर्यग्लोके भरतादौ वा क्षेत्रेष्वनुयोगोऽर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, कालस्यानुयोगो यथा समयस्यानुयोगद्वारेषु प्ररूपणा, कालानामनुयोगः प्रभूतानां समयावलिकादीनां प्ररूपणा, कालेनानुयोगो यथा बादरवायुकायिकानां वैक्रियशरीराणि अद्धापल्योपमस्यासङ्ख्येयभागमात्रेणापह्रियन्ते, कालैरनुयोगो यथा प्रत्युत्पन्नाश्रसकायिकाः प्रतिसमयमेकैकापहारेणापह्रियमाणा असङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते इति,कालेऽनुयोगो द्वितीयपौरुष्यां, कालेषु अनुयोगो यथा अवसर्पिण्यां तृतीयचतुर्थपञ्चमेष्वारकेषु, तद्यथा—सुषमाचरमभागे दुष्षमसुषमायां दुष्षमायां चेति, उत्सर्पिण्यां कालद्वये—दुष्षमसुषमायां सुषमदुष्षमायां । वचनस्यानुयोगो यथा इत्थम्भूत-

अनुयोग-निक्षेपाः

॥ १२१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेकवचनं द्विवचनं बहुवचनं वा, वचनानामनुयोगो यथा इत्थंभूतान्येकवचनद्विवचनबहुवचनानि, यदिवा षोडशानां वचनानामनुयोगः, तानि च षोडश वचनान्यमूनि–"लिंगतियं वयणतियं कालतियं तह परोक्ख पच्चक्खं । उवणयऽवणयचउक्कं अज्झत्थं होइ सोलसमं ॥ १ ॥ अस्या अक्षरगमनिका–लिङ्गत्रिकं इयं स्त्री अयं पुरुषः इदं नपुंसकमिति, वचनत्रिकं एकवचनं द्विवचनं बहुवचनमिति, कालत्रिकमकरोत् करोति करिष्यतीति, परोक्षवचनं यथा स इति, प्रत्यक्षवचनं यथा अयमिति, उपनयः–स्तुतिरपनयो–निन्दा तयोर्वचनचतुष्कं, यथा–रूपवती स्त्रीत्युपनयवचनं, कुरूपा स्त्रीत्यपनयवचनं, रूपवती स्त्री किन्तु कुशीलेत्युपनयापनयवचनं, कुरूपा स्त्री किन्तु सुशीलेत्यपनयोपनयवचनमिति, तथा अन्यच्चेतसि निधाय विप्रतारकबुद्ध्या अन्यद्विभणिषुरपि सहसा यच्चेतसि तदेव वक्ति यत् तत्षोडशमध्यात्मवचनं, वचनेनानुयोगो यथा कश्चिदाचार्यः साध्वादिभिरभ्यर्थित एकेनापि वचनेनानुयोगं करोति, वचनैरनुयोगो यथा स एव बहुभिर्वचनैरभ्यर्थितस्तं करोति, क्षायोपशमिके तु वचने स्थितस्यानुयोगो वचनेऽनुयोगः, वचनेष्वनुयोगो व्यक्तिविवक्षया बहुषु क्षायोपशमिकेषु वचनेषु स्थितस्य, अन्ये तु प्रतिपादयन्ति–वचनेषु नास्त्यनुयोगः, वचनस्य क्षायोपशमिकत्वेनैकतया बहुत्वासम्भवात्, भावानुयोगो द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञाता उपयुक्तः, नोआगमतो भावस्यानुयोगोऽन्यतमस्यौदयिकादेर्व्याख्यानं, भावानामनुयोगो नाम बहूनामौदयिकादीनां भावानां व्याख्यानं, भावेनानुयोगः सङ्ग्रहादीनां पञ्चानामध्यवसायानामन्यतरेणाध्यवसायेन योऽनुयोगः, सङ्ग्रहादयः पञ्चामी–'पञ्चहिं ठाणेहिं सुयं वाएज्जा, तंजहा–संगहट्ठयाए १ उवग्गहट्ठयाए २ निज्जरट्ठयाए ३ सुअपज्जवजाएणं ४ अव्वोच्छित्तीए ५'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्य स्थानाङ्गसूत्रस्यायमर्थः–कथं नु नामैते शिष्याः सूत्रार्थसङ्ग्राहकाः सम्पत्स्यन्ते इति सङ्ग्रहार्थता, कथं नु नाम गीतार्था भूत्वा वस्त्राद्युत्पादनेन गच्छस्योपग्रहकरा भविष्यन्तीत्युपग्रहार्थता, ममाप्येतान् वाचयतः कर्मनिर्जरा विपुला भविष्यतीति कर्म्मनिर्जरार्थता, तथा श्रुतपर्यवजातं–श्रुतपर्यायराशिर्ममापि वृद्धिं यास्यतीति श्रुतपर्यवजातं चतुर्थं कारणं, श्रुतस्य शिष्यप्रशिष्यपरम्परागततया अव्यवच्छित्तिर्भूयादिति पञ्चममव्यवच्छित्तिः कारणं, एतैः पञ्चभिरभिप्रायैः श्रुतं सूत्रतोऽर्थतश्च वाचयेदिति, एषामेव सङ्ग्रहादिभावानां मध्यात् द्वित्रादिभिर्भावैः सर्वैर्वाऽनुयोगं कुर्वतो भावैरनुयोगः, क्षायोपशमिके भावे स्थितस्य व्याख्यां कुर्वतो भावेऽनुयोगः, भावेषु पुनर्नास्त्यनुयोगः, क्षायोपशमिकभावस्य एकत्वात्, अथवा एकोऽपि क्षायोपशमिको भाव आचारादिशास्त्रलक्षणविषयभेदादनेकधा भिद्यते तदाऽऽचारादिशास्त्रविषयभेद-भिन्नेषु बहुषु क्षायोपशमिकेषु भावेषु बुद्ध्या व्यवस्थितस्य व्याख्यां कुर्वतो भावेष्वनुयोग इत्यप्यविरुद्धमिति, अथवा प्रतिक्षणमन्यथाऽन्यथा परिणमिते क्षायोपशमिकभावेऽपि ततः प्रतिक्षणमन्यस्मिन् अन्यस्मिन् परिणममाने क्षायोपशमिके भावेऽवस्थितस्य व्याख्यां कुर्वतो घटते भावेष्वनुयोग इति॥ अथ तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावानुयोगेषु कस्य कुत्र समावेशः ?, उच्यते, इह द्रव्ये नियमाद्भावः, पर्यायरहितस्य द्रव्यस्यासम्भवात्, द्रव्यपर्यायौ च क्षेत्रकालाविनाभाविनौ, ततो द्रव्या-नुयोगे भावानुयोगस्य कालानुयोगस्य क्षेत्रानुयोगस्य चावतारो भवति, क्षेत्रे तु द्रव्यकालभावानुयोगानां भजना, तथाहि–यदि क्षेत्रं लोकरूपं विवक्ष्यते तर्हि तत्र द्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि सन्ति कालश्च वर्त्तनादिलक्षणः समयाव-लिकादिरूपो वा भावास्तु गुरुलघवोऽगुरुलघवो वा वर्णादिरूपाश्च, ततः क्षेत्रानुयोगे लोकक्षेत्रविषये विवक्षिते द्रव्यानुयोगः

॥ १३२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालानुयोगो भावानुयोगश्च यथाविवक्षं सम्भवति, अथालोकरूपस्य क्षेत्रस्यानुयोगविवक्षा तर्हि न तत्रान्यानि द्रव्याणि सन्ति, येऽप्यगुरुलघुपर्यायास्तेऽपि प्रतीता एव, अमूर्तत्वादलोकाकाशस्य, कालश्च तत्र सन्नपि वर्त्तनादिरूपो न विवक्ष्यते, व्यवहाराभावात्, तदभावश्चानाद्यनिधनतया प्रतीतत्वात्, ततोऽलोकरूपक्षेत्रानुयोगे न द्रव्यानुयोगस्य न कालानुयोगस्य नापि भावानुयोगस्य सम्भव इति क्षेत्रानुयोगे द्रव्यकालभावानुयोगानां भजना, कालानुयोगः पुनर्द्रव्यक्षेत्रभावानुयोगेषु भजनया, कालो हि नाम द्विधा भवति–वर्त्तनादिरूपः समयावलिकादिरूपश्च, तत्र यदि वर्त्तनादिलक्षणो विवक्ष्यते ततः समस्तद्रव्यक्षेत्रभाव्यापीति द्रव्यानुयोगे क्षेत्रानुयोगे भावानुयोगे च कालानुयोगस्य सम्भवः, अथ समयावलिकादिरूपस्य विवक्षा तर्हि (स) समयक्षेत्र एव नान्यत्रेति समयक्षेत्रगतद्रव्यक्षेत्रभावानुयोगेषु तदनुयोगस्य सम्भवो, न तद्बहिर्द्रव्यक्षेत्रभावानुयोगेष्विति, उक्तं च–"दव्वे नियमा भावो न विणा ते यावि खेत्तकालेहिं । खेत्ते तिण्हवि भयणा कालो भयणाएँ तीसुंपि ॥ १ ॥" (वि. १४०८) उक्तोऽनुयोगः, एतद्विपरीतोऽननुयोगः, साम्प्रतमनुयोगाननुयोगप्रतिपादकदृष्टान्तप्रतिपादनार्थमाह—

वच्छगगोणी खुज्जा सज्झाए चेव बहिरउल्लावो । गामेल्लए य वयणे सत्तेव य होंति भावम्मि ॥ १३० ॥

इह यथा नामादिभेदात् सप्तविधोऽनुयोगो वर्णितस्तथाऽननुयोगोऽपि यथासम्भवं वर्णयितव्यः, तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्याननुयोगे तत्प्रसङ्गतो द्रव्यानुयोगे वत्सगावावुदाहरणं, क्षेत्राननुयोगानुयोगयोः कुब्जा उदाहरणं, कालाननुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायः, वचनाननुयोगानुयोगयोरुदाहरणद्वयं, तद्यथा—बधिरोल्लापो ग्रामेयकश्च, भावे तु उदाहरणानि सप्त वक्ष्यमाणानि । तत्र वत्सगोदृष्टान्तभाव[illegible] इथम्—"जइ गोदोहतो जो पाडलाए वच्छगो तं बहुलाए मुयइ बाहुलेयं वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥१३३॥

वच्छगं पाडलाए मुयइ तोऽणणुयोगो दुद्धकज्जस्स य अप्पसिद्धी, जइ पुण जो जाए तं ताए चेव मुयइ तो अणुयोगो तो दुद्धकज्जस्स य निप्फत्ती, एवमिहावि जइ जीवलक्खणेणमजीवं परूवेइ अजीवलक्खणेणं वा जीवं तो अणणुओगो भवइ, ततो वितहपरूवणेण विसंवयंतेण अत्थो विसंवयइ, अत्थेण विसंवयंतेण चरणं विसंवयइ, चरणविणासे मोक्खाभावो, मोक्खाभावे दिक्खा निरत्थिगा, अह पुण जीवलक्खणेणं जीवं परूवेइ अजीवलक्खणेणं अजीवं तो अनुयोगो, ततो कज्जसिद्धी, अविगलो अत्थावगमो होइ, ततो चरणवुड्ढी ततो मोक्खो इति, उक्तो द्रव्याननुयोगानुयोगयोर्वत्सगोदृष्टान्तः। सम्प्रति क्षेत्राननुयोगानुयोगयोः कुज्जोदाहरणं भाव्यते—पइट्ठाणे नगरे सालिवाहणो राया, सो वरिसे वरिसे भरुयच्छे नयरे नहवाहणं रायाणं रोहेइ, जाहे य वरिसारत्तो पत्तो हवइ ताहे सनगरं पइ जाइ, एवं कालो वच्चइ। अन्नया तेण रोहएण गएलएणमत्थाणमंडवियाए निट्ठूतं, तस्स य पडिग्गहधारिणी खुज्जा, सा चिंतेइ—नूणं राया जातुकामो तेण एसा अपरिभोगा संभाविया, तीसे य राउलतो जाणसालितो परिचितो, तीए तस्स सिट्ठं, सो (तेण) पए जाणगाणि पमक्खिउं पयट्टावियाणि य, तं दट्ठूण सेसतो खंधावारो पट्टितो, राया रहसि एकलो धूलादिभया गच्छिस्सामित्ति पयट्टो जाव सबो खंधावारो पट्टितो दिट्ठो, राया चिंतेइ—न मए कस्सइ कहियं, कहमेएहिं नायं?, गविट्ठं परंपरएण जाव खुज्जत्ति, ततो पुच्छिया खुज्जा, ताए तहेवमक्खायं, एत्थ खुज्जाए अपरिभोगं खेत्तं जायंति पण्णवंतीए अणुओगो, अन्नहा पुण अणणुओगो, एवं निप्पएसमेगंतनिच्चमेकमागासं पडिवज्जावंतस्स अणणुओगो, सप्पदेसाइ पुण पडिवज्जाविंतस्स अणुयोगो। कालाननुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायोदाहरणभावना—एगो साहू पादोसियं परियट्टंतो रहसेण कालं न याणइ, सम्मद्दिट्ठिगा य देवया तं

द्रव्याधनुयोगादौ दृष्टान्ताः

॥१३३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हियट्ठाए बोहेइ मिच्छदिट्ठिगाइ भएणं, सा तक्कस्स घडं भरेऊण महया महया सद्देण घोसेइ-महियं महियं विक्काइ इति, सो तीसे कण्णारोडगमसहंतो भणइ–अहो तक्कवेलत्ति, सा भणइ–जहा तुब्भं सज्झायवेला तहा ममवि तक्कवेलत्ति, ततो साहू उवउंजिऊण मिच्छादुक्कडंति भणइ, देवयाए अणुसासिओ-मा पुणोवि एवं काहिसि, मा मिच्छादिट्ठियाए छलिज्जिहिसि, तस्स अकाले सज्झायंतस्स अणणुयोगो, देवयाए कालं साहंतीए अणुयोगो । इदानीं वचनविषये बधिरोलापोदाहरणभावना—एगंमि गामे बहिरकुडुंबं परिवसइ, थेरो थेरी य ताणं पुत्तो तस्स भज्जा, सो पुत्तो हलं वाहेइ, अन्नया पंथे वच्चंतो पंथएहिं पंथे पुच्छिते भणइ—घरजायगा एए मज्झ बइल्ला, ततो खेत्तं गतो,भज्जाए तस्स भत्तमाणियं, तीसे कहेइ—जहा एए मज्झ बइल्ला सिंगिया, सा भणइ—लोणियं वा अलोणियं वा तव मायाए रद्धं, नाहं जाणामि, तीए घरे आगंतूण सासुयाए कहियं, सा कत्तंती चिट्ठइ, ततो सा भणइ—थुल्लं वा वरडं वा भवउ मे सुत्तं, थेरस्स पोत्तं होहिइ, ततो थेरो आगतो, सो किर तिलरक्खगो आसि, ततो थेरीए भणियं–जहा एवं ते वट्टू भणति, ततो मए भणियं–थुल्लं वा वरडं वा भवतु, थेरस्स पोत्तं होहिइत्ति, थेरो भणइ–पाउं ते जिएण एगंपि तिलं न खामि, एत्थ तेसिं तं वयणं अन्नहा कहंताणमणणुजोगो, तहेव कहंताणं पुण अणुजोगो, एवं जइ एगवयणं परूवियवं दुवयणं परूवेइ दुवयणे वा एगवयणं तो अणणुयोगो, अह तहेव परूवेइ तो अणुयोगो । इदानीं ग्रामेयकोदाहरणं भाव्यते–एगंमि नगरे एगा महिला, सा भत्तारे मए कट्ठाईणिवि ता विइकीयाणि, घिच्छामोत्ति ता जीवमाणी खुड्डगं पुत्तं घेत्तुं गामं गया, सो दारतो वट्टंतो मायरं पुच्छइ—कहिं मम पिया ?, तीए सिट्ठं–जहा मतो इति, ततो सो पुणो पुच्छइ–केण पगारेण सो जीवियाइतो ?, सा भणइ—ओ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लग्गाए, तो खाइं अहंपि ओलग्गामि, सा भणइ—न जाणिहिसि ओलग्गिउं, ततो पुच्छइ–कहं ओलगिज्जइ?, भणितो—विणयं करेज्जासि, केरिसो विणतो?, भणइ–जोक्कारो कायव्वो नीयं चंकमियव्वं छंदाणुवत्तिणा होयव्वं, ततो सो नगरं पहावितो, अंतरा अण्णेण वाहा मयाण गहणत्थं निलुक्का दिट्ठा, ततो सो वड्डुणं सद्देणं तेसिं जोक्कारोत्ति भणइ, तेण सद्देण मया पलाया, ततो तेहिं रुट्ठेहिं सो घेत्तुं पहतो, सब्भावो णेण कहितो, ततो तेहिं भणियं–जया एरिसं पेच्छेज्जासि तया निलुक्केतेहिं नीयं आगंतव्वं, न य उल्लविज्जइ, सणियं वा, ततो अग्गे गच्छंतेण रयगा दिट्ठा, ततो निलुक्कंतो सणियं सणियं एइ, तेसिं च रयगाणं पोत्तगा हीरंति, ते थाणं बंधिऊण रक्खंति, सो निलुक्कंतो एइ, एस चोरोत्ति तेहिं गहितो बंधितो पिट्टितो य, सब्भावे कहिते मुक्को, तेहिं भणियं–एवं भणिज्जासि–सुद्धं नीरयं निम्मलं च भवतु, ऊसं च पडउ, ततो सो नयरसंमुहं एइ, एगत्थ वीयाणि वाविज्जंति, तेण भणियं–भट्टि! सुद्धं नीरयं भवतु, ऊसो य पडउ, ततो तेहिं किमकारणवेरिओ एवं भासइत्ति गहितो बंधितो पिट्टितो य, सब्भावे कहिते मुक्को, भणितो य–एरिसे कज्जे एवं भण्णइ–बहुं एरिसं भवतु, भंडिं भरेह एयस्स, ततो पुणो नगरसम्मुहं एति, एगत्थ मडयं नीणिज्जंतं दट्ठुं भणति–बहुं एरिसं भवतु, भंडिं भरेह एयस्स, तत्थवि गहितो पिट्टितो य, सब्भावे कहिते मुक्को, भणितो य–एरिसे कज्जे एवं वुच्चइ–एरिसेणं अच्चंतवियोगो भवतु, अन्नत्थ विवाहे भणइ—अच्चंतविओगो भवउ, तत्थवि पिट्टिओ, सब्भावे कहिए मुक्को, भणितो य–एरिसे कज्जे एवं भण्णइ–निच्चं एरिसयाणि पेच्छंतया होह, सासयं च एयं हवतु, ततो गच्छंतो एगत्थ नियलबद्धं दंडियं दट्ठूण एवं भणति–निच्चं एरिसयाणि पेच्छंतया होह, सासयं च भे एयं हवउ, तत्थवि गहितो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिट्ठितो य, सब्भावे कहिते मुक्को, भणितो य–एरिसे कज्जे एवं भणिज्जासि–एयातो मे लहुं मुक्खो इवउत्ति, ततो गच्छंतो एगत्थ केइ मित्ता संघाडयं करिंते पिच्छइ, तत्थ भणइ–एयातो मे लहुं मोक्खो भवउ, तत्थवि पिट्ठिजो, सब्भावे कहिए मुक्को, गतो नगरे, तत्थ एगस्स दंडिकुलपुत्तगस्स अल्लीणो, सो सेवंतो अच्छइ, अन्नया दुब्भिक्खे तस्स कुलपुत्तस्स अंबिलल्लिया सिद्धिल्लिया, तस्स भज्जाए सो भण्णति–जाहि महाजणमज्झातो सद्दावेहि जेण भुंजइ, सीयला अपाओग्गा भविस्सइ, तेण गंतुं महायणमज्झे वड्डेणं सद्देणं भणितो—एहि एहि सीयली किर होइ अंबलल्लिया, सो लज्जितो, घरं गएण अंबाडितो, भणितो य—एरिसे कज्जे नीयमागंतूणं कण्णे कहिज्जइ, अन्नया घरं पलित्तं, तस्स भज्जाए भणितो–लहुं सद्दावेह ठक्कुरंति, ततो सो तत्थ गतो सणियं सणियं आसन्नं होऊण कण्णे कहेइ, जाव सो तत्थ गच्छा सणियं सणियं आसन्नं होऊण अक्खाउं पयट्टो ताव घरं सव्वं झामियं, तत्थवि अंबाडितो, भणितो य—एरिसे कज्जे न आगम्मइ, नवि अक्खाइज्जइ, किंतु अप्पणा चेव पाणियं वा गोमुत्तं वा आदिं काउं गोरसंपि छुब्भइ ताव जाव विज्झाइ, अन्नया तस्स दंडिपुत्तगस्स ण्हाइऊण धूवितस्स धूमो निग्गच्छइत्ति गोमुत्तं छूढं गोमुत्ताइयं च । एवं जो अन्नंमि कहियव्वे अन्नं कहेइ तो अणणुयोगो भवति, सम्मं कहेज्जमाणे अणुयोगो' इति, द्वितीयं च वचनाननुयोगानुयोगविषयमुदाहरणं वचनानुयोगस्य गरीयस्त्वख्यापनार्थम् ॥ यदुक्तम्—'सप्तैव भवन्ति भावाननुयोगानुयोगविषयाण्युदाहरणानि' तानि प्रतिपादयति—

सावगभज्जा सत्तवईए य कोंकणगदारए नउले । कमलामेला संबस्स साहसं सेणिए कोवो ॥ १३१ ॥

प्रथममुदाहरणं श्रावकभार्या १ द्वितीयं सप्तपदिकः पुरुषः २ तृतीयं कोङ्कणदारकः ३ चतुर्थं नकुलः ४ पञ्चमं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कमलामेला ५ षष्ठं शांबस्य साहसं ६ सप्तमं श्रेणिकस्य षष्ठीसप्तम्योरर्थे प्रत्यभेदात् कोपः ७। तत्र श्रावकभार्योदाहरणमिदम्—सावगेण नियभज्जाए वर्यंसिया उब्भडरूवा आभरणालंकारविभूसिया दिट्ठा, अज्झोववन्नो, एवं चिय सुमरिउं दुब्बलो भवइ, महिलाए पुच्छितो न कहेइ, निब्बंधे सिट्ठं, तीए भणियं—आणेमि, ताहे संज्ञासमए तेहिं चेव वत्थाभरणेहिं अप्पाणं नेवत्थित्ता अंधकारे अलीणा संवुत्था, पच्छा बितियदिवसे अद्धिइं पगतो वयं खंडियंति, ततो ताए भणियं—वयं न खंडियं, अहं चेवागया, साभिन्नाणं पत्तियावितो, एवं जो ससमयवत्तव्वयं परसमयवत्तव्वयं भणइ, परसमयवत्तव्वयं वा ससमयवत्तव्वयं, उदइयभावलक्खणेण उवसमियं भावं परूवेइ उवसमियभावलक्खणेण वा ओदइयं, ताहे अणणुयोगो, सम्मं परूविज्जमाणे अणुयोगो। तथा सप्तभिः पदैर्व्यवहरतीति साप्तपदिकः, तदुदाहरणमिदं—एगंमि पच्चंतगामे एगो ओलग्गयमणूसो साहुमाहणाईणं न सुणेइ,न वा समीवमल्लियइ, नावि सेज्जं देइ, मा मम धम्मं कहेहिंति, माऽहं धम्मं सोच्चा सड्ढओ होहामित्ति, अन्नया तं गामं साहुणो आगता, पडिस्सयं मग्गंति, ताहे गोट्ठिल्लएहिं सो न देइत्ति सोवि एएहिं पवंचितो होउ इति तस्स घरं दंसियं, जहा एरिसो तारिसो तुब्भ भत्तो सावगोत्ति एयस्स घरं जाह, ताहे साहूणो तं घरं गया, दिट्ठो सो, पर न चेव आढाइ, तत्थ एक्केण साहुणा भणियं—जह न चेव सो एसो, अहवा पवंचियामोत्ति, तं सोऊण तेण ते साहूणो पुच्छिता, कहियं जहा अम्ह कहियं एरिसो तारिसो वा सावगोत्ति, सो चिंतेइ-अहो अकज्जं, ममं ताव पवंचंतु, तो किं साहुणो पवंचंतित्ति, ताहे मा तेसिमसारया होउत्ति भणइ—देमि पडिस्सयं एक्काए ववत्थाए, जइ मम धम्मं न कहेह, साहूहिं भणियं—एवं होउत्ति, दिन्नं घरं, वरसारत्ते निवत्ते आपुच्छंति—अम्हे विहरामो, ताहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पयट्टा साहुणो अन्नत्थ विहरिउं, तेण अणुवइया, ततो सीमापज्जंते धम्मो कहितो, सो भणइ—भयवं! इत्थ न किंचि मूलगुणं उत्तरगुणं मज्जमहुमंसविरइं वा चेत्तुं तीरइ, पच्छा साहूहिं सत्तवइयं वयं दिन्नं, मारेउकामेणं जावइएणं कालेणं सत्त पया ओसक्किज्जंति एवइयं कालं पडिक्खिउं मारेयव्वं, संवुज्झिस्सइत्तिकाउं, गया साहुणो। अन्नया सो चोरियाए गतो, अवसउणेणं नियत्तो रत्तिं सणियं घरं एइ, तद्दिवसं च तस्स भगिणी आगतेल्लिया, सा पुरिसनेवत्थं काऊणं भाउज्जायाए समं नडपेक्खिया गया, चिरेण आगया, निद्दकंताओ तहेव एक्कंमि चेव सयणे सइयातो, इयरो य आगतो, ततो पेच्छइ, परपुरिसोत्ति असिं करिसित्ता आहणामित्ति, वयं सुमरियं, ठितो सत्तपयंतरं, एयंमि अंतरे तस्स भगिणीए बाहा भज्जाए अक्कंतिया, तीए दुक्खाविज्जंतीए भणियं—हला अवणेहि बाहातो मे सीसं, तेण सरेणं नाया—भगिणी मे एस पुरिसनेवत्थिया इति, लज्जितो जातो, अहो मए मणागेण अकज्जं न कयंति, उवणतो जहा सावगभज्जादिट्ठंते, सो संवुद्धो पवइतो। कोंकणकदारकोदाहरणमिदम्—कोंकणगविसए एक्को दारगो, तस्स माया मता, पिया से अन्नमहलियं न लहइ, सवत्तिपुत्तो अच्छइ इति, अन्नया सपुत्तगो कट्ठाणं गतो, ताहे अणेण चिंतियं—जाव एसो जीवइ ताव महिलं न लभामि, तो मारेमि एयमिति कंडं पक्खित्तं, आणत्तो—वच्च कंडं आणेहि, सो पहावितो, अन्नेण कंडेण विद्धो, चेडेण भणियं—किं तए कंडं खित्तं ?, विद्धोमित्ति, पुणोवि खित्तं, रडंतो मारितो, पुव्वमयाणंतेण विद्धोमित्ति अणणुयोगो, मारिज्जामित्ति एवं नाए अणुयोगो, अहवा सारक्खणिज्जं मारेमित्ति अणणुयोगो, सारक्खंतस्स अणुयोगो, एवं अन्नं परूवेयव्वं अन्नं परूवेंतस्स अणणुयोगो, जहाभूतं परूवेमाणस्स अणुयोगो। नकुलोदाहरणमिदम्—एगा चार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भडिया गब्भिणी जाया, अन्नावि नउलिया गब्भिणी चेव, तत्थ एगाए एव रत्तीए समगं ताओ पसूयातो, ततो चारभडीए चिंतियं–मम पुत्तस्स रमणतो भविस्सइ, तस्सवि नउलस्स पीहयं खीरं च देइ, अन्नया तीसे अविरइयाए कंडंतीए जत्थ मंचुल्लियाए सो दिक्करओ उयारितो तत्थ सप्पेण चडित्ता खइतो मतो, नउलेणं मंचुल्लियाए ओयरंतो दिट्ठो, ततो तेण खंडाखंडीकतो, ताहे सो तेण रुहिरलित्तेण तुंडेण तीसे अविरइयाए मूलं गंतूण चाडु करेइ, ताहे नायं–एएण मम पुत्तो खइतो, मुसलेण आहणित्ता मारितो, ताहे धावंती गया पुत्तस्स मूलं, जाव सप्पं खंडाखंडीकयं पासइ, ताहे दुगुणतरं अद्धिइं पगता, तीसे अविरइयाए पुव्विं अणणुयोगो पच्छा अणुओगो, एवं जो अन्नं परूवेयवं अन्नं परूवेइ तस्स अणणुयोगो, जो पुण तं चेव परूवेइ तस्स अणुयोगो। कमलामेलोदाहरणं—बारवईए बलदेवपुत्तस्स निसढस्स पुत्तो सागरचंदो रूवेणमुक्किट्ठो, सवेसिं संबाईणं इट्ठो, तत्थ य बारवतीए वत्थव्वस्स चेव अन्नस्स रण्णो कमलामेला नाम धूया, उक्किट्ठसरीरा, सा य उग्गसेणनत्तुयस्स धणदेवस्स वरेल्लिया, इतो य नारदो सागरचंदस्स घरे समागतो, अब्भुट्ठितो य सागरचंदेण, ततो उवविट्ठं समाणं सागरचंदो नारयं पुच्छइ–भयवं! दिट्ठं किंचि अच्छेरयं?, सो भणइ–आमं दिट्ठं, कहिं?, इहेव बारवतीए कमलामेला नाम दारिगा, सागरचंदो पुच्छइ–कस्सइ सा दिज्जिया?, नारदो भणइ—आमं, ततो सो भणइ–कहं मम ताए समं संपओगो हुज्जा?, नारदो न याणामित्ति भणिय गतो, सो य सागरचंदो तं सोऊण नवि आसणे नवि सयणे निइं लभइ, तं दारियं फलए लिहंतो नामं च गेण्हंतो अच्छइ, नारदोवि कमलामेलाए अंतियं गतो, ताए पुच्छितो—दिट्ठं किंचि अदिट्ठपुव्वमच्छेरयंति?, सो भणइ–दुवे दिट्ठाणि–इमेण सागर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चंदो विरूवत्तणेण धणदेवो, ततो सागरचंदे मुच्छिता धणदेवे विरत्ता, नारएण समासासिया, तेण गंतुमक्खियं सागरचंदस्स जहा तुमं सा इच्छतित्ति, ताहे सागरचंदस्स माया अन्ने य कुमारा आदन्ना–मरइ नूणं सागरचंदोत्ति, संबो आगतो जाव पेच्छइ सागरचंदं विलवमाणं ताहे अणेण पच्छतो ठाइऊण अच्छीणि दोहिवि हत्थेहिं पच्छाइयाणि, सागरचंदेण भणियं–कमलामेला इति, संबेण भणियं–नाहं कमलामेला, किंतु अहं कमलामेलो, ततो सागरचंदेण भणियं–आमं तुमं चेव ममं विमलकमलदललोललोयणिं कमलामेलं मेलेहिसि, ताहे तेहिं कुमारेहिं संबो मज्जं पायइत्ता अब्भुवगच्छावितो, विगतमदो चिंतेइ–अहो मए आलो अब्भुवगतो, इयाणिं किं सक्का काउं ?, निवहियवंति पज्जुन्नं पन्नत्तिं विज्जं पाडिहारियं मग्गइ, तेण दिन्ना, ततो कमलामेलाए विवाहदिवसे सविज्जाए पडिरूवं विउव्विऊणमवहरिया कमलामेला, रेवते उज्जाणे तीए सह विवाहं काऊणं सवे मिलिया उवललंता अच्छंति, विज्जापडिरूवंपि विवाहे वट्टमाणे अट्टट्टहासं काऊण उप्पइयं, ततो जातो खोभो, न णज्जइ केणइ हरियत्ति, नारदो पुच्छितो भणइ—रेवइए उज्जाणे दिट्ठा, केणवि विज्जाहरेण अवहरिया इति, ततो सबलवाहणो निग्गतो कण्हो, संबो विज्जाहररूवं काऊण संपलग्गो जुज्झिउं, सवे सेसा राइणो पराइया, ततो कण्हेण सद्धिं लग्गो, ततो जाहे अणेण नातो रुट्ठो तातोत्ति ततो से चलणेसु पडितो, ततो संबेण भणियं—एसा अम्हेण गवक्खेणं अप्पाणं मुयंती दिट्ठा, ततो कण्हेण उग्गसेणो अणुगमितो, पच्छा इमाणि भोगे भुंजमाणाणि विहरंति, अन्नया भयवं अरिट्ठनेमिसामी समोसरितो, ततो सागरचंदो कमलामेला य सामिसगासे धम्मं सोऊण गहियाणुव्वयाणि सावगाणि संवुत्ताणि; ततो सागरचंदो अट्ठमिचउद्दसीसु सुन्नघरेसु वा सुसाणेसु वा एगराइयं पडिमं ठाइ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धणदेवेणं एय नाऊण तंबियातो सूइतो घडावियातो, ततो सुन्नघरे पडिमं ठियस्स वीससुवि अंगुलीनहेसु अक्खोडियातो, ततो सम्ममहियासेमाणो वेयणाभिभूतो कालगतो देवो जातो, ततो विइयदिवसे गवेसंतेहिं दिट्ठो अकंदो जातो, गवेसंतेहिं सूईतो दिट्ठातो, तंबकुट्टगसगासे उवलद्धं-धणदेवेण काराविया ओ, रुसिया कुमारा धणदेवं मग्गंति, दोण्हवि बलाणं युद्धं संपलग्गं, ताहे सागरचंदो देवो अंतरे ठाऊण उवसामेइ, पच्छा कमलामेला भयवतो सगासे पवइया, एत्तियं पसंगेण भणियं, एत्थ सागरचंदस्स संबकुमारं कमलामेलं मन्नमाणस्स अणणुयोगो, नाहं कमलामेलत्ति भणिए अणुयोगो, एवं जो विवरीयं परूवेइ तस्स अणणुयोगो, जहाभावं परूवेमाणस्स अणुयोगो। संबस्स साहसमुदाहरणं-जंबवती कण्हं भणइ-एक्कावि मए पुत्तस्स अणाडिया न दिट्ठा, कण्हेण भणियं—अज्ज दाएमि, ताहे कण्हेण जंबवईए आभीरीरूवं कयं, सयं आभीरो जातो, दोवि तक्कं घेत्तुं बारवइमज्झमोइण्णाणि महियं विक्किणंति, संबेण दिट्ठाणि, आभीरी भणिया—एहि महियं किणामित्ति, सा अणुगच्छइ, आभीरो मग्गेण एइ, सो एक्किल्लयं देउलियंमि पविसेइ, सा आभीरी भणइ-नाहं पविसामि, किंतु मोल्लं देहि, जइ इच्छा तो एत्थ चेव ट्ठितो तक्कं गेण्हाहि, सो भणइ-अवस्सं पइसियव्वं, सा नेच्छइ, ताहे हत्थे लग्गो, आभीरो उद्धाइतो, संबेण समं संपलग्गो, संबो जुद्धमहिट्ठितो, आभीरो वासुदेवो जातो, इयरीवि जंबवती, ततो संबो पियरं मायरं च पासिऊण लज्जितो अंगुट्ठिं काऊण पलाइत्तो, विइयदिवसे मडुाए आणिज्जंतो खीलगं घडेइ, वासुदेवेण पुच्छितो-किं एयं घडेहिसि?, सो भणइ-जो पारियासियं बोल्लं कहेहि तस्स मुहे खोडिज्जिहिइ, एत्थ पढममणणुयोगो, नाए अणुयोगो, एवं जो विवरीयं परूवेइ तस्स अणणुयोगो, इयरस्स अणुयोगो। श्रेणिककोपोदाहरणम्—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रायगिहे नयरे सेणिको राया, चेल्लणा तस्स भज्जा, सा वद्धमाणसामिमपच्छिमतित्थयरं वंदित्ता वेयालियवेलाए माइमासे नयरं पविसइ, अंतरापहे य साहू पडिमापडिवन्नतो दिट्ठो, तीए रत्तिं सुत्तियाए किहवि हत्थो लंबितो, जया सीएण गहितो तया चेतियं, हत्थो सउडिमज्झे पवेसितो, तस्स हत्थस्स तणएण सव्वं सरीरं सीएण गहियं, पच्छा ताए भणियं—स तवस्सी किं करिस्सइ संपयं ?, पच्छा सेणिएण चिंतियं-संगारदिन्नतो कोई, रुट्ठेण पभाए अभयो भणितो—सिग्घमंतेउरं पलीवेहि, सेणिको गतो सामिसगासं, अभएणं हत्थिसाला पलीविया, सेणिको सामिं पुच्छइ—किं चेल्लणा एगपत्ती अणेगपत्ती ?, सामिणा भणियं-एगपत्ती, ताहे मा डज्झिहित्ति तुरियं निग्गतो, अभयो य निप्फिडइ, सेणिएण भणियं-पलीवियं ?, अभयो भणति-आमं, सेणितो भणइ-तुमं किं न पडितो ?, भणइ-अहं सामिमूले पवइस्सामि, किं मम अग्गिणा ?, ताहे अभएण चिंतियं-मा विणस्सिहिइ, पच्छा भणियं—न डज्झइ, सेणियस्स चेल्लणाए पुव्विं अणणुयोगो, पुच्छिए अणुयोगो, एवं विवरीयपरूवणे अणणुयोगो, जहाभावे परूविए अणुओगो, ॥ एवं तावदनुयोगः सप्रतिपक्षः प्रपञ्चेनोक्तो, नियोगोऽपि प्राक्प्रतिपादितस्वरूपमात्रः सोदाहरणोऽनुयोगवदवसेयः, साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तभाषादिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

कट्ठे पोत्थे चित्ते सिरिघरिए वोंड देसिए चेव । भासग विभासए वा वित्तीकरणे य आहरणा ॥ १३२ ॥

काष्ठ इति काष्ठविषयो दृष्टान्तः, यथा काष्ठे कश्चित् रूपकारः स्वल्पाकारमात्रं करोति, कश्चित् स्थूलावयवनिष्पत्तिं, कश्चित्पुनरशेषाङ्गोपाङ्गाद्यवयवनिष्पत्तिं, एवं काष्ठकल्पं सामायिकादिसूत्रं, तत्र भाषकः परिस्थूरमर्थमात्रमभिधत्ते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा समभावः सामायिकमिति, विभाषकस्तु तस्यैवानेकधा अर्थमभिधत्ते, यथा समभावः सामायिकं, समानां वा ज्ञानदर्शनचारित्राणां वाऽऽयः समायः समाय एव सामायिकं, स्वार्थे इकणप्रत्यय इत्यादि, तथा व्यक्तिकरणशीलो व्यक्तिकरः, यः खलु निरवशेषव्युत्पत्तिअतिचारानतिचारफलादिभेदभिन्नमर्थं भाषते स व्यक्तिकर इति भावः, स च निश्चयतः चतुर्दशपूर्वधर एव, इह भाषकादिस्वरूपान्वाख्यानात् भाषादय एव प्रतिपादिता द्रष्टव्याः, भाषादीनां तत्प्रभवत्वात्, उक्तं च–'पढमो रूवागारं थूलावयवोवदंसणं बीओ। तइतो सव्वावयवो निद्दोसो सवहा कुणइ ॥ १ ॥ कट्ठसमाणं सुत्तं तदत्थरूवेगभासणं भासा। थूलट्ठाण विभासा सव्वेसिं वत्तियं नेयं ॥ २॥ (वि.१४२६-७) सम्प्रति पुस्तविषयो दृष्टान्तः, यथा पुस्ते कश्चिदाकारमात्रं करोति, कश्चित्परिस्थूलावयवनिष्पत्तिं, कश्चित्त्वशेषावयवनिष्पत्तिमिति, दार्ष्टान्तिकयोजना प्राग्वत्। इदानीं चित्रविषयो दृष्टान्तः, यथा चित्रकर्म्मणि कश्चिद्वर्त्तिकाभिराकारमात्रं करोति, कश्चित् हरितालादिवर्णोल्लेखं, कश्चित्त्वशेषपर्यायैर्निष्पादयति, दार्ष्टान्तिकयोजना पूर्ववत्। श्रीगृहिकोदाहरणम्–श्रीगृहं–भाण्डागारं तदस्यास्तीति 'अतोऽनेकस्वरा'दिति इकप्रत्ययः, तद्दृष्टान्तभावना इयम्–कश्चिद्रत्नानां भाजनमेव वेत्ति, इह भाजने रत्नानि सन्तीति, कश्चिज्जातिमानादि, कश्चित्पुनर्गुणानपि, एवं प्रथमद्वितीयतृतीयकल्पा भाषकादयो द्रष्टव्याः। तथा 'बोण्ड'मिति पद्मं, तद्यथा ईषद्भिन्नमर्द्धभिन्नं विकसितरूपमिति त्रिधा भवति, एवं भाषाद्यपि क्रमेण योजनीयम्। इदानीं देशिकविषयमुदाहरणं, देशनं देशः—कथनमित्यर्थः सोऽस्यास्तीति देशिकः, यथा कश्चिद्देशिकः पन्थानं पृष्टः सन् दिग्मात्रमेव कथयति, कश्चित्तद्व्यवस्थितग्रामनगरादिभेदेन, कश्चित्पुनस्तदुत्थगुणदोषभेदेन कथयति, एवं भाषादयोऽपि क्रमेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

योजनीयाः । तदेवं तावद्विभाग उक्तः, सम्प्रति द्वारविधिमवसरप्राप्तमपि विहाय व्याख्यानविधिः प्रतिपाद्यते, अथ चतुरनुयोगद्वारानधिकृत एव व्याख्यानविधिस्ततः किमर्थं प्रतिपाद्यते इति ?, उच्यते, शिष्याचार्ययोः सुखश्रवणसुखव्याख्यानप्रवृत्त्या शास्त्रोपकारार्थम्, अथवा चतुरनुयोगद्वाराधिकृत एव व्याख्यानविधिः, अनुगमेऽन्तर्भावाद्, अन्तर्भावश्च व्याख्याङ्गत्वादित्यभिहितमेतत् प्रागपि, आह—यद्यसावनुगमाङ्गं ततः किमवतार्य द्वारविधेः प्राक् प्रतिपाद्यते ?, उच्यते, इह द्वारविधिरपि बहुवक्तव्यस्ततो मा भूदिहापि व्याख्यानविधिविपर्यय इत्यत्रैवाचार्यशिष्ययोर्गुणदोषाः प्रतिपाद्यन्ते, येनाचार्यो गुणवते शिष्यायानुयोगं करोति, शिष्योऽपि गुणवदाचार्यसन्निधावेव शृणोतीति, ननु यदि व्याख्यानविधिरनुगमाङ्गत्वादिहावतार्य प्रोच्यते तर्हि द्वारगाथायामप्येवं कस्मान्नोपन्यस्तः ?, उच्यते, सूत्रव्याख्यानस्य गुरुत्वख्यापनार्थं, यथा विशेषतः सूत्रव्याख्यायामाचार्यः शिष्यो वा गुणवान् अन्वेष्टव्यः, इत्यलं विस्तरेण । व्याख्यानविधिं प्रतिपादयति—

गोणी चंदणकंथा चेडीओ सावए वहिरगोहे । टंकणओ ववहारो पडिवक्खे आयरिय-सीसे ॥ १३३ ॥

आचार्यशिष्ययोर्योग्यायोग्यविचारे गौणी—गौस्तदुदाहरणं वक्तव्यम्, तथा चन्दनकन्था तथा चेट्यौ—जीर्णाभिनवश्रेष्ठिपुत्रिके, तथा श्रावकः तथा वधिरगोहः—बधिरपुरुषः तथा टंकणव्यवहारः षष्ठ उदाहरणम्, एतेषु षट्सूदाहरणेषु शिष्याचार्ययोः साक्षादयोग्यत्वमभिधाय ततः प्रतिपक्षे योग्यत्वं योजनीयं, योग्यत्वं वा साक्षादभिधाय ततः प्रतिपक्षेऽयोग्यत्वमायोज्यम्, अथवा एषां षण्णामुदाहरणानां मध्ये योग्यत्वायोग्यत्वयोः क्रमेणैकमुदाहरणमाचार्यस्य एकं शिष्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

स्येत्येवं योजना कार्या, तत्रायं गोदृष्टान्तः–एगम्मि नयरे एगेण कस्सइ धुत्तस्स सगासे गावी रोगिया उट्ठिउंपि असमत्था निविट्ठा चेव पकिणिया, सो तं पडिविक्किणइ, ततो कयगा भणंति–पेच्छामो से गइपयारं दुद्धं च जोएमि ता किणीहामि, सो भणइ–मए एवंविहा उवविट्ठा चेव गहिता, जइ पडिहाइ तुम्हेवि एवमेव गिण्हह, इयरे भणंति–जइ तुमं बोद्दहो ता किं अम्हेवि बोद्दहा, वयं न गेण्हामो, एवं जो आयरिओ पुच्छितो परिहारं दाउमसमत्थो भणइ–मएवि एवं सुयं, तुम्हेवि एवं सुणहत्ति, तस्स सगासे न सोयव्वं, संसइयपयंमि मिच्छत्तसंभवातो, जो पुण अविकलगोविक्किणगो इव अक्खेवनिण्णयपसंगपारगामी तस्स सगासे सोयव्वं, सीसोवि अविचारियगाही पढमगोविक्किणगोव सो य अजोग्गो, इयरो अ जोग्गोत्ति । चन्दनकन्थोदाहरणम्–बारवईए वासुदेवस्स तिन्नि भेरीओ, तंजहा–संगामिया अब्भुइया कोमुइया, तत्र प्रथमा सङ्ग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाद्यते, द्वितीया पुनरागन्तुके कस्मिंश्चित्प्रयोजने समुद्भूते लोकानां सामन्तादीनां च परिज्ञापनाय, तृतीया कौमुदीमहोत्सवाद्युत्सवज्ञापनार्थं, तातो तिण्णिवि गोसीसचंदणमइतो देवतापरिग्गहियातो, तस्स चउत्थी भेरी असिवप्पसमणी, तीसे उप्पत्ती कहिज्जइ–तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्को देविंदो, सो तत्थ देवलोगे सुरमज्झे वासुदेवस्स गुणकित्तणं करेइ–अहो उत्तमपुरिसा एए अवगुणं न गिण्हंति, नीएण य जुद्धेण न जुज्झंति, तत्थ एगो देवो असद्दहंतो आगतो, वासुदेवोऽवि जिणसगासं वंदगो पट्ठितो, सो अंतरा कालसुणयरूवं मयूयं विउव्वइ दुब्भिगंधं, तस्स गंधेण सबो लोगो पराभग्गो, वासुदेवेण दिट्ठो, भणियं चऽणेण—अहो इमस्स कालसुणयस्स पंडुरा दंता मरगयभायणनिहित्तमुत्तावलीव रेहिंति, देवो चिंतेइ–सच्चं गुणग्गाही, तत्तो वासुदेवस्स आसरयणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गहाय पहाविओ, सो य वंदुरापालएण नातो, तेण कूवियं–जहा आसो हीरइ, तओ कुमारा रायाणो अ निग्गया, ते देवेण हयविप्पहया काऊण धाडिया, वासुदेवो निम्मतो, भणइ–कीस मम आसरयणं हरसि ?, एसो मम आसो तुब्भ न होइ, देवो भणइ-इमं जुज्झे पराजिणिऊण गिण्हाहि, वासुदेवेण भणियं–बाढं, किह जुज्झामो ? तुमं भूमीए अहं च रहेणं तो रहं गेण्ह, देवो भणइ–अलं मे रहेण, एवं आसो हत्थी पडिसिद्धो, वायाजुद्धाइयाइं सवाइं पडिसेहेइ, तो खाई केण जुज्झेण जुज्झियव्वं ?, देवो भणइ– अहिट्ठाणजुद्धेण, वासुदेवेण भणितं–पराजितोऽहं, नेहि आसरयणं, नाहं नीय-जुद्धेण जुज्झामि, ततो देवो तुट्ठो रमाणो भणति–वरेहि वरं किं ते देमि ?, वासुदेवेण भणियं–असिवोवसमणिं भेरिं देहि, तेण दिन्ना, एसा तीसे भेरीए उप्पत्ती। ताहे सा छण्हं छण्हं मासाणंते वाइज्जइ, तत्थ जो सद्दं सुणेइ तस्स पुव्व-प्पन्ना रोगा उक्समंति, नवगावि छम्मासे न उप्पज्जंति, तत्थऽन्नया कयाइ आगंतुको वाणियगो आयातो, सो य अतीव दाहज्जरेणाभिभूतो, तं भेरीपालगं भणइ–गेण्ह तुमं सयसहस्सं मम एत्तो पलमेत्तं देहि, तेण लोभेण दिन्ना, तत्थऽन्ना चंदणथिग्गलिया दिन्ना, एवमन्नेणवि अन्नेणवि मग्गितो दिन्नं च, सा सवा चंदणकंथा जाता, सा अन्नया कयाइ असिवे वासुदेवेण तालाविवा, जाव तं चेव सभं पूरेइ, तेण भणियं–जोएह मा भेरी विणासिया होज्जा, ताहे जोइया दिट्ठा कंथी-कया, हा भेरी सवा विणासिया, तओ सो भेरीपालो ववरोवितो, अन्ना भेरी अट्ठमभत्तेण आराहइत्ता लद्धा, अन्नो भेरीपालो कतो, सो आयरेण रक्खइ, सो पूइतो। एवं यः शिष्यः सूत्रमर्थं वा परमतेन स्वकीयग्रन्थान्तरेण वा मिश्र-यित्वा कथयति अथवा विस्मृतं सूत्रमर्थं वा सुशिक्षितः स्वयमेवाहं नान्यं कञ्चित्कदाचित्किमपि पृच्छामीत्यहंकारेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमतादिभिरपि मिश्रयित्वा सम्पूर्णं विदधाति सोऽनुयोगश्रवणस्य न योग्यः, एवं ग्रन्थीकृतसूत्रार्थो गुरुरपि नानुयोगभाषणस्य योग्यः, उक्तं च–"जो सीसो सुत्तत्थं चंदणकंथं व परभयाईहिं। मीसेइ गलियमहवा सिक्खियमाणेण स न जोग्गो ॥१॥ कंथीकयसुत्तत्थो, गुरूवि जोग्गो न भासियव्वस। अविणासियसुत्तत्था, सीसायरिया विणिद्दिट्ठा ॥२॥" (वि. १४३८-९) अत्र 'सिक्खियमाणेण' इति सुशिक्षितोऽहं स्वयमेव नान्यं पृच्छामीति मानेन, गलितं–विस्मृतं सम्पूर्णं करोति इत्यर्थः, शेषं सुगमम्। सम्प्रति चेष्टादृष्टान्त उच्यते–वसंतपुरे नयरे जुण्णसेट्ठिधूया अभिनवसेट्ठिधूया य, तासिं परोप्परं पीई, तहवि से जुण्णसेट्ठिधूयाए अत्थि वेसो, जहा-अम्हे एएहिं उवट्टियाणि, ताओ अन्नया कयाइ मज्जिउं गयातो, तत्थ जा सा नवगस्स सेट्ठिस्स धूया सा तिलगचोद्दसगेण अलंकारेण अलंकिया, सा आभरणाणि तडे ठवित्ता ओइन्ना, जुन्नसेट्ठिधूया ताणि गहाय पहाविता, इयरा जाणइ-खेडुं करेइ इति, तीए जुण्णसेट्ठिधूयाए मायापिऊणं सिट्ठं, ताणि भणंति-तुण्हिक्का अच्छाहि, नवगसेट्ठिधूया ण्हाइत्ता नियगं घरं गया, पिउमाऊणं कहियं, तेहिं मग्गिते न दिंति, अम्हे उवट्टियाणित्ति परिभूताइं, किं आभरगाणिवि अम्हाणं नत्थि ?, रायकुले ववहारो जातो, नत्थि सक्खी, तत्थ कारणिगा भणंति–चेडितो वाहिज्जंतु, वाहित्ता भणिया–जइ तुब्भच्चयं ता आविद्ध, ताहे सा जुण्णसेट्ठिधूया जं हत्थे तं पाए आविंधेइ, जं पाए तं हत्थे, न याणेइ, तं च से असिलिट्ठं जायं, ताहे तेहिं नायं, जहा–एतीए न होंति, ताहे इयरी भणिया–तुमं आविंध, ताए कमेण आविद्धं, सिलिट्ठं च से जायं, भणिया य–मेलेहि, ताहे तहेव निच्चं आमुंचतीए परिवाडीए मुक्कं, ताहे सो जुण्णसेट्ठी दंडितो, जहा सो एगभवियं मरणं पत्तो एवमायरिओऽवि जं अन्नत्थ तमन्नहिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघडेइ, अन्नवत्तवयातो अन्नत्थ परूवेइ, एवं सो संसारदंडेण दंडिज्जइ, तारिसस्सगासे न सोयव्वं, जह सा नवगसेट्ठिधूया जसं पत्ता आविंधणमुहं च एवं जो आयरिओ न विसंवाएइ तेण अरहंताणं आणा कया भवइ, तस्स पासे सुत्तत्थाणि गहेयव्वाणि, एत्थ गाहातो—"अत्थाणत्थनिउत्ताऽऽभरणाणं जुण्णसेट्ठिधूयव्व। न गुरू विहिभणिए वा विवरीयनिजोजतो सीसो ॥ १ ॥ सत्थाणत्थनिउत्ता ईसरधूया सभूसणाणं वा। होइ गुरू सीसोविय विणिजोजंतो जहाभणियं ॥२॥" (वि.१४४०-१) श्रावकोदाहरणं पूर्ववत्, नवरमेवमुपसंहारः-"चिरपरिचियंपि न सरइ सुत्तत्थं सावगो सभज्जं व। जो न स जोगो सीसो गुरुत्तणं तस्स दूरेणं ॥१॥" (वि.१४४२) बधिरपुरुषोदाहरणमपि पूर्ववदेव, नवरमत्रैवमुपसंहारः-"अन्नं पुट्ठो अन्नं जो साहइ सो गुरू न बहिरोव्व। न य सीसो जो अन्नं सुणेइ अणुभासए अन्नं ॥ १ ॥" (वि. १४४३) सम्प्रति टंकणकव्यवहारोदाहरणं-उत्तरावहे टंकणानाम मेच्छा, ते सुवण्णदंताईहिं दक्खिणावहगाइं भंडाइं गेण्हंति, ते य अवरोप्परं भासं न याणंति, पच्छा पुंजे करंति, हत्थेणं उच्छाइंति, जाव इच्छा न पूरइ न ताव अवणेंति, एवं एएसिं इच्छियपडिच्छितो ववहारो, आयरिएणं ताव सिस्सस्स अत्थो भाणियवो जाव तस्स पडिपुन्नं गहणं, सीसेण य ताव पुच्छियव्वं जाव उवगयंति, एसा टंकणवणितोवमा। इत्थमुक्तेन प्रकारेण गवादिषु द्वारेषु साक्षादभिहितार्थविपर्ययः प्रतिपक्षः स आचार्यशिष्ययोर्यथायोगं योजनीयः, स च योजित एवेति। सम्प्रति विशेषतः शिष्यदोषगुणान् प्रतिपादयति—

कस्स न होही देसो अणब्भुवमओ य निरुवगारी य। अप्पच्छंदमईओ पत्थियओ गंतुकामो य ॥ १३४ ॥
विणओणएहिं पंजलियडेहिं छंदमणुयत्तमाणेहिं। आराहिओ गुरुजणो सुयं बहुविहं लहुं देइ ॥ १३४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

आह-शिष्यदोषगुणाभिधानं किमर्थम् ?, उच्यते, कालान्तरेण तस्यैव गुरुत्वभावनादर्थोभावाय च गुरुपदविधाने तीर्थ-कराज्ञादिलोपप्रसङ्गात्, तत्र प्रथमगाथाव्याख्या-कस्य गुरोर्न भवति द्वेष्टा(ष्यः)-अप्रीतिकरः शिष्यः ?, अपि तु भवत्येव, किं सर्व एव ?, नेत्याह-अनभ्युपगतः-श्रुतसम्पदा अनुपसम्पन्नः, अनिवेदितात्मा इति भावः, उपसंपन्नोऽपि न सर्व एवाद्वेष्यो भवति, तत आह-'निरुपकारी च' निरुपकर्तुं शीलमस्येति निरुपकारी-गुरूणां निरुपकारकः, गुरुकृत्येष्व-प्रवर्त्तक इति भावः, उपकार्यपि न स सर्व एवाद्वेष्य इत्यत आह-आत्मच्छन्दा-आत्मायत्ता मतिर्यस्य कार्येष्वसावात्म-च्छन्दमतिकः-स्वाभिप्रायकार्यकारी, गुर्वायत्तमतिरपि न सर्व एवाद्वेष्यः, तत आह-'प्रस्थितो' यो योऽन्यः कोऽपि शिष्यो गन्तुमनास्तस्य द्वितीयः, तथा गन्तुकामश्च, गन्तुकामो नाम सोऽभिधीयते यः सदैव गन्तुमना व्यवतिष्ठते, वक्ति च-कोऽस्य गुरोः सन्निधानेऽवतिष्ठते ?, समर्थतामेतत् श्रुतस्कन्धादि ततो यास्यामीति, तदेवंभूतः शिष्यो न योग्यः श्रवणस्य । इदानीं गुणाः प्रतिपाद्यन्ते-विनयः-अभिवन्दनादिलक्षणस्तेनावनता विनयावनतास्तैरित्थंभूतैः सद्भिः, तथा पृच्छादिषु कृताः प्राञ्जलयो यैस्ते कृतप्राञ्जलयस्तैः, तथा-छन्दो-गुर्वभिप्रायः तं इङ्गिताकारादिना विज्ञाय तदध्यवसित-श्रद्धानसमर्थनकरणकारणादिना अनुवर्त्तमानैः, उक्तं च-सद्दहइ समत्थेइ य कुणइ करावेइ गुरुजणाभिमयं । छंदमणुव-त्तमाणो स गुरुजणाराहणं कुणइ ॥ १ ॥" (वि. १४५३) तैरेवं आराधितो गुरुजनः श्रुतं-सूत्रार्थोभयरूपं बहुविधम्-अनेकप्रकारं लघु-शीघ्रं ददाति-प्रयच्छति ॥ सम्प्रति प्रकारान्तरेण शिष्यपरीक्षां प्रतिपादयति-

~~सेलघण-कुडग-चालणि-परिपूणग-हंस-महिस-मेसे य । मसग-जलूग-बिराली जाहग-गो-मेरी-आहेरी ॥ १३६ ॥~~

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सेल'त्ति मुद्गशैलः-मुद्गप्रमाणः पाषाणविशेषः घनो-मेघः, शैलश्च घनश्च शैलघनः तदुदाहरणं प्रथमं, कुटो-घटः, चालनी प्रतीता, परिपूणकः-सुघरीचिटिकागृहं, हंसमहिषमेषमशकजलौकाबिडाल्यः प्रतीताः, जाहकः-सेडुलकः, गौः भेरी आभेरी च प्रतीता। उदाहरणं च द्विधा भवति-चरितं कल्पितं च, उक्तं च-"चरियं च कप्पियं वा आहरणं दुविहमेव पन्नत्तं। अत्थस्स साहणट्ठा इंधणमिव ओयणट्ठाए॥ १॥" (पिण्डनि. ६३०) तत्थ इमं कप्पियं, तंजहा-मुग्मसेलो पुक्खलसंवट्टतो य महामेहो जंबुदीवपमाणो, तत्थ य नारयत्थाणीओ कलहं संजोएइ, मुग्मसेलं भणति-तुब्भ नामग्गहणे कए पुक्खलसंवट्टतो भणइ-जहा णं एगाए धाराए विराएमि-भिनद्मीति भावार्थः, सेलो उप्पासितो भणइ-जइ मे तिलतुसतिभागंपि उल्लेइ तो नामं न वहामि, पच्छा मेहस्स मूले भणइ मुग्गसेलवयणाइं सउक्करिसाइं, ततो सो कुवितो सवायरेण जुगप्पमाणाहिं धाराहिं वरिसितुमारद्धो, सत्तरत्ते वुट्ठे चिंतेइ-इयाणिं गतो सो वरागोत्ति ठितो, इयरो मिसिमिसंतो उज्जलतरो जातो दिप्पिउमारद्धो, भणइ-जोहारोत्ति, मेहो लज्जितो गतो, एवं च कोई सीसो मुग्गसेलसमाणो एगंपि पयं नावगाहइ, ततो अन्नो आयरिओ गज्जंतो आगतो, अहण्णं गाहेमि, पढति च गर्वाध्मातमानसः-"आचार्यस्यैव तज्ज्ञानं, यच्छिष्यो नावबुध्यते। गावो गोपालकेनेव, कुतीर्थेनावतारिताः॥ १॥" ततो पढावेउमारद्धो, न सक्तितो, लज्जितो, परिसस्स न दावयं, कस्मादिति चेत्, उच्यते, इह यस्मान्न वन्ध्या गौः शिरःशृङ्गवदनपृष्ठपुच्छोदरादौ सस्नेहं स्पृष्टा सती दुग्धप्रदायिनी भवति, तथा स्वाभाव्याद्, एवमेषोऽपि सम्यक् पाठ्यमानोऽपि पदमप्येकं नावगाहते, ततो न तस्य तावदुपकारः, भावतः, तस्योपकाराभावः प्रत्युताचार्ये सूत्रे चापकीर्तिरुपजायते, यथा न सम्यक्कौशल्यमाचार्यस्य व्याख्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥१४२॥

यामू, इदं वाऽध्ययनं न समीचीनम्, कथमयमन्यथा नावबुध्यते इति, अपि च–तथाविधकुशिष्यपाठने तस्यावबोधाभावात् उत्तरोत्तरसूत्रार्थानवगाहने सूरेः सकलावपि शास्त्रान्तर्गतौ सूत्रार्थौ भ्रंशमाविशतः, अन्येषामपि च पटुश्रोतृणामुत्तरोत्तर-सूत्रार्थावगाहनहानिप्रसङ्गः, उक्तं च–"आयरिए सुत्तंमि य परिवाओ सुत्तअत्थपलिमंथो। अन्नंसिंपि य हाणी पुट्ठावि न दुद्धया वंझा ॥१॥" (वि.१४५७) मुद्गशैलप्रतिपक्षाद् ततो योग्यशिष्यविषयो दृष्टान्तः कृष्णभूमिप्रदेशः, तत्र हि प्रभूतमपि निपतितं जलं तत्रैवान्तः परिणमति, न पुनः किञ्चिदपि ततो बहिरपगच्छति, एवं यो विनेयः सकलसूत्रार्थग्रहणधारणे समर्थः स कृष्णभूमिप्रदेशतुल्यः, स च योग्यः, ततस्तस्मै दातव्यमिदमध्ययनमिति, उक्तं च–"वुट्ठेऽवि दोणमेहे न कण्हभोमाओ लोट्टए उदयं। गहणधरणासमत्थे, इय देयमछित्तिकारंमि ॥ १ ॥" (वि.१४५८) सम्प्रति कुटदृष्टान्तभावना—कुटा-घटाः, ते द्विविधास्तद्यथा–नवीना जीर्णाश्च, नवीना ये सम्प्रत्येवापाकतः समानीताः, जीर्णा द्विविधा–भाविता अभाविताश्च, भाविता द्विविधाः—प्रशस्तद्रव्यभाविता अप्रशस्तद्रव्यभाविताश्च, तत्र ये कर्पूरागुरुचन्दनादिभिः प्रशस्तद्रव्यैर्भावितास्ते प्रशस्तद्रव्यभाविताः, ये पुनः पलाण्डुलशुनसुरातैलादिभिर्भावितास्तेऽप्रशस्तद्रव्यभाविताः, प्रशस्ताप्रशस्तद्रव्यभाविता अपि द्विधा–वाम्या अवाम्याश्च, अभाविता नाम ये केनापि द्रव्येण न वासिताः, एवं शिष्या अपि प्रथमतो द्विधा–नवीना जीर्णाश्च, तत्र ये बालभावे वर्त्तमाना अज्ञानिनः सम्प्रत्येवावबोधयितुमारब्धास्ते नवीनाः, जीर्णा द्विविधा—भाविता अभाविताश्च, तत्राभाविता ये केनापि दर्शनेन न वासिताः, भाविता द्विविधाः–कुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभिः संविग्नैश्च, कुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभिरपि भाविता द्विविधाः—वाम्या अवाम्याश्च, संविग्नैरपि भाविता द्विधा–वाम्या अवा-

शिष्यद-रीक्षायां शैलादि-दृष्टान्ताः ॥१४२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

म्याश्च, तत्र ये नवीना ये जीर्णा अभाविता ये च कुप्रावचनिकादिभाविता अपि सन्तो ये च संविग्नभाविता अवाम्यास्ते सर्वेऽपि योग्याः, शेषा अयोग्याः। अथवाऽन्यथा कुटदृष्टान्तभावना—इह चत्वारः कुटास्तद्यथा—छिद्रकुटः खण्डकुटः कण्ठहीनकुटः सम्पूर्णकुटश्च, तत्र यस्य अधो बुध्ने छिद्रं स छिद्रकुटः, यस्य पुनरोष्ठपरिमण्डलाभावः स कण्ठहीनकुटः, यस्य पुनरेकपार्श्वे खण्डेन हीनता स खण्डकुटः, यः पुनः सर्वावयवसंपूर्णः स संपूर्णकुटः, एवं शिष्या अपि चत्वारो वेदितव्याः, तत्र यो व्याख्यानमण्डल्यामुपविष्टः सर्वमर्थमवबुध्यते व्याख्यानादुत्थितश्च न किमपि स्मरति स छिद्रकुटसमानो, यथा हि छिद्रकुटो यावत्तदवस्थ एव गाढमवनितलसंलग्नोऽवतिष्ठते तावन्न किमपि जलं ततः श्रवति, स्तोकं वा किञ्चिदिति, एवमेषोऽपि यावदाचार्यः पूर्वापरानुसन्धानेन सूत्रार्थमुपदिशति तावदवबुध्यते, उत्थितश्चेद्व्याख्यानमण्डल्याः तर्हि स्वयं पूर्वापरानुसन्धानविकलत्वान्न किमपि अनुस्मरति, यस्तु व्याख्यानमण्डल्यामप्युपविष्टोऽर्द्धमात्रं त्रिभागं चतुष्कं वा हीनं वा सूत्रार्थमवधारयति तथाऽवधारितं च स्मरति स खण्डकुटसमानः, यस्तु किञ्चिदूनं सूत्रार्थमवधारयति पश्चादपि च तथैव स्मृतिपथमवतारयति स कण्ठहीनकुटसमानः, यस्तु आचार्योक्तं सकलमपि सूत्रार्थं यथावदवधारयति पश्चादपि च तथैव संपूर्णं स्मरति स सम्पूर्णकुटसमानः,अत्र छिद्रकुटसमान एकान्तेनायोग्यः,शेषा यथोत्तरं प्रधानाः प्रधानतराः प्रधानतमाः। सम्प्रति चालनीदृष्टान्तभावना, चालनी लोकप्रसिद्धा यया कणिक्कादि चाल्यते, तत्र यथा चालन्यामुदकं प्रक्षिप्यमाणं तत्क्षणादेव गच्छति, न पुनः कियन्तमपि कालमवतिष्ठते, तथा यस्य सूत्रार्थः प्रदीयमानो यदैव कर्णे प्रविशति तदैव विस्मृतिपथमुपैति स चालणीसमानः, तथा च मुद्गशैलच्छिद्रकुटचालणीसमानशिष्यभेदप्रदर्शनार्थमुक्तं भाष्यकृता—"सेलेयछिद्दुचालिणि महोकहा सोउ उट्ठियाणं तु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

छिड्डाह तत्थ चिट्ठो सुमरिंसु सरामि नेयाणिं ॥ १ ॥ धमेण विसइ वीएण, नीइ कुम्भेण चालिणी आह । धन्नोऽत्थ आह सेलो जं पविसइ नीइ वा तुब्भं ॥ २ ॥" (वि.१४६३-४) तत एषोऽपि चालनीसमानो न योग्यः । चालनीप्रतिपक्षभूतं च वंशदलनिर्मापितं तापसभाजनं, ततो हि बिन्दुमात्रमपि जलं न स्रवति, उक्तं च—"तावसखउरकढिणयं चालणिपडिवक्खु न सवइ दवंपि (वि.१४६५)" ततस्तत्समानो योग्यः । सम्प्रति परिपूणकदृष्टान्तो भाव्यते, परिपूणको नाम घृतक्षीरगालनं सुगृहाभिधचटकाकुलायो वा, तेन ह्याभीर्यो घृतं गालयन्ति, ततो यथा स परिपूणकः कचवरं धारयति घृतमुज्झति तथा शिष्योऽपि यो व्याख्यावाचनादौ दोषानभिगृह्णाति गुणांस्तु मुञ्चति स परिपूणकसमानः, स चायोग्यः, आह च चूर्णिकृत्—"वक्खाणाइसु दोसं हियय्यंमि ठवेइ मुयइ गुणजालं । सो सीसो अ अजोग्गो भणितो परिपूणगसमाणो ॥१॥"(नन्दीटीप्प.) आह—सर्वज्ञमतेऽपि दोषाः सम्भवन्तीत्यश्रद्धेयमेतत्, सत्यम्, उक्तमत्र भाष्यकृता—"सव्वनुप्पामन्ना दोसा हु न संति जिणमए केऽवि । जं अणुकउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवंति ॥ १ ॥(वि.१४६६)" सम्प्रति हंसदृष्टान्तभावना—यथा हंसः क्षीरमुदकमिश्रितमपि उदकमपहाय क्षीरमापिबति तथा शिष्योऽपि यो गुरोरनुपयोगादिसम्भवान् दोषान् अवधूय गुणानेव केवलमादत्ते स हंससमानः, स चैकान्तेन योग्यः, ननु हंसः क्षीरमुदकमिश्रितमपि कथं विभक्तीकरोति ?, येन क्षीरमेव केवलमापिबति, न तूदकमिति, उच्यते, जिह्वाया अम्लत्वेन कूर्चिकीभूय पृथग्भवनात्, उक्तं च—"अंबत्तणेण जीहाएँ, कूचिया होइ खीरमुदगंमि । हंसो मुत्तूण जलं आवियइ पयं तह सुसीसो ॥१॥ (वि.१४६७) मोत्तूण दढं दोसे गुरुणोऽणुवउत्तभासि वाईए । गेण्हइ गुणे व जो सो जोग्गो सममत्थसारस्स ॥ २ ॥ (नन्दीटी.)" इदानीं महिषदृष्टान्तभावना—यथा महिषो निपानस्थान-

शिष्यपरीक्षायां शैलादिदृष्टान्ताः

॥ १४३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मदान्धः सन् उदकमध्ये तदुदकं मुहुर्मुहुः शृङ्गाभ्यां ताडयन्नवगाहमानश्च सकलमपि कलुषीकरोति, ततो न स्वयं पातुं शक्नोति, नापि यूथं, तद्वच्छिष्योऽपि यो व्याख्यानप्रबन्धावसरेऽकाण्ड एव क्षुद्रपृच्छाभिः कलहविकथादिभिर्वा आत्मनः परेषां चानुयोगश्रवणविघातमाधत्ते स महिषसमानः, स चैकान्तेनायोग्यः, उक्तं च-"सयमवि न पियइ महिसो न य जूहं पिवइ लोलियं उदयं । विग्गहविकहाहिं तहा अथक्कपुच्छाहि य कुसीसो ॥ १ ॥"(वि.१४६८) मेषोदाहरणभावना—यथा मेषो वदनस्य तनुत्वात् स्वयं च निभृतात्मा गोष्पदमात्रस्थितमपि जलमकलुषीकुर्वन् पिबति तथा यः शिष्योऽपि पदमात्रमपि विनयपुरःसरमाचार्यचित्तं प्रसादयन् पृच्छति स मेषसमानः, स चैकान्तेन योग्यः । मसकदृष्टान्तभावना—यः शिष्यो मसक इव जात्यादिकमुद्घट्टयन् गुरोर्मनसि व्यथामुत्पादयति स मसकसमानः, स चायोग्यः । जलौकादृष्टान्तभावना—यथा जलौकाः शरीरमदुन्वती रुधिरमाकर्षति तथा शिष्योऽपि योऽदुन्वन् श्रुतज्ञानमापिबति स जलूकासमानः, उक्तं च—"जलुगा व तम(ज)दूमिंतो, पियइ सुसीसोऽवि सुयनाणं।"(वि.१४७०) बिडालीदृष्टान्तभावना—यथा बिडाली भाजनसंस्थं क्षीरं भूमौ विनिपात्य पिबति, तथा दुष्टस्वभावत्वात्, शिष्योऽपि यो विनयकरणादिभीततया न साक्षाद् गुरुसमीपे गत्वा शृणोति, किन्तु व्याख्यानादुत्थितेभ्यः केभ्यश्चित् स बिडालीसमानः, स चायोग्यः । तथा जाहकः—तिर्यग्विशेषस्तदुदाहरणभावना—यथा जाहकः स्तोकं स्तोकं क्षीरं पीत्वा पार्श्वाणि लेढि, तथा शिष्योऽपि पूर्वगृहीतं सूत्रमर्थं वा अतिपरिचितं कृत्वा अन्यत्पृच्छति स जाहकसमानः, स च योग्यः । सम्प्रति गोदृष्टान्तभावना—यथा केनापि कौटुम्बिकेन कस्मिंश्चित्पर्वणि चतुर्भ्यश्चतुर्वेदपरगामिभ्यो विप्रेभ्यो गौर्दत्ता, ततस्ते परस्परं चिन्तयाम्बभूवुः—यथा इयमेका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः ॥ १४४ ॥

गौश्चतुर्णामस्माकं, ततः कथं कर्त्तव्या ?, तत्रैकेनोक्तं–परिपाट्या दुह्यतामिति, तच्च समीचीनं प्रतिभातमिति सर्वैः प्रतिपन्नं, ततो यस्य प्रथमदिवसे गौरागता तेन चिन्तितं–यथाऽहमद्यैव धोक्ष्यामि, कल्ये पुनरन्यो धोक्ष्यति, ततः किं निरर्थिकामस्याश्चारिं वहामि ?, ततो न किञ्चिदपि तस्यै तेन दत्तं, एवं शेषैरपि, ततः सा श्वपाककुलनिपतितेव तृणसलिलादिविरहिता गतासुरभूत्, ततः समुत्थितस्तेषां धिग्जातीयानामवर्णवादो लोके, शेषगोदानादिलाभव्यवच्छेदश्च, एवं शिष्या अपि ये चिन्तयन्ति–न खलु केवलानामस्माकमाचार्यो व्याख्यानयति, किन्तु प्रतीच्छकानामपि, ततस्त एव विनयादिकं करिष्यन्ति, किमस्माकमिति, प्रतीच्छका अप्येवं चिन्तयन्ति–निजशिष्याः सर्वं करिष्यन्ति, किमस्माकं कियत्कालावस्थायिनामिति ?, ततस्तेषामेवं चिन्तयतामपान्तराल एवाचार्यो विषीदति, लोके च तेषामवर्णवादो जायते, अन्यत्रापि च गच्छान्तरे दुर्लभौ तेषां सूत्रार्थौ, ततस्ते गोप्रतिगाहकचतुर्द्विजातय इवायोग्या द्रष्टव्याः, उक्तं च–"अन्नो दुज्झिहि कलं निरत्थयं से वहामि किं चारिं ?। चउचरणगवी उ मया अवन्नहाणी उ बहुयाणं ॥ १ ॥(वि.१४७३) सीसा पडिच्छगाणं भरोत्ति तेऽविय हु सीसगभरोत्ति। न करेंति सुत्तहाणी अन्नत्थवि दुल्लहं तेसिं ॥२॥"(वि.१४७५) एष एव गोदृष्टान्तः प्रतिपक्षेऽपि योजनीयः, यथा कश्चित्कौटुम्बिको धर्म्मश्रद्धया चतुर्भ्यः चतुर्वेदपारगामिभ्यो गां दत्तवान्, तेऽपि च पूर्ववत्परिपाट्या दोग्धुमारब्धाः, तत्र यस्य प्रथमदिवसे सा गौरागता स चिन्तितवान्–यद्यहमस्याश्चारिं न दास्यामि ततः क्षुधा धातुक्षयादेषा प्राणानपहास्यति, ततो मे लोकेषु गोहत्यावर्णवादो भविष्यति, पुनरपि चास्मभ्यं न कोऽपि गवादिकं दास्यति, अपिच–यदि मदीयचारिचरणेन पुष्टा सती शेषैरपि ब्राह्मणैर्धोक्ष्यते ततो मे महान् अनुग्रहो भविष्यति, अहमपिच परिपाट्या पुनरप्येनां

शिष्यप्रेक्षायां शैलादिदृष्टान्ताः

॥ १४४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

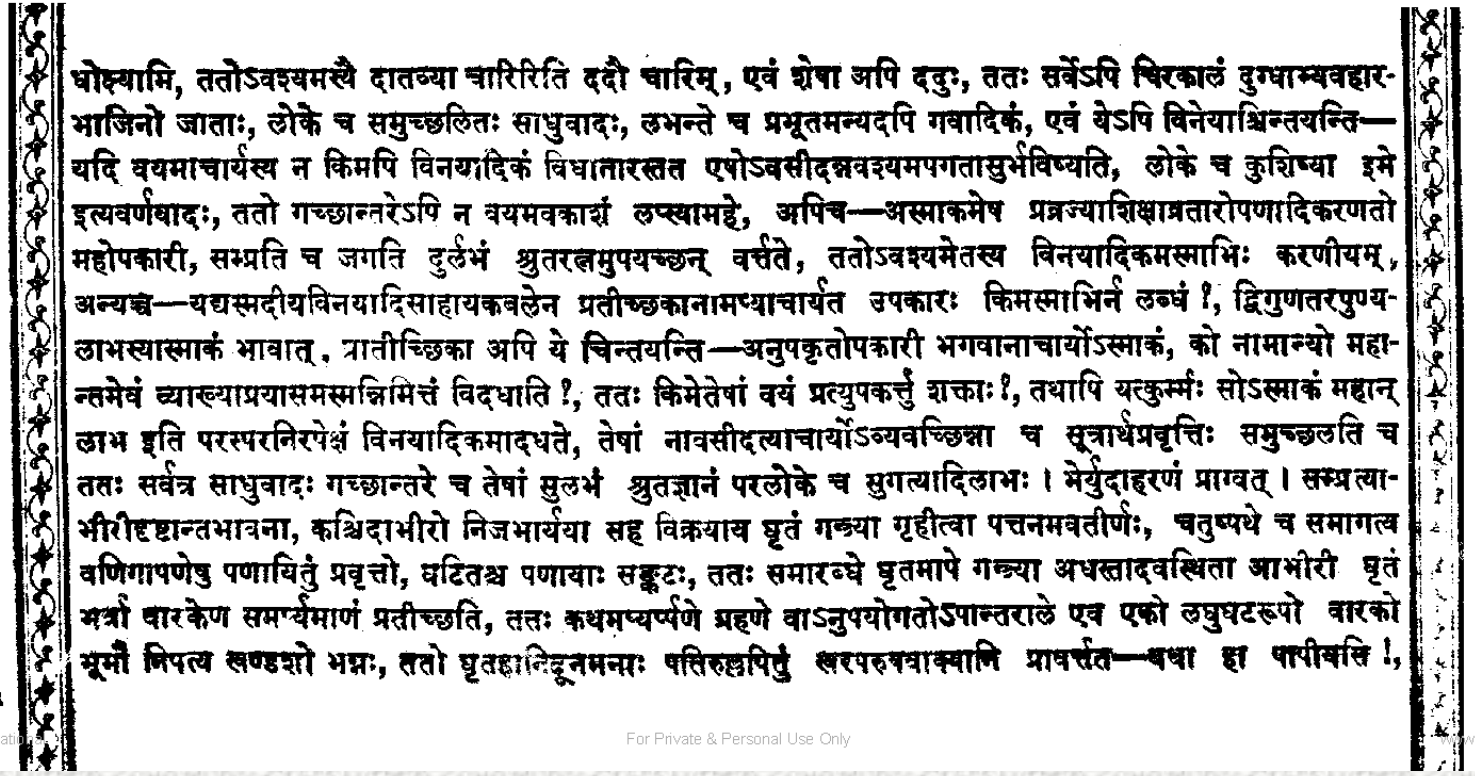

धोक्ष्यामि, ततोऽवश्यमस्यै दातव्या चारिरिति ददौ चारिम्, एवं शेषा अपि ददुः, ततः सर्वेऽपि चिरकालं दुग्धाम्बवहार-भाजिनो जाताः, लोके च समुच्छलितः साधुवादः, लभन्ते च प्रभूतमन्यदपि गवादिकं, एवं येऽपि विनेयाश्चिन्तयन्ति—यदि वयमाचार्यस्य न किमपि विनयादिकं विधातारस्तत एषोऽवसीदन्नवश्यमपगतासुर्भविष्यति, लोके च कुशिष्या इमे इत्यवर्णवादः, ततो गच्छान्तरेऽपि न वयमवकाशं लप्स्यामहे, अपिच—अस्माकमेष प्रव्रज्याशिक्षाव्रतारोपणादिकरणतो महोपकारी, सम्प्रति च जगति दुर्लभं श्रुतरत्नमुपयच्छन् वर्त्तते, ततोऽवश्यमेतस्य विनयादिकमस्माभिः करणीयम्, अन्यच्च—यद्यस्मदीयविनयादिसाहायकबलेन प्रतीच्छकानामप्याचार्यत उपकारः किमस्माभिर्न लब्धं ?, द्विगुणतरपुण्य-लाभस्यास्माकं भावात्, प्रातीच्छिका अपि ये चिन्तयन्ति—अनुपकृतोपकारी भगवानाचार्योऽस्माकं, को नामान्यो महा-न्तमेवं व्याख्याप्रयासमस्मन्निमित्तं विदधाति ?, ततः किमेतेषां वयं प्रत्युपकर्त्तुं शक्ताः ?, तथापि यत्कुर्म्मः सोऽस्माकं महान् लाभ इति परस्परनिरपेक्षं विनयादिकमादधते, तेषां नावसीदत्याचार्योऽव्यवच्छिन्ना च सूत्रार्थप्रवृत्तिः समुच्छलति च ततः सर्वत्र साधुवादः गच्छान्तरे च तेषां सुलभं श्रुतज्ञानं परलोके च सुगत्यादिलाभः । भेर्युदाहरणं प्राग्वत् । सम्प्रत्या-भीरीदृष्टान्तभावना, कश्चिदाभीरो निजभार्यया सह विक्रयाय घृतं गव्या गृहीत्वा पत्तनमवतीर्णः, चतुष्पथे च समागत्य वणिगापणेषु पणायितुं प्रवृत्तो, घटितश्च पणायाः सङ्कटः, ततः समारब्धे घृतमापे गव्या अधस्तादवस्थिता आभीरी घृतं भर्त्रा वारकेण समर्प्यमाणं प्रतीच्छति, ततः कथमप्यर्पणे ग्रहणे वाऽनुपयोगतोऽपान्तराले एव एको लघुघटरूपो वारको भूमौ निपत्य खण्डशो भग्नः, ततो घृतहानिदूनमनाः पतिरुल्लपितुं खरपरुषवाक्यानि प्रावर्त्तत—वधा हा पापीयसि !,

आम्. २५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घात-निर्युक्तिः

॥१४५॥

दुःशीले ! कामविडम्बितमानसा तरुणिमाभिरमणीयं पुरुषान्तरमवलोकसे, न सम्यग्वारकमभिगृह्णासि, ततः सा खरपरुष-वाक्यश्रवणतः समुद्भूतकोपावेशवशोच्छलितकम्पकम्पितपीनपयोधरा स्फुरदधरबिम्बोष्ठी दूरोत्पाटितभ्रूरेखाधनुरवष्टम्भतो नाराचश्रेणिमिव कृष्णकटाक्षसन्ततिमविरतं प्रतिक्षिपन्ती प्रत्युवाच—हा ग्रामेयकाधम ! घृतघटमप्यवगणय्य विदग्ध-मत्तकामिनीनां मुखारविन्दान्यवलोकसे, न चैतावता अवतिष्ठसे, ततः खरपरुषवाक्यैर्मामप्यधिक्षिपसि, ततः स एवं प्रत्यु-क्तोऽतीव ज्वलितकोपानलो यत्किमप्यसम्बद्धं भाषितुं लग्नः, साऽप्येवं, ततः समभूत्तयोः केशाकेशि, ततो विसंस्थुलपादा-दिन्यासतः सकलमपि प्रायो गन्त्रीघृतं भूमौ निपतितं, तच्च किञ्चिच्छोपमुपगतं अवशेषं चावलीढं श्वभिः, गन्त्रीघृतमपि शेषीभूतमपहृतं पश्यतोहरैः, सार्थिका अपि स्वं स्वं घृतं विक्रीय स्वग्रामगमनं प्रपन्नाः, ततः प्रभूतदिवसभागातिक्रमेणाप-सृते युद्धे स्वास्थ्ये च लब्धे यत्किञ्चित् प्रथमतो विक्रीणयामास घृतं तद्द्रव्यमादाय तयोः स्वग्रामं गच्छतोः अपान्तरालेऽ-स्तं गते सहस्रभानौ सर्वतः प्रसरमभिगृह्णति तमोवितानेपरास्कन्दिनः समागत्य वासांसि द्रव्यं बलीवर्दौ चापहृतवन्तः, तत एवं तौ महतो दुःखस्य भाजनमजायेतां, एष दृष्टान्तोः, अयमर्थोपनयः—यो विनेयोऽन्यथा प्ररूपयन्नधीयानो वा खर-परुषवाक्यैराचार्येण शिक्षितोऽधिक्षेपपुरःसरं प्रतिवदति—यथा त्वयैवेत्थमहं शिक्षितः, किमिदानीं निन्हुषे? इत्यादि, स न केवलमात्मानं संसारे पातयति, किन्त्वाचार्यमपि खरपरुषप्रत्युच्चारणादिना तीव्रतीव्रतरकोपानलज्वालनात्, भवन्ति च कुविनेया मृदोरपि गुरोः खरपुरुषप्रत्युच्चारणादिना कोपप्रकोपकाः, उक्तं चोत्तराध्ययनेषु—'अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चंडं पकरिंति सीसा' इति, अपिच—गुरवो गुणगुरवः, ततस्ते यदि कथमपि दुष्टशैक्षशिक्षापनेन कोपमुपागमंस्त-

अनुयोगे दृष्टान्ताः

॥१४५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०] मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

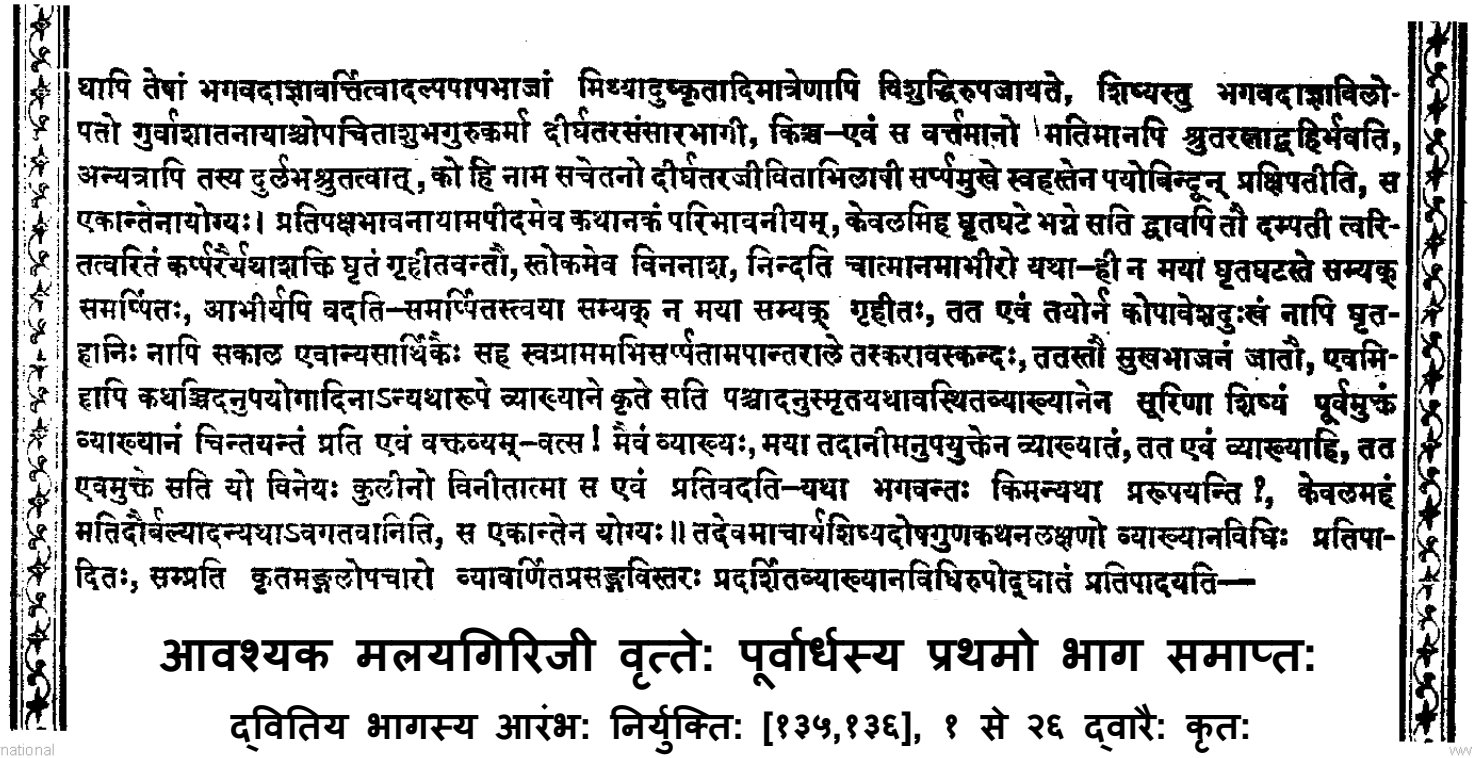

थापि तेषां भगवदाज्ञावर्त्तित्वादल्पपापभाजां मिथ्यादुष्कृतादिमात्रेणापि विशुद्धिरुपजायते, शिष्यस्तु भगवदाज्ञाविलोपतो गुर्वाशातनायाश्चोपचिताशुभगुरुकर्मा दीर्घतरसंसारभागी, किञ्च–एवं स वर्त्तमानो मतिमानपि श्रुतरत्नाद्बहिर्भवति, अन्यत्रापि तस्य दुर्लभश्रुतत्वात्, को हि नाम सचेतनो दीर्घतरजीविताभिलाषी सर्प्पमुखे स्वहस्तेन पयोबिन्दून् प्रक्षिपतीति, स एकान्तेनायोग्यः। प्रतिपक्षभावनायामपीदमेव कथानकं परिभावनीयम्, केवलमिह घृतघटे भग्ने सति द्वावपि तौ दम्पती त्वरितत्वरितं कर्प्परैर्यथाशक्ति घृतं गृहीतवन्तौ, स्तोकमेव विननाश, निन्दति चात्मानमाभीरो यथा–ही न मया घृतघटस्ते सम्यक् समर्प्पितः, आभीर्यपि वदति–समर्प्पितस्त्वया सम्यक् न मया सम्यक् गृहीतः, तत एवं तयोर्न कोपावेशदुःखं नापि घृतहानिः नापि सकाल एवान्यसार्थिकैः सह स्वग्राममभिसर्प्पतामपान्तराले तस्करावस्कन्दः, ततस्तौ सुखभाजनं जातौ, एवमिहापि कथञ्चिदनुपयोगादिनाऽन्यथारूपे व्याख्याने कृते सति पश्चादनुस्मृतयथावस्थितव्याख्यानेन सूरिणा शिष्यं पूर्वमुक्तं व्याख्यानं चिन्तयन्तं प्रति एवं वक्तव्यम्–वत्स! मैवं व्याख्यः, मया तदानीमनुपयुक्तेन व्याख्यातं, तत एवं व्याख्याहि, तत एवमुक्ते सति यो विनेयः कुलीनो विनीतात्मा स एवं प्रतिवदति–यथा भगवन्तः किमन्यथा प्ररूपयन्ति?, केवलमहं मतिदौर्बल्यादन्यथाऽवगतवानिति, स एकान्तेन योग्यः॥ तदेवमाचार्यशिष्यदोषगुणकथनलक्षणो व्याख्यानविधिः प्रतिपादितः, सम्प्रति कृतमङ्गलोपचारो व्यावर्णितप्रसङ्गविस्तरः प्रदर्शितव्याख्यानविधिरुपोद्घातं प्रतिपादयति—

आवश्यक मलयगिरिजी वृत्ते: पूर्वार्धस्य प्रथमो भाग समाप्त:

द्वितिय भागस्य आरंभ: निर्युक्ति: [१३५,१३६], १ से २६ द्वारै: कृत:

Jain Education International www.jainelibrary.org

आवश्यक- मूलसूत्र- [४०/१] निर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिजी रचिता टीका परिसमाप्ता:

मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com.,M.Ed.,Ph.D.,श्रुतमहर्षि]

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

भाग-3

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

"आवश्यक-मूलसूत्र" [निर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिजी-रचिता वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

"आवश्यक" निर्युक्ति: एवं वृत्ति:" नामेण परिसमाप्त:

'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि-2' श्रेणि, भाग-3

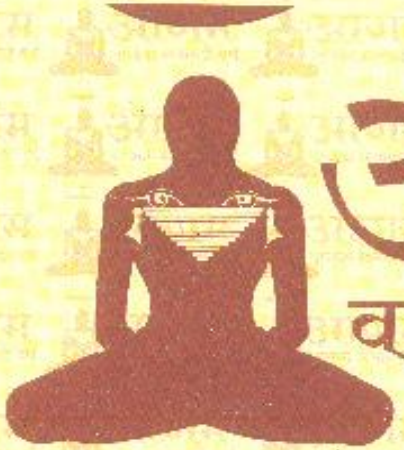

आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2

मूल संशोधक

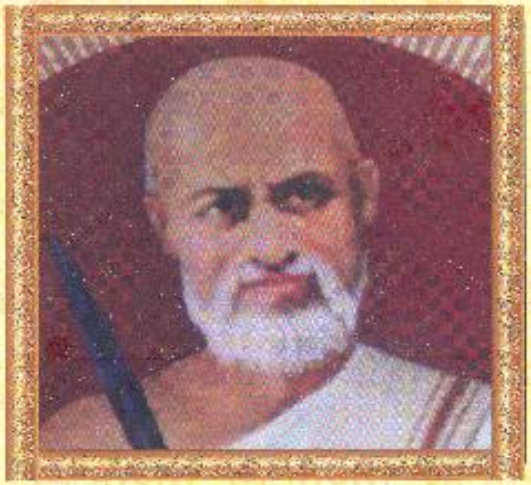

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

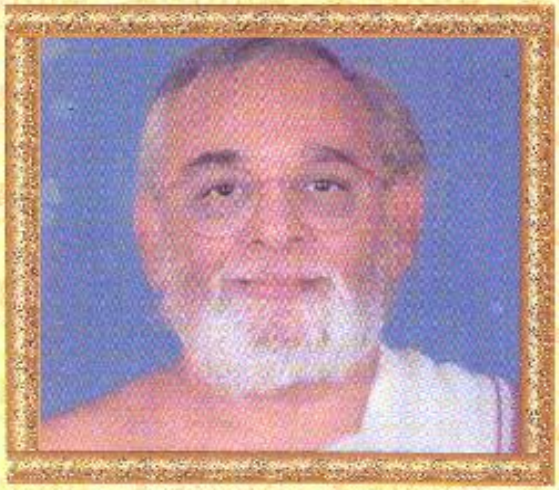

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद
गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर
सूरीश्वरजी महाराज साहेब

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब पचास साल पहेले परम पूज्य स्व र्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू -भगवंत एवं साध्वी -महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

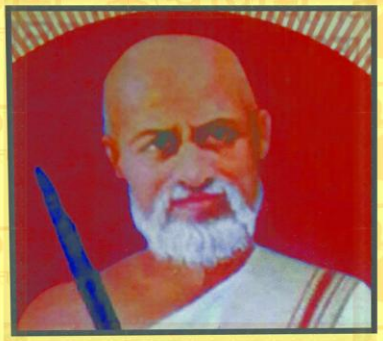

मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम - ४०

"आवश्यक" निर्युक्तिः एवं वृत्तिः [१]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]